उदात्त रस-सिद्धान्त
और
नयी कविता

डॉ कृष्णदेव झारी

सूर्य-प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली-६

प्रकाशक सूर्य-प्रकाशन
नई सडक, दिल्ली-६

दूरभाष २६६४१२

मुद्रक प्रिय प्रिंटिंग एजेन्सी द्वारा
सम्राट् प्रेस, दिल्ली

आगरा फाइन आर्ट प्रेस
राजा की मडी, आगरा

मूल्य बीस रुपए मात्र

जून १९७२

विषय-सूची



: १ :

पाश्चात्य काव्य-सिद्धांत और उदात्त रस-सिद्धांत

प्राचीन काल से भारतीय और पाश्चात्य विद्वान् काव्य के स्वरूप, उसकी शक्ति या आत्मा तथा कसौटी का अन्वेषण और विवेचन करते आ रहे है। भारतीय मनीषा ने दीर्घकालीन चिंतन-मनन के पश्चात् रस-सिद्धात के रूप मे एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण काव्य-सिद्धात प्रदान किया। जहाँ भारतीय काव्य-चितन की एक अटूट परम्परा लक्षित होती है, वहा पाश्चात्य काव्य-चिंतन मे बिखराव अधिक है, पूर्वापर चिंतन के क्रमिक विकास द्वारा किसी एक सुनिश्चित सर्वग्राह्य सिद्धात-निर्माण का प्रयास कम है। फिर भी चिंतन की अनेक धाराए कुछ मोडो पर मिलती और आदान-प्रदान करती ही रही है। अनेक स्थितियो मे न केवल पाश्चात्य काव्य-सिद्धातो मे तालमेल की दिशाए दिखाई देती है, अपितु कुछ बातो मे भारतीय और पाश्चात्य काव्य-सिद्धातो मे भी अनायास समानता के सकेत मिलते है।

भारतीय काव्य-चिंतन का मुख्य आधार भाव-रस रहा है। भरत मुनि से लेकर आधुनिक युग के आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० नगेन्द्र, आचार्य नददुलारे वाजपेयी, हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि अधिकाश काव्य-चिंतको ने रसानुभूति को काव्य का प्रमुख तत्त्व माना है। वर्तमान काल मे कुछ विचारक रस-सिद्धात की उपयोगिता पर सदेह करने लगे है और इसका खुला विरोध भी हो रहा है। हम इस विरोध और आक्षेप पर भी आगे विस्तारपूर्वक विचार करेंगे, यहा अभी यही कहना है कि भारतीय काव्य-चिंता का सुफल मुख्यरूप से रस-भाव ही है।

पाश्चात्य काव्य-सिद्धात . रस-सिद्धान्त का प्रतिपाद्य है कि (१) काव्यरस या काव्यानद भाव जन्य आनन्दानुभूति है। काव्य मे उदात्त और स्पृहणीय भाव ही सहृदय-आनद का विषय बनते है। (२) रसानुभूति या उदात्त भावानुभूति ही काव्य की श्रेष्ठानुभूति है। यह भावानुभूति ही सर्वाधिक प्रभावी होती है। रस सिद्धान्त इस भावानुभूति को ही सर्वाधिक मूल्यवान मानता है। यद्यपि पाश्चात्य काव्य-चिंतन रस और भावानुभूति के मनोविज्ञान को अपनाकर नही चला और यही कारण है कि पाश्चात्य काव्य-सिद्धात काव्यानुभूति की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया को उस सूक्ष्मता के साथ नही पकड पाये जिस सूक्ष्मता से भारतीय रसाचार्यो ने इस पर विचार किया है पर फिर भी आनुषगिक रूप से प्लेटो से लेकर टालस्टाय, रिचर्डस आदि तक सभी प्राचीन और आधुनिक पाश्चात्य विद्वानो ने भी काव्य मे भावानुभूति का महत्त्व स्वीकार किया है। अनेक पाश्चात्य विद्वानो की अनेक ऐसी उक्तियाँ प्रकट की जा

सकती हैं, जिनसे रस-भाव की महत्ता स्पष्ट प्रमाणित होती है और जो परोक्षत रस-सिद्धात के समर्थन की सूचक है।

प्लेटो के काव्य-मत ग्रीक समीक्षा के इतिहास मे पहला नाम प्लेटो का आता है। वस्तुत प्लतोव या प्लेटो (४२७ ई० पू०-३४७ ई० पू०) ग्रीक साहित्य समीक्षा के इतिहास मे ही नही, समग्र पाश्चात्य समीक्षा के इतिहास मे प्रथम विचारक माने जाते है। प्लेटो प्रसिद्ध विद्वान सुकरात के शिष्य थे और मूलत एक दार्शनिक एव नीतिकार थे। काव्य या साहित्य के कतिपय पक्षो पर प्लेटो ने आनुषगिक रूप से ही एक दार्शनिक या नीतिकार के नाते विचार किया है, न कि साहित्य-शास्त्री के रूप मे। फिर भी उनके साहित्य-सम्बन्धी मतव्य इतने विचारोत्तेजक सिद्ध हुए कि उन्ही से पाश्चात्य या ग्रीक-साहित्य-शास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र की नीव पडी।

प्लेटो से पूर्व यूनान मे कवि और काव्य-सम्बन्धी बडी उच्च धारणा थी। कवि को दिव्य सदेश का वाहक, अलौकिक प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति समझा जाता था। आर-फियस (Orpheus), मॉफेयस (Mufaeus), हेसिओड (Hesiod) आदि पूर्ववर्ती विद्वान् काव्य को ज्ञान का भण्डार तथा कवि को शिक्षक मानते थे। महान काव्य वही माना जाता था जिसमे मानव-जीवन को सभ्य और उन्नत बनाने की क्षमता हो। ग्रीक पौराणिक कथाए तथा प्राचीन साहित्य उदात्त भावो को जगाने वाला उपयोगी साहित्य था। उसमे ईश्वरीय न्याय की पूर्ण रक्षा की गई थी। किन्तु प्लेटो के समय ग्रीक-त्रासदियो मे जीवन की महानता का चित्रण बहुत कम रह गया। प्लेटो के पूर्व होमर ने काव्य-प्रयोजन पर विचार करते हुए उसके कलात्मक सौन्दर्यपरक और परम आनन्ददायक रूप की भूरि-भूरि प्रशसा की थी। होमर का कहना था कि कलात्मक भ्रम (Illusion of art) उत्पन्न करके कवि अपनी रचना द्वारा आनन्द प्रदान करता है। आनन्द और मनोरजन पर बल हो जाने के कारण प्लेटो के समय का त्रासदी साहित्य जीवन की सशक्त अभिव्यजना से शून्य होने लगा था। प्लेटो के काव्य-सम्बन्धी विचारो की यही साहित्यिक पृष्ठभूमि है।

प्लेटो के युग की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियो ने भी उसके काव्य-चिंतन को प्रभावित किया। ईसा-पूर्व पाँचवी शती मे यूनान मे अराजकता फैली हुई थी। एक के बाद एक राज्य बदल रहे थे। राज्य एव समाज मे अनेक प्रकार के सुधारो की आवश्यकता थी। प्लेटो एक आदर्शवादी सुधारक था। वह ऐथेन्स के प्रत्येक व्यक्ति को एक आदर्श नागरिक और प्रत्येक नगर को एक आदर्श शहर बनाना चाहता था। राष्ट्रीय आवश्यकताओ, युगीन परिस्थितियो तथा समाज-निर्माण की उत्कट अभिलाषा के कारण प्लेटो को उस समय का त्रासदी साहित्य जीवन की उदात्त प्रवृत्तियो से शून्य प्रतीत हुआ। इसीसे उसने ऐसे काव्य और कवि की भर्त्सना की। वह केवल मनोरजन कराने वाले साहित्य को अपने आदर्श राज्य (Ideal State) मे स्थान नही देना चाहता था। वह अपने नागरिको को तार्किक और बौद्धिक

बनाना चाहता था, न कि दुर्बल भावुक । अत प्लेटो की उपयोगितावादी दृष्टि को केवल सौन्दर्य और आनन्द मे डुबा देने वाला साहित्य निरर्थक प्रतीत हुआ । प्लेटो ने केवल आनन्द सुख, निष्क्रिय सुख या मिथ्या परितोष को ही ऐसे साहित्य का प्रयोजन मानकर उसकी उपेक्षा की । यह बात कुछ वैसी ही थी, जैसी हम रीतिकालीन घोर श्रृंगारी रचनाओ के बारे मे कहते है जिन मे ऐकान्तिक प्रेम और छिछले रोमॉस के रूप मे रसानद के सिवा जीवन को प्रेरित करने की विशेष क्षमता नही है । प्लेटो ने इसी से कवि को ख्याली पलाव पकाने वाला निठल्ला प्राणी ही समझ लिया । उस समय के त्रासदी साहित्य के करुण प्रभाव मे प्लेटो को जीवन-निर्माण की विशेष शक्ति नही दिखाई दी । अत॰ उसने काव्य की निंदा की । प्लेटो ने स्पष्ट शब्दो मे कहा कि जो कला केवल सुख आनद (मनोरजन) कराती है, उसे श्रेष्ठ कला नही माना जा सकता । वशीवादन, वृन्दगायन कला आदि से केवल सुख आनन्द (मिथ्या परितोष) प्राप्त होता है । दुर्भाग्यवश प्लेटो ने त्रासदी को भी वशीवादन आदि कलाओ की तरह केवल मनोरजन की वस्तु समझ लिया ।

प्लेटो की उपयोगितावादी दृष्टि मे काव्य के प्रेय पक्ष का कोई महत्त्व नही था । वह श्रेय को ही महत्त्वपूर्ण मानता था । त्रासदी मे सगीत, लय, छन्द, नाच-गायन आदि को वह केवल मनोरजन के ही साधन मानता था । इनके अतिरिक्त जो कवि-वक्तव्य होता है उसे वह भाषण ही कहता था । इस भाषण मे भी यदि मानव-हित की उदात्त कामना का अभाव रहा तो केवल मनोरजन किस काम का ? प्लेटो ऐसी भाषण कला को ही श्रेष्ठ मानता था जो मानव आत्मा को उन्नत करे ।

प्लेटो को इस बात पर सदेह था कि कवि या त्रासदीकार जो कुछ चित्रित करता है, उन वस्तुओ का उसे वास्तविक ज्ञान होता है । प्लेटो के अनुसार बढई आदि शिल्पी जिस पलग आदि वस्तु का निर्माण करता है, वह ईश्वरीय, आदर्श और वास्तविक पलग का अनुकरण ही होता है । इसी प्रकार चित्रकार जिस पलग का चित्रण करता है, यदि उसका आधार बढई का पलग है, तो वह अनुकरण का अनुकरण करता है । यदि कलाकार या कवि को वस्तुओ का सच्चा ज्ञान होता तो "वह अनुकरण के बजाय उनके 'करण' (रचना) मे कही अधिक उत्साह दिखाता और वह अपने पश्चात् अनेक सुकृत्य स्मृति-रूप मे छोड जाता । वीरो के प्रशसा-गीत गाने वाले कवि की अपेक्षा वह वीर नायक होता जिसके प्रशसा-गीत गाये जाते है ।"

होमर से लेकर अपने समय तक के सब कवियो को प्लेटो ने सत्य से दूर केवल अनुकर्ता माना । उसका विचार था कि अनुकरण मे समर्थ होने के कारण कवि "कई कलाओ के रगो का ही पदो और वाक्यो द्वारा पुन सृजन करता है ।" सगीत आदि मोहक साधनो को उसकी रचना से निकाल दिया जाय तो वह प्रभाव-शून्य हो जाती है । स्पष्ट है कि प्लेटो कवि को नेता, निर्माता, शासक, दार्शनिक या आध्यात्मिक गुरु आदि महापुरुषो से निम्नश्रेणी का प्राणी घोषित करने के लिए ही उसे केवल अनुकर्ता मान बैठा था ।

प्लेटो काव्य को दुर्बल भावुकता मान बैठा । उसका कथन है कि अपने आदर्श राज्य मे हमे कवियो के प्रवेश का निषेध कर देना चाहिये क्योकि कवि आत्मा मे दुर्बल भावुकता को जागृत और पोषित करता है तथा विवेक-बुद्धि का क्षय करता है। काव्य मे साधु पुरुष को भी विचलित और पथभ्रष्ट करने की भयकर क्षमता है। काव्य हमे भावनाओ मे डुबा देता है । त्रासदी मे हम जब सत् पक्ष के पात्र और नायक को दु ख मे विलाप करते देखते है, तो हमारी आत्मा के भी दुर्बल हो जाने की सभावना रहती है । वास्तविक जीवन मे हमारे ऊपर वैसा ही सकट आने पर हम उसका दृढता से सामना करना चाहते है, न कि त्रासदी के नायक की तरह रोना-धोना । अत प्लेटो का कथन है कि सकटो से घबरा कर रोना-धोना वास्तविक जीवन मे लज्जा की बात है । फिर भला विलाप करते हुए नायक मे रस लेने और उसकी प्रशसा करने मे कहाँ का औचित्य है ? काव्य करुणा आदि कोमल भावो का परितोष और प्रसादन कराता है । दूसरो के दुर्भाग्य पर यदि हम करुण-विह्वल होते रहे तो अपने ऊपर आये सकट पर काबू पाना कठिन हो जायगा । कामदी भी केवल मनोरजन कराती है । काव्य से कामादि हमारी ऐसी भावनाये और इच्छाएँ जागृत होती हे जिनका हम वास्तविक जीवन मे दमन करना चाहते है। "काव्य उन भावनाओ को हम पर शासन करने का अवसर देता हे, जबकि—यदि हमे अधिक दु खी और अपकृष्टतर होने की बजाय अधिक सुखी और श्रेष्ठतर बनना है तो—वे हमारे अधीन होनी चाहिये ।" (पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा, पृ० २२, प्लेटो के विचारो का हिन्दी-अनुवाद)। इस प्रकार प्लेटो काव्य के मोहक प्रभाव और भावुकता से आशकित थे ।

काव्य की इस निंदा के साथ ही प्लेटो ने उदारतापूर्वक यह स्वीकार किया है कि यदि कही कोई काव्य आनन्दपूर्ण होने के साथ राजनीतिक विधानो और मानव-जीवन के लिए उपयोगी प्रमाणित हो जाय, तो वह सहर्ष उसका स्वागत करेंगे । इससे सिद्ध होता है कि प्लेटो कोरे आनन्द या मनोरजन के विरुद्ध थे । वह ऐसे आनन्द या मनोरजन के महत्त्व को स्वीकार कर सकते थे, जो जीवन-निर्माण की दृष्टि से उपयोगी भी हो। पर प्लेटो की नैतिक उपयोगितावादी दृष्टि को काव्य मे मनोरजन के साथ-साथ उदात्त जीवन-प्रेरणाएँ जगाने की शक्ति प्रतीत नही हुई । वस्तुत प्लेटो ने तत्कालीन मनोरजन-प्रधान साहित्य के आधार पर ही अपने निष्कर्ष निकाले थे । काव्य मे जो उदात्त भाव-वृत्तियो को जगाने की शक्ति है, उसे प्लेटो नही समझ पाया । काव्य हमारी उत्साह, साहस, प्रेम, घृणा, दया, करुणा आदि ऐसी उदात्त भावनाओ को भी प्रभावशाली ढग से जगाता है जो मानव आत्मा का परिष्कार करती है—यह प्लेटो नही जान पाया । इसके विपरीत, प्लेटो ने काव्य को छिछले और कुत्सित सवेगो और भावनाओ को उत्तेजित करने वाला समझकर उसकी निन्दा कर डाली । रस सिद्धात का विवेचन करते हुए हम आगे देखेंगे कि वस्तुत. उदात्त भावानुभूति ही काव्य की श्रेष्ठ सिद्धि होती है। अत कोरे मनोरंजनकारी

साहित्य का निषेध करना प्लेटो की एक जबरदस्त देन है यद्यपि भ्रातिवश प्लेटो काव्य की उदात्त शक्ति को समझ नही पाये ।

कवि को निठल्ला और निरर्थक प्राणी समझकर उसकी उपेक्षा करना भी प्लेटो की भ्राति थी । ठीक है, बहुत से कवि राष्ट्रनायक, नेता, सेनापति, शासक या धर्मगुरु नही बनते, समाज या जीवन-निर्माण का कोई प्रत्यक्ष कार्य नही करते, पर अप्रत्यक्ष रूप से उनकी रचनाओ द्वारा जीवन-निर्माण का कार्य सभव होता है, इस तथ्य से इन्कार नही किया जा सकता । भ्रातिवश ही प्लेटो काव्य को अनुकरण का अनुकरण या अनुकरण मान बैठा । वास्तविकता यह है कि यदि काव्य को अनुकरण माना जाय तो वह वास्तविक प्राकृतिक वस्तुओ और अनुभूतियो का ऐसा सच्चा अनुकरण है जो कवि-कल्पना-द्वारा वास्तविक ही नही, अपितु वास्तविक से भी अधिक आदर्श और महान् हो सकता है । अत काव्य को सत्य से दुगुना-तिगुना दूर मानना भ्राति ही थी । प्लेटो यह नही समझ सका कि काव्य-सत्य भी उतने ही शाश्वत और उदात्त हो सकते है, होते है, जितने विज्ञान और दर्शन के सत्य । दुर्भाग्यवश प्लेटो यह नही समझ सका कि काव्य का सौन्दर्यतत्व भी महत्त्वपूर्ण है और सुन्दरम् के द्वारा ही काव्य का शिवत्व प्रभावी होता है ।

जैसा कि कहा जा चुका है, प्लेटो की इस काव्य-निंदा से ऐसा प्रतीत होता है कि उसने त्रासदी आदि ऐसे काव्यो को लक्ष्य करके फटकार दी है जिनमे त्रास और करुणा का ही सचार होता था मनुष्य को भाग्य की चक्की मे पिसता हुआ दिखाया जाता था । यह पिसना, रोना-धोना देखकर ही सम्भवत प्लेटो को पौरुष के ह्रास का भय हुआ । पर प्लेटो की इस समस्त फटकार और निंदा मे भी हम कुछ शब्द ऐसे पा जाते है, जो काव्य के शाश्वत सिद्धातो की ओर इगित करते है । कविता की प्रभावशक्ति और आनन्द-विभोर करने की क्षमता को मानते हुए प्लेटो ने कहा, उस समय जबकि वह शोकार्त्त व्यक्ति का अनुकरण करते हुए विषादमय विलाप प्रकट करता है तो तुम जानते हो कि वह हमे आनन्द प्रदान करता है और हम मुक्त भाव से उसका अनुगमन करने लगते है, हमारी अनुभूति जाग्रत होती है और हम पर गभीर प्रभाव पडता है । इस प्रकार जिसका हमारे ऊपर सर्वाधिक प्रभाव पडता है, उसी की सुकवि के रूप मे हम प्रशसा करते है ।"

(पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परपरा, पृ० २१)

यद्यपि इस प्रभाव को वस्तु-जगत् का असत्य मानकर प्लेटो ने इसकी उपेक्षा की है, पर भावो की आनन्ददायिनी और प्रभावोत्पादिनी शक्ति का स्पष्ट स्वीकरण प्लेटो द्वारा हुआ । करुणा या करुण रस की आनन्दानुभूति भी यहा स्वीकृत है और इस आनन्दानुभूति मे सहानुभूति-सिद्धात का भी कथन हुआ है । ये सब ऐसे तथ्य है जो भारतीय रस-सिद्धात से निकट सम्बन्ध रखते हैं, और प्लेटो के कथन मे हमे अनायास ही उपलब्ध हो गए है । खेद यही है कि भावो की प्रभावशक्ति को मानते

हुए भी प्लेटो भावो के उदात्त रूप का साक्षात्कार नही कर सका। उस समय के त्रासदी साहित्य का करुण प्रभाव तथा कामदी का कोरा अनुरजनकारी हास्य उसे जीवन-निर्माण की दृष्टि से निरर्थक ही लगा। वैसे केवल अनुरजनकारी छिछले ओर अश्लील काव्य का विरोध करके प्लेटो ने एक तरह काव्य का उपकार ही किया है।

अरस्तू का विरेचन सिद्धान्त प्लेटो के पश्चात् अरस्तू ने ग्रीक-साहित्य-समीक्षा को प्रौढता प्रदान की। अरस्तू ने अपने गुरु प्लेटो की भ्रातियो का खण्डन किया। उन्होने स्पष्ट किया कि करुणा, त्रास आदि भाव मन को दुर्बल नही बनाते अपितु मन की शुद्धि करते ह , उनसे आत्मा का परिष्कार होता है। इस शुद्धि के लिये अरस्तू ने चिकित्साशास्त्र के विरेचन (Katharsis) शब्द का प्रयोग कर अपना विरेचन-सिद्धात प्रस्तुत किया। जिस प्रकार विरेचन के प्रयोग से अपच, उदर-शूल आदि रोग, जो प्राय पेट मे विकृत तत्त्वो के समावेश से खराबी के कारण होते हैं, दूर करके स्वास्थ्य-लाभ किया जाता है, उसी प्रकार त्रासदी मे अभिव्यक्त करुण, त्रास आदि भावो की अनुभूति-हृदय परिष्कार के लिये विरेचक या रेचक का-सा काम करती है। जैसे रेचक के सेवन से पेट मे हलचल- सी मच जाती है और सारा विकार मल के रूप मे बाहर निकल आता है, पेट हल्का-फुल्का हो जाता है, आराम और सुख का अनुभव होता है, वैसे ही करुणा, त्रास आदि घनीभूत भावो के उद्दाम आवेग से हृदय मे हलचल मच जाती है, विकृत मनोभाव निष्कासित हो जाते हे। दया, ममता, सहानुभूति, सेवा आदि तरल-कोमल भावो से चित्त नैर्मल्य का अनुभव करता है, सुख-आनन्द पाता है। सक्षेप मे यही अरस्तू का विरेचन-सिद्धात है।

अरस्तू के इस विरेचन-सिद्धात की विभिन्न विद्वानो ने विभिन्न व्याख्याए की। किसी ने नीतिपरक व्याख्या की, किसी ने धर्मपरक तो किसी अन्य ने कलापरक। नीतिपरक व्याख्या करते हुए कहा गया कि त्रासदी मे जो करुणा और त्रास की परि-स्थितियाँ प्रेक्षक अनुभव करता है उनसे दुर्बलता की बजाय उसका नैतिक साहस या मनोबल (Morale) उच्च होता है। त्रास और करुणा के भाव पहले तो प्रेक्षक को अवश्य मर्माहत कर देते हे, पर शनै शनै वह मानसिक शाति का अनुभव करता है। इन भावो का दश या कटुता नही रहती। भाव-विभोर होने के बाद उसकी आत्मा न्याय-नीति का पक्ष ग्रहण करती है, अन्याय-अनीति के प्रति वितृष्णा जगती है, अत आत्मा नैतिक दुर्बलता नही, सबलता पाती है। इसलिए त्रासदी हानिकारक नही, लाभप्रद सिद्ध होती है।

अरस्तू के विरेचन सिद्धात के कलापरक व्याख्याता प्रो० एस० एच० बूचर ने अपनी पुस्तक 'आरिस्टोटल्स थिअरी आफ पोइट्री एण्ड फाइन आर्ट्स' मे कहा है कि अरस्तू द्वारा प्रयुक्त विरेचन कला-सिद्धात का द्योतक है। त्रासदी का कार्य केवल करुणा और त्रास जगाना नही है, अपितु इन भावो से कलात्मक परितोष प्रदान करना है। कलात्मक माध्यम मे ढलने से भाव परिष्कृत हो जाते है। अत प्रेक्षक को मान-सिक परितोष या कलात्मक आनन्द प्रदान करते है।

विरेचन सिद्धात को मनोविज्ञान के अलोक मे परखने वालो ने कहा कि त्रासदी मे करुणा, त्रास आदि मनोभावो की जागृति से विरेचन-प्रक्रिया-द्वारा प्रेक्षक के मन की ग्रथियाँ खुल जाती है, घुटन-घुमडन दूर हो जाती है। अवचेतनगत भावो का चेतनगत उचित निष्कासन परितृप्ति और सुख-शान्ति उपजाता है। मानसिक सतुलन और स्वास्थ्य की सिद्धि होती है । यही मानसिक शुद्धि विरेचन है ।

विरेचन-सिद्धांत और उदात्त रस-सिद्धात इसमे सदेह नही कि काव्य हमारे रागो का परिशोधन करता है, काव्य ही हमारे भावो को सतुलित और मर्यादित करता है। काव्य पढने, सुनने या रगमच पर देखने से मनुष्य यथार्थ रूप मे सवेदनशील हो जाता है। वह सच्चा भावुक बन जाता है। उसके मन मे भावो की उचित प्रतिक्रिया होती है। न तो वह पत्थर-दिल रहता है कि कोई भी करुण-दृश्य उसे अभिभूत ही न कर सके, न ही इतना मूर्ख और दुर्बलहृदय होता है कि बेबात रोने लगे। उसका मन परिष्कृत भावो के लिये ग्रहणशील तथा विकृत भावो को त्यागने की स्थिति मे हो जाता है, यही मन का विरेचन या शुद्धिकरण है।

यद्यपि यवनाचार्य भारतीय रस-सिद्धात से दूर था तथापि उसका विरेचन सिद्धात रस सिद्धात के अनुकूल ही है। भावो की प्रभावशक्ति, भावो से आनन्द-प्राप्ति तथा मानसिक शुद्धि का स्वीकरण रस-सिद्धात के ही अनुसार हुआ है। त्रासदी मे करुण, त्रास आदि उदात्त या स्पृहणीय भाव ही अभिव्यक्त होते है। अत इस सम्बन्ध मे सीधी-सी बात यही हे कि उन उदात्त-स्पृहणीय या ग्राह्य भावो का हमारे मन पर अच्छा प्रभाव पडता है। यही मनोवेगो के परिष्कार की सीधी बात है। यद्यपि अरस्तू इसे अपने विरेचन-सिद्धात मे नही कह पाये तथापि उनके विरेचन का वास्तविक तात्पर्य यही है कि उच्च भावो की सवेदनापूर्ण अनुभूति से हमारा मन शुद्ध होता है। भावानुभूति की यह प्रक्रिया ही विरेचन-प्रक्रिया है। करुण, त्रास आदि त्रासदी के प्रमुख भाव दुखद एव कटु होते हुए भी स्पृहणीय और उदात्त होते है, इसी से दुख का दश उनमे नही रहता और वे हमारे मन-आत्मा को विशद और प्रसन्न बना देते है। यह अनुभूति व्यक्तिगत स्वार्थसम्बन्धो से रहित प्रेक्षागृह की अनुभूति होती है, अत दर्शक की आत्मा सत्त्वोद्रेक से शुद्ध और निर्मल हो जाती है। अतः प्लेटो ने जो काव्यानुभूति को निकृष्ट कोटि की अनुभूति तथा काव्य-सवेदनाओ को दुर्बलता की द्योतक मान लिया था, उसका अरस्तू के इस विरेचन सिद्धात-द्वारा खण्डन हो गया। भारतीय रस-सिद्धात मे साधारणीकरण की प्रक्रिया भी आत्मा के सत्त्वोद्रेक से सम्बन्धित है। अत अरस्तू का विरेचन-सिद्धात रस-सिद्धात के एक पक्ष से पर्याप्त मिलता-जुलता है।

अरस्तू ने त्रासदी को उत्कृष्ट कला इसीलिए माना कि त्रासदी मे भावो का सघन प्रभाव अधिक होता है। फिर भी अरस्तू की दृष्टि अधिकतर वस्तुपरक ही रही, यही कारण है कि वे भावो को मूल्याकन की व्यापक कसौटी नही बना सके। अरस्तू की वस्तुपरक दृष्टि के विपरीत लौजाइनस या लौगिनस ने आत्मपरक दृष्टि

को अपनाया । उनके उदात्त के विवेचन मे आत्म-तत्व की ही प्रधानता है । लौजाइनस ने उदात्त अभिव्यजना के पाच तत्त्व बताए है । सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रथम तत्त्व है—महान् विचारोद्भावना की क्षमता, दूसरा प्रमुख तत्त्व है—प्रेरणा-प्रसूत एव उद्दाम आवेग । इन दोनो तत्त्वो को लौजाइनस ने अधिकाशत नैसर्गिक बताया । शेष तीन तत्त्व अशत कला की पूर्ति करते है । वे है समुचित अलकार-योजना, सुष्ठुभाषा और गरिमामय रचना-विधान ।[1] लौजाइनस ने उच्च विचार और उदात्त भावो को काव्य के प्रमुख तत्त्व घोषित करके काव्य के सच्चे आत्म स्वरूप की प्रतिष्ठा की । हम आगे देखेगे कि उदात्त भावो और उच्च विचारो की महत्ता का यह सिद्धात हमारे उदात्त-रस-सिद्धात से मेल रखता है । लौजाइनस ने इस प्रकार काव्य साहित्य को नैतिक आतक से मुक्त किया ।

पुनर्जागरण काल से लेकर सत्रहवी शताब्दी तक पश्चिम मे साहित्य और समालोचना के क्षेत्र मे जो विचार-सागर आन्दोलित हुआ, उसके परिणाम-स्वरूप कई गभीर काव्य-सिद्धान्तो का आविर्भाव हुआ। शास्त्रवादी स्वच्छदतावादी, कलावादी नीतिवादी, सौष्ठववादी बौद्धिक विज्ञानवादी, मनोवैश्लेषिक समाजवादी आदि कई दार्शनिक विचार-द्वन्द्वो की परम्परा चली । इस विचार-मथन से कला और साहित्य-सम्बन्धी अनेक सत्यो की उपलब्धि हुई ।

शास्त्रवादियो की रूढिवादिता के विरुद्ध स्वच्छदतावादियो ने वैयक्तिक स्वतन्त्रता, कल्पना-प्रियता, आह्लाद, व्यष्टिचेतना, सौदर्यवाद और भावुकता आदि तत्वो का आग्रह किया। कला और साहित्य की स्वच्छद भावात्मक आतरिक सौदर्यानुभूति का सिद्धात इनकी बडी देन है । कालरेज, वर्डस्वर्थ, शैले आदि सभी ने भाव-तत्त्व की महत्ता स्वीकार की है । कालरेज के अनुसार—"Poetry is the excitement of emotion for the purpose of immediate pleasure through the medium of beauty"—अर्थात् काव्य का प्रयोजन सोदर्य के माध्यम से भावजन्य आनद प्रदान करना है ।

स्वच्छदतावादियो ने सौदर्य को प्रमुख तत्त्व माना है । उनके अनुसार आनद या आह्लाद सौदर्य पर आधारित है और सौदर्य कल्पना पर आश्रित है । कल्पना और सौदर्य की बात इन्होने अधिक की । फलत भाव-सौदर्य या भावानद की बात पीछे पड गई, जिसका परिणाम यह हुआ कि इनकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, समष्टि-चेतना और सामान्य भावानुभूति की विरोधी-सी होने लगी । कल्पना की क्रीडा और सौदर्य-चित्रण के आग्रह मे भावो की उदात्तता का दृष्टिकोण पीछे पड गया । सास्कृतिक और नैतिक मूल्यो की बात भी दब गई । इस काव्य-प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया-स्वरूप १९वी शती के उत्तरार्द्ध मे मैथ्यू आर्नल्ड, रस्किन आदि विचारको ने कला मे सास्कृतिक मूल्यो के महत्त्व पर जोर दिया ।

१ काव्य मे उदात्त तत्त्व, पृ० ४४

टालस्टाय का काव्य सिद्धान्त टालस्टाय भी कला के प्रति मानवतावादी उपयोगितावादी सिद्धात लेकर आए। उन्होने कला और साहित्य की कसौटी विशाल मानवतावादी प्रभाव बताई। केवल सौदर्य-आनद कला का प्रयोजन नही है। उनके अनुसार, अपने वर्ग से ऊपर उठकर जो कवि सम्पूर्ण मानवता के मगल का विधान अपनी रचना मे करता है, वही सर्वश्रेष्ठ है। कला को केवल आनद का साधन समझने वाले प्लेटो आदि प्राचीन विचारक तो भ्रम मे थे ही, पर उनसे भी कही अधिक भ्रम मे आज के कलावादी है, जो कला का साध्य केवल आनद मानते है।

टालस्टाय ने कला का मूल भाव को ही बताया। उनके सक्रमण-सिद्धात (Infection Theory) के अनुसार काव्य के भाव सक्रामक अर्थात् दूसरो मे सप्रेष्य होते है। अत वे ऐसे नही होने चाहिएँ जो रोग के कीटाणुओ की तरह छूत की बीमारी फैलाएँ। वे उदात्त होने चाहिएँ, जिनका जन-जीवन पर शुभ प्रभाव पडे। उदात्त भावो का क्षेत्र टालस्टाय ने धर्म को बताया। विश्व-प्रेम और विश्वकरुणा ही वास्तविक धर्म है। अत उन्ही की सिद्धि श्रेष्ठ कला का मानदण्ड है। टालस्टाय का उदात्त भावो का सिद्धात भारतीय रससिद्धात से बहुत साम्य रखता है। पर जब टालस्टाय कला का मानदण्ड उदात्त भाव के स्थान पर विश्वबधुत्व की सिद्धि बताने लगते है, तब वे विशुद्ध साहित्यिक मूल्याकन से कुछ दूर प्रतीत होते है। जहाँ सौदर्यवादी और स्वच्छन्दतावादी आलोचको ने सौदर्य के उदात्त रूप अर्थात् उदात्तभाव-सौदर्य की अवहेलना की, वहाँ टालस्टाय जैसे रससिद्धविचारक भी नीति-धर्म और सौदर्य-आनन्द का सही समन्वय प्रस्तुत नही कर सके। वस्तुत वह उदात्त भाव से आगे धार्मिक या मागलिक मूल्य को साध्य मान लेते हे और भावो को केवल साधन। यदि वह उदात्त भावानन्द या उदात्त भावरस को ही कला का मानदण्ड ठहराते तो कलावादियो या आनन्दवादियो से भी कोई विरोध न रहता।

'कला कला के लिए' सिद्धात . उपर्युक्त नीतिवादी कला-सिद्धात के विपरीत पश्चिम मे वाल्टर पेटर, आस्कर वाइल्ड और ब्रैडले आदि विचारको ने 'कला कला के लिए' या 'कविता कविता के लिए' सिद्धात का प्रचार किया। इनकी विचारधारा का केन्द्र-बिन्दु था सौदर्य। सौदर्य-जन्य आनन्द को ही इन्होने काव्य-कला का चरम मूल्य और प्रयोजन स्वीकार किया। इन्होने जीवन-तत्त्वो या नैतिक मूल्यो कोगौण माना।

ब्रैडले ने काव्य का अतरग मूल्य कल्पनात्मक अनुभव या सौन्दर्यानुभव ही माना। शिक्षा, वासनाओ का सस्कार आदि सास्कृतिक एव धार्मिक तत्त्व काव्य के बहिरग मूल्य ही है।[1] ब्रैडले को इस बात का डर रहा है कि इन बाह्य-मूल्यो पर

---

1 "This experience (imaginative experience) is an end in itself, is worth having on its own account, has an intrinsic value its poetic value is this intrinsic worth alone Poetry may have also an ulterior value as a means to culture or religion, because it conveys instruction, or softense the passions, or furthers a good cause, because it brings the poet fame or money or a quiet conscience."

—A. C Bradley, Oxford Lectures On Poetry. P 4-5

ध्यान रहने से काव्य-मूल्य (कल्पनात्मक अनुभूति) को क्षति पहुचेगी । ब्रैडले का कथन है कि "काव्य अपना साध्य आप है—से यह समझना भूल हे कि काव्य और मानव-हित परस्पर विरोधी' हे । काव्य भी मानव-हित का ही एक रूप है । पर इसका मूल्याकन इसके अतरग मूल्य को छोडकर मानव-हित को नही बनाना चाहिए । वस्तुत ब्रैडले यही चाहते थे कि किसी कविता का मूल्याकन नीति, धर्म, दर्शन आदि की बाह्य बातो के आधार पर नही होना चाहिए । वह उसकी कसौटी यही वताते है कि क्या काव्य हमारी कल्पना को परितोप देता है ? नीति, धर्म, ज्ञान, सास्कृतिकआदर्श आदि अपने मे कुछ नही । काव्य की दृष्टि से इनका महत्त्व तभी सिद्ध होता है, जब वे कवि की कल्पना मे अन्तर्भूत होकर आते है ।

ब्रैडले के विचार से जो तथ्य निकलते है, उनमे सबसे महत्त्वपूर्ण यही है कि काव्य-मूल्याकन किसी नीति या आदर्श के आधार पर नही किया जा सकता । नीति या धर्म को वह कल्पनात्मक अनुभूति के रूप मे ही काव्य मे ग्राह्य मानते है । पर वह नीति या जीवन-तत्त्वो और काव्य का सम्बन्ध प्रच्छन्न (Underground) कहकर एक तरह नीति या जीवन-मूल्यो को वैकल्पिक बना देते हे । काव्य मे उच्च जीवन-मूल्यो के विधान से उसकी कल्पनात्मक अनुभूति अधिक उदात्त और अधिक मार्मिक हो सकती है, इस तथ्य को वह नही पकड सके । काव्य की परख आतरिक मूल्यो से ही होनी चाहिए —यह तो ठीक, पर वे आतरिक मूल्य अनुभूति की कौन-सी सर्वश्रेष्ठ दशा हो सकते हे, यह भी ब्रैडले नही बता सके । उदात्त भाव-रस ही यह कसौटी बन सकती है—यह रहस्य ब्रैडले नही खोल सके । वह नैतिक मूल्यो को नितात बाहरी मान बैठे । इस सम्बन्ध मे पेटर का दृष्टिकोण कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण लगता है । उन्होने सौन्दर्य की आधारशिला पर नैतिक मूल्यो की प्रतिष्ठा से ही कला की महानता स्वीकार की है । सुन्दर कला से महान् कला का अतर स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि सुन्दर रूप-विधान से कला अच्छी कला तो बन सकती है, पर यह आवश्यक नही कि वह महान भी हो । "अच्छी कला और महान् कला मे अतर सम्प्रति रूप-विधान पर नही, वस्तु पर निर्भर करता है । कम-से-कम साहित्य-क्षेत्र मे तो यह बात सभी स्थितियो मे सत्य है । कला की महानता वर्ण्य-वस्तु की महानता पर निर्भर करती है ।

जिन अवस्थाओ मे मैंने अच्छी कला की स्थिति मानी है, उनमे यदि कला अव-स्थित हो और फिर यदि उसे मानवता की कल्याण-कामना मे, पीडित-दमित के परित्राण मे अथवा हमारी सहानुभूति के विस्तार मे लगाया जाय, तो वह कला महान होगी, अथवा यदि कला हमारे विषय मे तथा हमारे और विश्व के सम्बन्धो के विषय मे ऐसे नये या पुराने सत्य का उद्घाटन करे, जिससे हमारे ऐहिक जीवन को शक्ति और उन्नयन मिले, अथवा दांते की तरह वह ईश्वर की महत्ता को प्रकाशित करे तो वह कला महान होगी ।" (पेटर के विचारो का हिन्दी-अनुवाद । पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, पृ० २३१)

स्पष्ट है कि पेटर जीवन के नैतिक मूल्यो की महत्ता स्वीकार करते हैं । 'कला

कला के लिए' सिद्धात मे यदि पेटर का यह कथन भी उतना ही प्रचारित हो जाता, जितना सौन्दर्यवादी प्रयोजन प्रचारित हुआ, तो इस सिद्धात को जीवन-विरोधी या नीति-निरपेक्ष कहने का साहस किसी को न होता। पेटर के उपर्युक्त कथन मे सौन्दर्य-तत्त्व और जीवन-मूल्य पृथक्-पृथक् से प्रतीत होते है। वास्तव मे पेटर ने जिस स्थिति मे महान् कला की सभावता की है, वह उदात्त भावानुभूतियो के सिवा और कुछ नही हो सकती। उदात्त भावानुभूति मे ही सौन्दर्य-तत्त्व और नीति-तत्त्व दोनो एक साथ गुथे—समन्वित रूप मे प्रकट हो सकते है।

क्रोचे के काव्य-सिद्धात 'अभिव्यजनावाद' की 'सहजानुभूति' भी तीव्र भावानुभूति ही है। क्रोचे ने कला को मानसिक व्यापार मानते हुए कहा है कि इसका निर्माण न तर्कपूर्ण बौद्धिक ज्ञान से होता है, न इद्रियज ज्ञान से और न ही साधारण लौकिक भावात्मक ज्ञान से। क्रोचे ने सहज ज्ञान (Intuition) से ही इसका सम्बन्ध बताया है। सहज ज्ञान से क्रोचे का अभिप्राय हृदय के उस सहज स्वत स्फूर्त अनुभवात्मक ज्ञान से है, जो अपनी अनुभूति की तीव्रता के कारण अभिव्यक्ति के लिए बाध्य होता है। कोई व्यक्ति अपने पुत्र के जरा-से अपराध पर क्षुब्ध हो उसे बुरा-भला कह सकता है, पर उसका यह क्षोभ सहजानुभूति नही कहा जा सकता। आदि कवि वाल्मीकि ने जब व्याध के द्वारा मारे जाते हुए क्रौच को देखा, तो उनके हृदय से व्याध के लिए जो क्षोभपूर्ण फटकार एकदम स्वत ही निकल पडी, वह सहजानुभूति से सम्बन्ध रखती है। निश्चय ही हमारी सहानुभूति की तरह ऐसी सहानुभूति भी, जिसे क्रोचे ने मन की सक्रिय आध्यात्मिक चेष्टा कहा है, अतश्चेतना की व्यक्तिगत स्वार्थ-सम्बधो से मुक्त दशा की अनुभूति होगी। भारतीय रस-ध्वनि ही क्रोचे की सहजानुभूति है। ध्वनिकार आनदवर्द्धन ने कहा है कि निषाद के बाण से विद्ध, सहचरी के वियोग से कातर क्रौच के क्रदन से उत्पन्न आदि कवि का शोक ही श्लोक मे परिणत हो गया—**'तथा चादि कवेर्वाल्मीकेर्निहत सहचरी विरहकातर क्रौचाक्रन्दजनित शोक एव श्लोकतया परिणत।'** (ध्वन्यालोक)।

जिस प्रेरणा या सहजानुभूति से अभिभूत होकर वाल्मीकि श्लोक के रूप मे अभिव्यक्ति करने को बाध्य हुए, उसे ही क्रोचे ने कला का मूल स्रोत माना है। क्रोचे इस प्रकार की अनुभूति को ही सफल अभिव्यक्ति मानते है। तीव्र अनुभूति ही अभिव्यक्ति के लिए मचलेगी। अत क्रोचे के अनुसार अभिव्यक्ति ही कविता है—इसमे सफल-असफल का भी प्रश्न नही उठता, क्योकि ऐसी अभिव्यक्ति जब होगी, सफल ही होगी। यह तीव्र या सहजानुभूति भावरसानुभूति के अतिरिक्त कुछ और होगी, हम नही जानते। अत क्रोचे का 'अभिव्यजनावाद' सिद्धात भी भावरसानुभूति से सम्बन्धित है। इस सिद्धात से कला के निर्माण मे व्यक्ति-चेतना का सत्य ही प्रकट हुआ। यह सिद्धात जितना सूक्ष्म आदर्श प्रस्तुत करता है, उतना व्यावहारिक सत्य

नही है। ता भी काव्य का यह आदर्श उदात्त भावानुभूति का आदर्श ही सिद्ध होता है।

मनोवैज्ञानिक अन्तश्चेतनावाद . क्रोचे के 'अभिव्यजनावाद' की ही तरह मनोवैज्ञानिक अन्तश्चेतनावाद भी कला के मनोवैज्ञानिक निर्माण से ही सम्बन्ध रखता है, समीक्षा-मूल्यो से इसका भी कोई सीधा सम्बन्ध नही। फ्रायड ने अवचेतन मन की प्रबलता पर प्रकाश डाला—बताया कि हमारे मस्तिष्क का तीन-चौथाई अचेतन हे और यही हमारे विभिन्न कार्य-व्यवहारो का विशेष प्रेरक होता है। फ्रायड ने अचेतन मन की सारी शक्तियो का मूल आधार मानव की दमित काम-वासना को माना। यह सामाजिक और नैतिक बधनो के कारण चेतन को ग्राह्य नही होती। यह अवचेतन मे दमित कुण्ठा बन जाती है, जो निष्कासन का अवसर ढूँढती रहती है। कभी-कभी इसका उदात्तीकरण भी हो जाता हे—जैसे देशप्रेम, भगवत्प्रेम आदि के रूप मे। यह सामाजिक प्रतिबधो के कारण प्रच्छन्न रूप मे प्रकट होती हे। स्वप्न, दिवास्वप्न और साहित्य इसके प्रच्छन्न प्रकट रूप हे। साहित्य-कला मे इसी दमित वासना का चेतनगत उन्नयन हो जाता हे, जो उदात्तीकरण कहलाता है। इससे स्पष्ट हुआ कि फ्रायड का मनोवैज्ञानिक सिद्धात भी काव्य को उदात्त भावानुभूति की वस्तु बताता है। अत यद्यपि फ्रायड का सिद्धात समीक्षा का एकागी सिद्धात है तथापि इससे भी कला-साहित्य के सम्बन्ध मे यह सत्य प्रमाणित हुआ कि साहित्य मे साहित्यकार की उदात्तीकृत भावनाओ का प्रकाशन होता है।

समाज-शास्त्रीय या मार्क्सवादी सिद्धात मानव जीवन परिवर्तनशील हे। समय की परिस्थितियो के साथ जीवन की आवश्यकताएँ और मान्यताएँ भी बदलती रहती है। आज का भौतिक-बौद्धिक युग जितना जटिलताओ से पूर्ण हे, वैसा पहले कभी न था। जीवन के जो प्रश्न, जो समस्याएँ आज हमारे सामने है, वे हमारे पूर्वजो के सम्मुख न थे। आज के वैयक्तिक अहवादी आत्मकेन्द्रित मानव को समझने के लिए जिस प्रकार हमे मनोवैज्ञानिक 'एक्स किरणो' का प्रयोग करना पडता है, उसी प्रकार जीवन की भौतिक एव सामाजिक जटिलताओ को समझने के लिए समाज-शास्त्र का सहारा लेना पडता हे। समाजशास्त्रीय समीक्षा-पद्धति कलाकारो से यह माग करती है कि उनकी रचनाओ मे युग-चेतना को गति देने की शक्ति होनी चाहिये। वही कलाकृति श्रेष्ठ मानी जाती है, जो समाज के प्रगतिशील तत्त्वो को उभारती है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण आर्थिक या भौतिक मूल्यो को ही महत्त्व देता है। समाजवादी समीक्षक कवि की सामाजिक एव राजनैतिक चेतना का ही आकलन करता है, अन्य बातो को वह गौण मान लेता है। साहित्य तथा समाज-जीवन का सम्बन्ध अटूट है। अत. यह तो उचित है कि कलाकार जीवन के बदलते हुए मानो, उसकी विभिन्न समस्याओ को

अपनी अनुभूति का विषय बनाए, पर उसकी कला की परख इस बाह्य मान से करना त्रुटिपूर्ण ही है। इसी सम्बन्ध मे कलाकार को दो बातो का ध्यान रखना होगा। एक तो यह कि युग की समस्याओ को सामयिक रूप मे न अपना कर युग-युग की शाश्वत मानवीय सवेदनाओ के रूप मे अपनाना होगा। कलाकार प्रचारक या राजनीतिक लीडर नही बन सकता। उसका राज्य तो मनोराज्य है। सामयिक समस्याएँ उसके साहित्य को युग-युग का स्थायी साहित्य नही बना सकती। दूसरे, उसे इन समस्याओ को साहित्यरस मे घोलकर, भावरस-रसायन बनाकर ही प्रस्तुत करना होगा। अर्थात् इन समस्याओ या सामाजिक मूल्यो का साहित्यिक मूल्य तभी होगा, जब ये उदात्त भावो के रूप मे प्रकट होगी। अत सामाजिक-राजनैतिक अथवा आर्थिक मूल्यो को समीक्षा का अलग स्वतन्त्र मूल्य मानना भ्राति ही है। हम कलाकार से यह माग नही कर सकते कि उसने वर्ग-सघर्ष का चित्रण क्यो नही किया, या पूजीवादी समाज-व्यवस्था पर चोट क्यो नही पहुँचाई। इस प्रवृत्ति के अभाव मे ही हम उसे निकृष्ट कलाकार नही कह सकते। हाँ, हम कलाकारो को युग की बदलती हुई सवेदनाओ से परिचित करा सकते है। हम मानवता के निर्मम शोषण और उसके भिन्न-भिन्न रूपो की ओर उनका ध्यान आर्कार्षित कर सकते है, युगानुरूप साहित्य की माग भी कर सकते है, पर अपनी माँग को ही मूल्याकन की कसौटी नही बना सकते। कसौटी तो हर हालत मे उदात्त भाव ही रहेगे। अत समाज-शास्त्रीय समीक्षा भी समीक्षा का एकागी मानदण्ड है। समाज-शास्त्रीय समीक्षा को मूल्याकन की कसौटी नही बनाया जा सकता। हाँ, इसने कला-साहित्य के सामाजिक मूल्य की ओर हमारा ध्यान अवश्य आकृष्ट किया, यही इसकी महत्त्वपूर्ण देन है।

रिचर्ड् स का मनोवैज्ञानिक मूल्य का सिद्धात : आधुनिक युग मे आई० ए० रिचर्ड् स के मनोवैज्ञानिक मूल्य का भी महत्त्व है। रिचर्ड् स ने ब्रैडले के 'कविता कविता के लिये' सिद्धात का विरोध किया। उन्होने नैतिक मूल्यो को कला-मूल्याकन का आवश्यक अग बताया। उनके अनुसार मूल्याकन की स्थिति मे हम मानव जीवन के महान् निर्माण मे उसके स्थान और अन्य अनेक परोक्ष महत्त्वो को हिसाब मे लाकर ही मूल्य आक सकते है। रिचर्ड् स ने डा० ब्रैडले के इस मत को भी पूर्ण सत्य नही माना कि नैतिक मूल्यो से काव्य-मूल्य का अपकर्ष होता है। काव्य का एक रूप ऐसा भी है, जिसमे परोक्ष मूल्यो का अन्तर्भाव हो जाता है। जिस प्रकार एक पाठक को रसज्ञ मानव, नैतिक, व्यावहारिक या राजनीतिक मानव आदि अलग-अलग रूपो मे विभक्त नही किया जा सकता, उसी प्रकार कविता का खण्ड-खण्ड विभाजन अनुचित है। सच्ची काव्यानुभूति मे सब तत्त्व स्वत ही सम्मिलित हो जाते है। अत रिचर्डस ने इन अनुभूतियो के मनोवैज्ञानिक मूल्याकन का सिद्धात—A Psychological

Theory of Value' प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि समस्त मानवीय वृत्तियाँ दो भागो मे बाँटी जा सकती हैं—१ प्रवृत्त्यात्मक वृत्तियाँ (Appetencies) और २ निवृत्त्यात्मक वृत्तियाँ (Aversions)। अत वह वस्तु मूल्यवान् है, जो हमारी प्रवृत्तिगत वृत्ति को तुष्ट करे, अर्थात् इच्छा की पूर्ति करे। हर कोई अपनी अधिक-से-अधिक प्रवृत्तियो को तुष्ट करना चाहता है। पर यह सम्भव नही होता। अत रिचर्ड्स मूल्य-सम्बन्धी परिभाषा देते हुए कहते है "Anything is valuable which will satisfy an appetency without involving the frustration of some equal or more important appetency, in other words, the only reason which can be given for not satisfying a desire is that more important desires will thereby be thwarted" (Principles of Literary Criticism, P 48)। अर्थात् वही वस्तु मूल्यवान है जो हमारी प्रवृत्ति को बिना दूसरी समान या अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति को हानि पहुँचाए तुष्ट करे। अत वही कवि महान् साहित्य की रचना करेगा जो प्रवृत्तियो के मूल्यो को समझता है। "प्रवृत्तियो की अधिकाधिक तृप्ति को मूल्य की कसौटी मान लेना एक मोटा मान-दण्ड है।" (आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी 'नया साहित्य, नये प्रश्न', पृ० ९२)। वस्तुत साहित्य का उत्कर्ष भावोत्कर्ष पर निर्भर करता है। भाव ही प्रवृत्ति को जगाते है। अत रिचर्ड्स अपने भावजगत को छोडकर प्रवृत्ति की स्थूल बात मे उलझ गए है। नैतिक मूल्यो को प्रवृत्ति की सापेक्षता मे देखने से उनका भावानुभूति से सीधा सम्बन्ध नही रहता, जो काव्य का प्राण है। किस सच्ची अनुभूति मे नीति आदि तत्त्व स्वत ही सम्मिलित हो जाते है, यह भी रिचर्ड्स नही बता सके। तो भी यह स्पष्ट है कि रिचर्ड्स का मनोवैज्ञानिक मूल्य का सिद्धात उदात्त भावो पर ही आधृत है, क्योकि उदात्त भाव ही मूल्यवान् प्रवृत्ति का पोषण करते है।

इस प्रकार कुछ प्रमुख पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्तो के सक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट है कि पाश्चात्य विचारको ने भी काव्य मे भावानुभूति के महत्त्व को स्वीकार किया है। यद्यपि पाश्चात्य विद्वान् भावरस के रूप-स्वरूप और उसकी अनुभूति-प्रक्रिया का काव्यमनोवैज्ञानिक अन्वेषण या विश्लेषण नही कर पाये, तथापि उदात्त भावो के महत्त्व को उन्होने समझा है। उनके समीक्षा-सिद्धान्तो मे वे सिद्धान्त ही मूल्याकन की समस्या सुलझाने मे महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए है, जिनमे भावानुभूति को ही मूल्याकन का मानदण्ड स्वीकृत किया गया है। उपर्युक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट हुआ होगा कि उदात्त भावानुभूति मे ही जीवन के नैतिक मूल्य का तत्त्व भी स्वत सम्मिलित रहता है। अत उदात्त भावानुभूति को ही काव्य-मूल्याकन की कसौटी मानना उचित है।

रस-सिद्धांत की उपयोगिता पर सदेह : भारतीय रस-आचार्यों ने रस या रस-ध्वनि को ही काव्य की श्रेष्ठता का मानदण्ड घोषित किया था। मम्मटाचार्य के पश्चात् आधुनिक युग तक विद्वान् रस को ही काव्य की कसौटी मानते आ रहे है। पर वर्तमान युग मे रस तथा रस-सिद्धात को सदेह की दृष्टि से देखा जा रहा है। कुछ प्रगतिवादी और नई कविता या नवलेखनवादी विचारक आधुनिक साहित्य की परख मे रसो और रस-सिद्धात की कोई आवश्यकता ही अनुभव नही करते। इन विचारको का कहना है कि "काव्य के नौ रसो से नये साहित्य की परख नही हो सकती। जीवन की धाराएँ एक-दूसरे से इतनी मिली-जुली है कि नौ रसो की मेड बाँधकर उन्हे अपने मन के मुताबिक नही बढाया जा सकता। प्रेमचन्द के साहित्य ने यह सिद्ध कर दिया है कि इस नये साहित्य को परखने के लिए युग के अनुकूल नए सिद्धान्त ढूँढने होगे। इसलिए साहित्य के सामने यह समस्या नही है कि रस नौ होते है या इससे ज्यादा, और 'गबन' मे शृगार है या रसाभास। इन सचारी-व्यभिचारी भावो को रटा-रटा कर हम अपने विद्यार्थियो को साहित्य की प्रगति से दूर रखने का विफल प्रयास कर रहे है। साहित्यकार सामाजिक उत्तरदायित्व को भूलकर अगर आत्मा की अखण्डता और रस के स्वयप्रकाश अलौकिक ब्रह्मानन्द-सहोदर होने की बाते दोहराता रहेगा, तो वर्गहीन समाज के निर्माण मे सहायक न हो सकेगा।"

(डा० रामविलास शर्मा 'रस सिद्धात और आधुनिक साहित्य')

रस और रस-सिद्धान्त के सम्बन्ध मे ऐसी धारणा के कई कारण है। एक तो यह कि काव्यरस के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान पाने का कष्ट बहुत कम लोग करते है। काव्य के रस के उदात्त रूप का समुचित अवलोकन और उसकी प्रतिष्ठा की आज बहुत आवश्यकता है। हमारे प्राचीन आचार्यों मे भी रसो-सम्बन्धी अनेक भ्रातियाँ पाई जाती है, जिनका निराकरण अपेक्षित है। प्राचीन आचार्य भी काव्यरस मे उदात्त तत्त्व की प्रतिष्ठा भली प्रकार नही कर सके थे। उनके लिए सभवत शृगार रस की कामुकतापूर्ण उक्ति भी रस का उदाहरण थी और त्याग, कर्त्तव्य, साहस आदि उदात्त-भावनाओ से परिपूर्ण प्रेम का चित्रण भी शृगार रस का उदाहरण था। दोनो मे श्रेष्ठता की दृष्टि से परख का विचार उनके सम्मुख था ही नही। यही कारण है कि रसानुभूति की श्रेष्ठता की कसौटी वे हमे प्रदान नही कर सके।

रस-सिद्धात पर सदेह का दूसरा बडा कारण यह है कि आजतक हम अपनी रस-दृष्टि केवल इस बात मे ही सीमित किये है कि अमुक रचना मे कौन-कौन-सा रस है, किस रस की प्रधानता है। अर्थात् हमारी रस-दृष्टि केवल रस गिनाने तक ही सीमित रहती है। हम भावो और रसो की जीवनोपयोगिता तथा उनके आधार पर कवि या लेखक की सम्पूर्ण रचना-प्रक्रिया का विश्लेषण करते ही नही और इस प्रकार

रस-सिद्धात एक सीमित समीक्षा-सिद्धात प्रतीत होता है। ऐसा लगता है कि उसका समाज और जीवन की प्रगति से विशेष सम्बन्ध नही कि वह वैयक्तिक आनन्दानुभूति-मात्र है।

काव्यरस के उदात्त रूप का स्पष्ट प्रतिपादन और रस-सम्बन्धी समस्त भ्रातियो का निराकरण आवश्यक है। उदात्त रस के जिस रूप-स्वरूप की प्रतिष्ठा हमने की है, उसमे जीवन की सम्पूर्ण उदात्तता को समाहित करने की शक्ति है। जीवन के वैषम्य पर क्षुब्ध, करुणार्द्र या अन्याय के प्रति घृणा से प्लावित हुए बिना अर्थात् भावानुभूति या रसानुभूति के बिना कोई व्यक्ति वर्गहीन या वैषम्यहीन समाज के निर्माण मे प्रवृत्त हो ही नही सकता, या यो कहे कि काव्य मे सामाजिक विषमता के प्रति लेखक की घृणात्मक तथा करुणामय प्रतिक्रिया ही, जो निश्चय ही रसानुभूति है, वर्गहीन समाज के निर्माण मे सहायक होगी। अत रस की अवहेलना करना भ्राति है। हमे अपनी रसदृष्टि को व्यापक और उदात्त बनाना है। ऐसी उदात्त रसदृष्टि को ही हमे आलोचना का आदर्श मानदण्ड घोषित करना है जिसमे नैतिक मूल्याकन का मान-दण्ड तथा समीक्षा की ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक तुलनात्मक, समाज-शास्त्रीय आदि सभी शैलियाँ और भिन्न-भिन्न साहित्यरूपो के भिन्न-भिन्न रचना-विधान से सम्बन्धित तत्त्व समन्वित हो। ऐसी व्यापक रसदृष्टि की स्थापना का ही प्रयास हमने यहाँ किया है।

वर्तमान युग को मै रस-सिद्धात का स्वर्णयुग मानता हूँ। रस-सिद्धात का जितना प्रचण्ड विरोध इस युग मे हुआ है, हो रहा है, उतना पहले कभी नहीं हुआ, पर साथ ही रस-सिद्धात का जैसा स्पष्ट और उपयोगी प्रतिपादन इस युग मे हुआ है और हो रहा है, वैसा पहले कभी सम्भव नही हुआ। आचार्य शुक्ल ने बडे विश्वास से घोषित किया था कि अपनी रस-पद्धति से हम सब देशो के सब भाषाओ के साहित्य का समुचित मूल्याकन कर सकते है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, आचार्य डा० नगेन्द्र आदि विद्वानो ने भी रस-सिद्धान्त के महत्त्व की प्रतिष्ठा की है और उसे नवीन वैज्ञानिक दीप्ति प्रदान की है।

उदात्त रस-सिद्धात :

उदात्त भावानुभूति ही रसानुभूति है। हमारे आचार्यों ने भावो के उदात्त प्रेषणीय रूप को ही काव्य के 'स्थायी भाव' निश्चित किया हे। मनोविज्ञान की दृष्टि से तो ईर्ष्या, लोभ आदि भाव भी स्थायी वृत्तियाँ या भाव (Sentiments) है, पर इनका उदात्त प्रेषणीय रूप सम्भव न होने के कारण आचार्यों ने इन्हे काव्यगत स्थायी भावो की कोटि मे नही गिना। यही नही, क्रोध, घृणा, भय आदि भावो का उदात्तरूप ही रस का आधार (स्थायी भाव) बनता है। अत्याचारी रावण को भी सीता पर

क्रोध आता है, और एक व्यक्ति मामूली-सी बात पर भी क्रुद्ध हो सकता है, पर क्रोध के इन रूपो का रौद्र-रस से कोई सम्बन्ध नही । रौद्र-रस का विषय तो उदात्त क्रोध भाव ही बनेगा । किसी अत्याचारी के प्रति क्रोध ही उदात्त क्रोध होगा और यही रौद्र रस का विषय कहलाएगा । अत हमारी रसानुभूति प्राय उदात्त भावानुभूति ही है । सभी रसो के स्थायी भाव स्पृहणीय-प्रेषणीय उदात्त भाव है । पाश्चात्य मनोविज्ञान के 'सेटिमेट' ही हमारे स्थायी भाव नही है, बल्कि 'सेटिमेट' के उदात्त रूप ही काव्यगत स्थायी भाव बन सकते है । हम अपनी रस-पद्धति के समुचित अध्ययन से यह सिद्ध करेगे कि हमारा रस-सिद्धान्त समीक्षा का सर्वमान्य सिद्धान्त बनने और काव्य की कसौटी कहलाने मे पूर्ण समर्थ है ।

काव्य का स्वरूप और काव्य की कसौटी अधिकाश भारतीय और पाश्चात्य विद्वानो ने काव्य का मानदण्ड या काव्य की कसौटी की खोज करने मे काव्य के स्वरूप का ही अनुसधान किया है । पर काव्य का स्वरूप या लक्षण जहाँ एक व्यापक विषय है, वहाँ काव्य की कसौटी से अभिप्राय है, काव्य की श्रेष्ठता का मानदण्ड । काव्य के स्वरूप-निर्धारण मे तो हमे यह ख्याल रखना पडेगा कि उसकी परिधि मे सभी प्रकार का उत्तम-मध्यम काव्य समाहित किया जा सके, इस दृष्टि से व्यापक परिभाषा या स्वरूप-लक्षण खोजना होगा । किन्तु काव्य की श्रेष्ठता मे उस प्रमुख तत्त्व का सधान आवश्यक है, जिससे काव्य महान् या श्रेष्ठ बनता है । पाश्चात्य सौष्ठववादियो या आनन्दवादी विचारको ने सौन्दर्य या आनन्द को जो काव्य का मान बताया है, वह वस्तुत काव्य का स्वरूप-निर्धारण ही था । इसी प्रकार भारतीय आचार्यों ने जो काव्य की आत्मा का गवेषण किया वह भी काव्य के लक्षण या स्वरूप की खोज ही कही जा सकती है । भरत मुनि से लेकर पडितराज जगन्नाथ तक लगभग अठारह सौ वर्षो की दीर्घ साहित्य-शास्त्र-परपरा भारतीय आचार्यो की सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति और काव्य-मर्मज्ञता की परिचायक है । अलकार, रीति, रस, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि कई सिद्धान्तो का जो निर्माण इस परम्परा मे हुआ, उसमे काव्य के स्वरूप या उसकी आत्मा पर विस्तृत प्रकाश पडा, इसमे सन्देह नही । पर काव्य की कसौटी हमारे आचार्य प्रदान नही कर सके । रसवादी आचार्यो ने ही इस दिशा मे कुछ सफलता पाई, पर कोरे रस या आनन्द को भी काव्य की कसौटी नही माना जा सकता । वास्तव मे उदात्त रस-भाव ही काव्य की कसौटी अर्थात् श्रेष्ठ काव्य का स्वरूप है, यह तथ्य प्राचीन आचार्य स्पष्ट शब्दो मे नही बता सके थे ।

काव्यात्मा की गवेषणा :

प्राचीन काव्य-शास्त्र के प्रमुख छ· सिद्धात—रस, अलकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति और औचित्य सिद्धात —वस्तुत काव्य के स्वरूप, काव्य-लक्षण, काव्य की उत्कृष्टता

के मानदण्ड अर्थात् काव्य की आत्मा के अनुसधान से ही सम्बन्धित है। इन सिद्धातो के अन्तर्गत काव्य के दोनो पक्षो—विषयपक्ष और शैली-पक्ष पर समुचित प्रकाश पडा है। रस, ध्वनि और औचित्य ये तीन सिद्धात विषयपक्ष से सम्बन्धित है और विषय की उत्कृष्टता का ही अन्तिम उद्देश्य रखते है, किन्तु अलकार, रीति और वक्रोक्ति का आधार भी अभिव्यक्ति-शैली है और उद्देश्य भी शैली की उत्कृष्टता है। काव्यात्मा का अन्वेषण सभी सिद्धातो मे काव्य की रमणीयता या सुन्दरता अथवा आह्लादकता के मूल कारण की खोज रहा है। रसवादियो को आह्लादकता का मूल भावजन्य रस मे प्रतीत हुआ तो ध्वनिवादियो को वह रसादि की व्यग्य-ध्वनि मे, अलकारवादियो को अलकार-विधान मे, रीतिवादी वामन को गुण-रीति-योजना मे, वक्रोक्तिवादी कुतक को वक्रोक्ति मे तथा औचित्यवादी क्षेमेन्द्र ने काव्य-सौन्दर्य का आधार रस आदि काव्य-तत्त्वो के औचित्यपूर्ण विधान मे ही अनुभव किया। सब सिद्धात शब्दार्थ को काव्य-शरीर मानकर चले है, इस दृष्टि से सबका प्रस्थान-बिन्दु तो एक ही है, पर मार्ग और गतव्य भिन्न-भिन्न हैं। अलकार, रीति और वक्रोक्ति शब्दार्थ-चमत्कार को आधार बनाते हुए, उसी से आरम्भ करते है, शब्दार्थ-चमत्कार का ही मार्ग ग्रहण करते है और रस-भाव को भी शब्दार्थ-चमत्कार (अलकार) मे समेटते हुए शब्दार्थ-चमत्कार मे ही विश्राति पाते है, किन्तु रस, ध्वनि और औचित्य शब्दार्थ से आरभ करके शब्दार्थ-चमत्कार मे नही उलझते, अपितु रस-भाव, विषय-ध्वनि या विषय-औचित्य को ही अपना लक्ष्य बनाते है। इस प्रकार अलकारादि तीन सिद्धातो को शैली या अलकार-सिद्धात कह सकते हैं। इन सिद्धातो और सम्प्रदायो का प्रवर्तन काव्यात्मा की गवेषणा का ही प्रतिफल है।

अलकार-सम्प्रदाय नाट्य शास्त्र मे भरतमुनि ने रस को नाट्य मे प्रधान घोषित किया था। पर आगे लगभग ईसा की आठवी शताब्दी तक रस की प्रधानता का दृष्टि-कोण दबा-सा रहा। सभवत. भामह आदि अलकारवादियो ने दृश्य-काव्य (नाटक) मे ही रस की प्रधानता समझी और इसी से अपने श्रव्य-काव्य-निरूपण मे काव्य के सौन्दर्य-कारक सर्वातिशायी तत्त्व की खोज की। शब्द-अर्थ दोनो के सहभाव को ये आलंकारिक काव्य मानते थे। इनके सामने प्रमुख प्रश्न यह था कि शब्दार्थ-रूप काव्य की सुन्दरता का मूल कारण क्या है ? भामह, दण्डी, उद्भट आदि आलकारिको की दृष्टि अलकार पर गई। सस्कृत के उक्ति-वैचित्र्यपूर्ण मुक्तक काव्य की ओर इन आलकारिको का ध्यान विशेष केन्द्रित रहा। यद्यपि रूपक, उपमा आदि कतिपय अलकारो की चर्चा भरत ने भी की थी (भरत ने वाचिक अभिनय मे उपमा, रूपक, दीपक, यमक—इन चार अलकारो का विवेचन इन्हे रसाश्रित मानकर ही किया था), पर अलकारो को प्रधानता देकर विधिवत् अलकार-शास्त्र का सर्वप्रथम प्रवर्तन भामह ने

अपने 'काव्यालकार' मे किया। भामह ने **'न कान्तम् अपि निर्भूष विभाति वितना मुखम्'** के आधार पर काव्य मे अलकार की प्रमुखता घोषित की। यद्यपि भामह ने उपमा-श्लेषादि अर्थ शब्दालकारो के अतिरिक्त रीति, गुण, रस आदि सौन्दर्य-तत्त्वो को भी पहचाना, पर इन्हे भी अपने अलकार अभिधान के अन्तर्गत सम्मिलित कर लिया। अलकारवादी आचार्यों ने रस को रसवत् अलकार कहा। काव्य मे आह्लाद या चमत्कार की सृष्टि अलकार से होती है और क्योकि रस के उपनिबध से भी आह्लाद पैदा होता है, इसलिए रस भी अलकार है। भामह आदि ने महाकाव्य मे इसकी विशेष आवश्यकता मानी। पर सामान्यत इनके अलकार-सिद्धात मे रस गौण ही बना रहा। भामह द्वारा सब अलकारो के मूल मे वक्रोक्ति मानना यह सिद्ध करता है कि उनकी दृष्टि मुख्यत उक्ति अर्थात् अभिव्यजना-शैली पर ही केन्द्रित रही, अभिव्यंजित या वर्ण्य के महत्त्व की ओर इनका ध्यान नही जा सका। रस के आह्लाद को भी इन्होने उक्ति का आह्लाद मान लिया।

दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' मे भामह की वक्रोक्ति के स्थान पर अतिशयोक्ति को अलकारो का मूल कहा। अभिप्राय की दृष्टि से भामह की वक्रोक्ति और दण्डी की अतिशयोक्ति मे समानता है। दण्डी ने स्पष्ट शब्दो मे अलकारो को काव्य-शोभा का उत्पादक माना। अलकारवादी आचार्य रुद्रट ने सर्वप्रथम रसो के स्वतन्त्र रूप को समझा। किन्तु रस की महत्ता मानते हुए भी उन्होने अलकार को प्रधानता दी। परवर्ती अलकारवादियो—प्रतिहारेन्दु राज (९वी शती), जयदेव (१२ वी शती) आदि ने भी अलकार की प्रधानता का मत चलाना चाहा था, पर इस समय तक आनन्दवर्द्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट आदि रस-ध्वनिवादी समर्थ आचार्यो द्वारा ध्वनि एव रस-सिद्धात की पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी। अत अलकारवादी अलकार-प्राधान्य का मत नही चल पाया। यद्यपि भामह, दण्डी, उद्भट आदि ने अलकार के अन्तर्गत रस, गुणादि सभी तत्त्वो को सम्मिलित करके अलकार को व्यापकता प्रदान करनी चाही थी, पर व्यवहार मे अलकार से अभिप्राय श्लेष-उपमादि शब्दार्थालकार-रूप अलकारो से ही रहा। रस, ध्वनि तथा औचित्य सिद्धातो के अन्तर्गत, अलकार-अलकार्य का भेद स्पष्ट होने पर, अलकारो को भाषा के प्रसाधन-रूप मे रस-भाव-विषय-वस्तु का उपकारक या सहायक ही माना गया। इस प्रकार यद्यपि अलकार-सिद्धात की काव्यात्म सिद्धात के रूप मे मान्यता नही रही, तथापि इस सिद्धात और सम्प्रदाय की महत्त्वपूर्ण देन भारतीय काव्यशास्त्र का गौरव है। अलकार को काव्य-आत्मा तो स्पष्ट शब्दो मे इन्होने नही कहा, पर अलकारो की प्रधानता से इनका तात्पर्य यही था। चाहे ये काव्य के अतरग तत्त्व की सही खोज नही कर पाये, पर भाषा के सौन्दर्य-प्रसाधन-रूप मे सैकडो की सख्या मे (पण्डितराज तक पहुचते-पहुचते अलकारो की सख्या २०० के लगभग हो गई थी) अलकारो और उनके सूक्ष्म भेदोपभेदो का जो विस्तृत निरूपण हुआ, वह

एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी। साथ ही अलकारवादी आचार्यों को ही इस बात का श्रेय है कि उन्होने भारतीय काव्य-शास्त्र के इस क्षेत्र मे विचारोत्तेजना पैदा की। भरत मुनि के पश्चात् ईसा की आरम्भिक चार-पाँच शताब्दियो मे भारतीय काव्य-चितन मद पड गया था। उसे उद्बुद्ध कर तीव्र गति प्रदान करने का गौरव भामह, दण्डी आदि अलकारवादियो को ही दिया जा सकता है।

रीति-सिद्धात . रीति-सिद्धात के उद्भावक आचार्य वामन (८ वी शती) ने रीति को काव्य की आत्मा घोषित किया **'रीतिरात्मा काव्यस्य'**। उन्होने विशिष्ट पद-रचना को रीति कहा और रीति मे विशिष्टता लाने वाले रीति के प्राणभूत तत्त्व गुणो को माना। गुण से उनका अभिप्राय काव्य को शोभित करने वाले काव्य के नित्यधर्म से है। अलकार स्वत ही अनित्य धर्म हो गए। वामन ने गुणो पर आश्रित रीति को महत्त्व दिया।

अलकारवादी दण्डी ने रीति को गुणो से सम्बन्धित मानकर सर्वगुण-सम्पन्न वैदर्भी रीति की श्रेष्ठता स्वीकार की थी। दण्डी के इसी सूत्र से सकेत पाकर वामन ने रीति को काव्यात्मा घोषित किया। यद्यपि अलकारवादियो की तरह वामन की दृष्टि भी उक्ति-वैचित्र्य पर केन्द्रित रही, तथापि वामन ने काव्य-चितन को निश्चित ही अलकारवादियो से एक पग आगे बढाया। उन्होने रीति को अभिव्यक्ति शैली (Style of expression) मानकर उसका महत्त्व बताया। रीति के एक अग अलकार को वह प्रमुख कैसे मान सकते थे ? वामन ने रसो को भी कान्ति गुण के अन्तर्गत सम्मिलित करके रीति का ही अग बना दिया। यद्यपि वामन भी अलकारवादियो की तरह काव्य के आत्मपक्ष—अनुभूतिपक्ष (रस-भावादि) को काव्यात्मा के रूप मे नही पहचान सके, तथापि इनका दृष्टिकोण अलकारवादियो से एक कदम आगे काव्य-आत्मा की ओर बढा हुआ अवश्य कहा जा सकता है। रीति या अभिव्यजना-शैली काव्य का अनिवार्य तत्त्व है, जबकि अलकार उसका एक अनित्य साधन-मात्र है। अत अनिवार्य तत्त्व को अलकार पर वरीयता प्रदान करना वामन की सुलझी हुई दृष्टि का परिणाम है।

ध्वनि-सम्प्रदाय —९ वी शताब्दी के आरम्भ मे भारतीय काव्य-शास्त्र के इतिहास मे एक ऐसे विद्वान् आचार्य का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने काव्य की प्रचलित भ्रातियो का खण्डन करके व्यापक और शाश्वत काव्य-मतो की निर्भ्रान्त मौलिक स्थापना की। आचार्य आनन्दवर्द्धन ने एक साथ रस, ध्वनि और औचित्य—तीन सम्बद्ध आत्मवादी सिद्धान्तो का प्रवर्तन एव प्रतिष्ठापन किया। ध्वनि-सिद्धात के निरूपण द्वारा उन्होने रस-सिद्धान्त का विस्तार किया। साथ ही औचित्य की दृष्टि जगाकर रस तथा काव्य के विभिन्न अगो की रसानुकूल सयोजना की मर्यादा समझाई। काव्य-सिद्धातो का व्यापक एव गम्भीर विवेचन उन्होने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' मे किया।

आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा घोषित किया। ध्वनि से उनका अभिप्राय कवि-अनुभूति-रूप कथ्य से है, जो वाचक शब्दो की अपेक्षा व्यजक शब्दो द्वारा मार्मिकता से प्रकट होता है। आनन्दवर्द्धन ने इसके तीन भेद किये, रस-ध्वनि, अलकार-ध्वनि और वस्तु-ध्वनि। रस-सिद्धात का अध्ययन मूलत नाट्य के विवेचन-प्रसग मे ही हुआ था। विभावादि के सयोजन से निष्पन्न परिनिष्ठित रस नाट्य मे तो विस्तृत अभिव्यक्ति पा सकता था, पर स्फुट मुक्तको मे रस के विकास के लिए पर्याप्त स्थान न होने के कारण रस की अनिवार्य स्थिति पर सदेह किया जा रहा था। रस से अभिप्राय आरम्भ मे परिनिष्ठित रस से ही था। अत ऐसे रस को काव्यात्मा मानने पर अनेक रमणीय मुक्तक छन्दो, सूक्तियो को काव्य की सीमा से बाहर ही करना पडेगा, जिनमे मात्र वस्तु-चित्र हो या किसी भाव-तथ्य का मार्मिक कथन हो और रस-परम्परा का अभाव हो। ध्वनि को काव्यात्मा मान लेने पर काव्य-लक्षण का विस्तार हुआ। शास्त्रीय (परिनिष्ठित) रसयुक्त ही नही, अपितु भाव, विचार, वस्तु आदि को ध्वनित करने वाली मुक्तक रचनाएँ भी काव्य-परिधि मे सम्मिलित हो सकती है। काव्य-लक्षण-निर्माण मे इतने उदार होने पर भी ध्वनिवादी आनन्दवर्द्धन ने काव्य की श्रेष्ठता का मान अर्थात् काव्य की कसौटी रस को ही माना। उन्होने सब ध्वनियो मे रस-ध्वनि को श्रेष्ठ मानकर रस-सिद्धान्त की ही प्रतिष्ठा की। रस वाचक शब्दो से प्रकट नही होता, अपितु विभावादि के चित्रण से ध्वनित होता है, इसीलिए आनन्द-वर्द्धन ने रस को ध्वनि माना। यही नही, उन्होने रस-क्षेत्र का विस्तार करते हुए कहा कि अन्तत कवि के सब भाव, तथ्य, अलकार-योजना आदि सब किसी-न-किसी रस या भाव से ही सम्बन्ध रखते है। रस-ध्वनि के अन्तर्गत रस, रसाभास, भाव, भावाभास, भावोदय, भावशाति, भावसधि, भावशबलता आदि को ग्रहण करना रस-क्षेत्र का ही विस्तार सूचित करता है। इस प्रकार आनन्दवर्द्धन ने अलकारवाद के भार से दबे रस-सिद्धात का पुनरुत्थान किया। औचित्य-सिद्धात का निरूपण करके आनन्दवर्द्धन ने रस-ध्वनि की मर्यादा निश्चित की और सभी काव्यागो के औचित्यपूर्ण सयोजन का मार्ग सुझाया।

अभिनवगुप्त (दसवी शताब्दी) आनन्दवर्द्धन के सिद्धातो के अत्यन्त प्रबुद्ध एव समर्थ व्याख्याता हुए है। उनके प्रतिभापूर्ण समर्थन से रस-ध्वनि-सिद्धात की अपूर्व प्रतिष्ठा हुई। अभिनवगुप्त ने भरत के रस-सूत्र की भी मार्मिक व्याख्या की। इन्होने अपनी 'अभिनव भारती' रचना मे भरत के 'नाट्य शास्त्र' की तथा 'लोचन' मे 'ध्वन्या-लोक' की टीका एव प्रतिभापूर्ण व्याख्या प्रस्तुत की।

औचित्य सिद्धात ११ वी शताब्दी के आरम्भ मे आचार्य क्षेमेन्द्र ने आनन्द-वर्द्धन से ही दिशा और प्रेरणा पाकर औचित्य सिद्धात का स्वतत्र प्रतिपादन किया। क्षेमेन्द्र ने अपनी रचना 'औचित्य विचार चर्चा' मे औचित्य की काव्य के सर्वातिशायी तत्त्व के रूप मे प्रतिष्ठा की। किन्तु क्षेमेन्द्र भी मूलत रसवादी आचार्य थे क्योकि उन्होने स्पष्ट शब्दो मे रस को ही काव्य की आत्मा माना है और औचित्य को रस का जीवितभूत (जीवन) कहा है। अभिनव गुप्त ने औचित्य से सवलित रस-ध्वनि को काव्य की आत्मा कहा था। अत अपने गुरु अभिनव गुप्त से सकेत पाकर क्षेमेन्द्र ने औचित्य को रस-सिद्ध काव्य का जीवित कहा

काव्यस्य अलम् अलकारै किं मिथ्या गणितैर्गुणैः ।
यस्य जीवितमौचित्य विचिन्त्यापि न दृश्यते ॥४॥
अलकारास्त्वलकारा गुणा एव गुणाः सदा ।
औचित्य रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ॥५॥

अर्थात् यदि काव्य मे ढूढने पर भी औचित्य दिखाई न दे तो उसके अलकारो से क्या लाभ ? गुणो की मिथ्या गणना से भी क्या होगा ? अलकार तो अलकार (सौन्दर्य-साधन) ही है और गुण भी (शौर्यादि) गुण ही है । रस-सिद्ध काव्य का स्थायी जीवन तो औचित्य ही है ।

ध्यान देने की बात यह है कि क्षेमेन्द्र ने रस और काव्य को अभिन्न माना है । इन कारिकाओ से पहली-तीसरी कारिका मे उन्होंने औचित्य को 'रस जीवित-भूतस्य' कहा है । अत. क्षेमेन्द्र ने औचित्य को रस-सिद्धि या काव्य-सिद्धि का जीवित स्थिर तत्त्व माना है । अत औचित्य सिद्धात मे औचित्य-सवलित रस की ही काव्यात्मा के रूप मे प्रतिष्ठा हुई ।

वक्रोति सिद्धान्त—रस-ध्वनि की आनन्दवर्द्धन ने जो निर्भ्रान्त प्रतिष्ठा की, उससे सैकडो वर्षों से प्रचलित अलकारवादी मत खण्डित हो गया । अलकारवादी विचारको को इससे बडा धक्का लगा । इसकी प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी । १२ वी शताब्दी मे जयदेव ने मम्मट के 'अनलकृति पुन क्वापि' का जो यह तीक्ष्ण उत्तर दिया, वह इस प्रतिक्रिया का स्पष्ट प्रमाण है "जो काव्य के अलकाररहित होने की कल्पना करता है वह अग्नि को भी उष्णतारहित क्यो नही मानता ?" इससे भी पूर्व ११ वी शताब्दी के आरम्भ मे इसी प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति सिद्धात का प्रवर्त्तन किया । अभिव्यक्ति शैली मे ही काव्य के मूल सौन्दर्य को खोजने की प्रवृत्ति ने वक्रोति-सिद्धात को जन्म दिया । कुन्तक को वक्रोक्ति की कल्पना का आधार भामह से मिला । भाम ने सभी अलकारो के मूल मे वक्रोक्ति मानी थी । इसी सकेत को पाकर तथा दण्डी की अतिशयोक्ति-धारणा को भी अनुकूल पाकर कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा घोषित किया । साधारण इतिवृत्त या वाचक शब्दो वाली शैली से भिन्न वैचित्र्यपूर्ण विदग्ध भणिति को ही वक्रोक्ति माना गया । कुन्तक ने वक्रोक्ति को अलकार-विशेष के सीमित रूप से आगे कवि-व्यापार का समग्र-रूप प्रदान करना चाहा । उन्होने कवि-व्यापार-वक्रता के ६ भेद किये—(१) वर्णविन्यासवक्रता, (२) पदपूर्वार्द्ध-वक्रता, (३) पदपरार्द्ध-वक्रता, (४) वाक्य-वक्रता, (५) प्रकरण-वक्रता और (६) प्रबन्ध वक्रता । वाक्य वक्रता के अन्तर्गत कुन्तक ने अलकारो को स्थान दिया और रसवदलकार, प्रेयस तथा ऊर्जस्वि अलकारो के रूप मे ही रस-भाव की गणना की है । इस प्रकार अलकार, गुण, रस, भाव, रीति और ध्वनि आदि सम्पूर्ण काव्य-तत्त्वो को उन्होने अपनी वक्रोक्ति मे समेटने का विफल प्रयास किया । पर वक्रोक्ति को व्यापक बनाने के सारे प्रयत्न अलकारवादियो के अलकार को व्यापक बनाने के प्रयत्न समान ही विफल हो गए । कुन्तक की वक्रोक्ति काव्य की मानसिक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया पर प्रकाश नही डाल सकी । रस का महत्त्व मानते हुए भी कुन्तक ने अनुभूति-पक्ष पर विशेष ध्यान नही दिया । परवर्ती आचार्यों—रुय्यक, विश्वनाथ आदि ने इस मत का स्पष्ट खण्डन कर दिया ।

आनन्दवर्द्धन द्वारा प्रतिष्ठित और अभिनव गुप्त द्वारा समर्थित रस-ध्वनि-

सिद्धात की समुचित प्रतिष्ठा मम्मटाचार्य, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि परवर्ती आचार्यों ने की। रस-सिद्धात मे रीति, अलकार, गुण, वक्रोक्ति, ध्वनि, औचित्य सिद्धातो और काव्य-तत्वो का पूर्ण समन्वय मम्मट ने ही प्रस्तुत कर दिया था। महापात्र विश्वनाथ ने इन सबका रूपकमय आलकारिक समन्वय करते हुए कहा है "शब्द और अर्थ काव्य-पुरुष का शरीर है, रस और भाव उसकी आत्मा, शूरता, दयादाक्षिण्य आदि के समान माधुर्य, ओज, प्रसाद आदि उस काव्य-पुरुष के गुण है और कणत्व, बधिरत्व, खजत्व आदि के समान श्रुतिकटुत्व, ग्राम्यत्व आदि दोष है, वैदर्भी, पाचाली और गौडी रीतियाँ उसके भिन्न-भिन्न अवयवो का गठन है, कुण्डल, ककण आदि आभूषणो की ही तरह काव्य के शब्दार्थगत अलकार उस काव्य-पुरुष की शोभा के विधायक है।"

इस प्रकार भरत मुनि आदि प्राचीन आचार्यो द्वारा उद्भावित, भामह, दडी, वामन आदि द्वारा गौणरूप मे स्वीकृत, तथा आनन्दवर्द्धन और अभिनवगुप्त द्वारा पूर्ण प्रतिष्ठित एव मम्मट, विश्वनाथ द्वारा समजसित रस सिद्धात भारतीय काव्य-शास्त्र की एक ऐसी महत्वपूर्ण उपलब्धि है, जो भारतीय काव्य-शास्त्र को विश्व-साहित्य-दर्शन मे गौरवपूर्ण स्थान प्रदान करती है। भारतीय काव्य-शास्त्रियो ने एक ओर काव्यात्मा का भव्य आविष्कार किया, दूसरी ओर नाटक, श्रव्यकाव्य, महाकाव्य, आख्यायिका आदि काव्यरूपो के रचना-तत्वो की विस्तृत मीमासा की तथा काव्य-लक्षण, काव्य-प्रयोजन, कवि-प्रतिभा, काव्य की प्रेरणा, छन्द-शास्त्र आदि भिन्न-भिन्न काव्यागो का मार्मिक विवेचन एव निरूपण किया। निस्सदेह भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा अत्यन्त समृद्ध है। आधुनिक युग मे यह और भी पुष्ट हुई है और हो रही है।

काव्यानन्द ध्वनिकार का यह लक्षण—"सहृदयऽह्लादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्" अर्थात् सहृदय को आह्लादित करने वाला शब्दार्थ ही काव्य है, पडितराज की यह परिभाषा, "रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द काव्यम्" अर्थात् रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाले शब्द को काव्य कहते है, तथा विश्वनाथ की "रसात्मक वाक्य काव्य" आदि सब परिभाषाये और लक्षण मन को आनन्दित करने से सम्बन्ध रखते है। प्लेटो से लेकर आधुनिक काल के रिचर्ड्स, इलियट आदि प्राय सब पाश्चात्य समीक्षक तथा सभी भारतीय आचार्य काव्य की कसौटी आनन्द ही स्वीकार करते है। जिस रचना मे जितना अधिक आनन्द प्रदान करने की क्षमता होगी, वह उतनी ही श्रेष्ठ मानी जायगी। पर प्रश्न उठता है, कैसा आनन्द? काव्यानन्द का क्या स्वरूप है? सर्वोत्तम काव्य-आनन्द किसे माने? निरर्थक किन्तु सगीतमय मधुर पदावली भी आह्लादकारी होती है, चमत्कारपूर्ण सूक्ति से भी कुछ-न-कुछ आनन्द मिलता ही है, कौतूहलपूर्ण घटनाओ के पढने या सुनने मे भी मन आनन्द प्राप्त करता है, ज्ञान के जिज्ञासुओ को बौद्धिक विचार-तत्त्व मे भी आनन्द आ सकता है तथा अपरिष्कृत रुचि वाले व्यक्ति अश्लील एव गदी कहानियो के पढने मे मजा लेते है। पर सच्चा काव्यानन्द इन मे शायद ही किसी को माना जाय। काव्यानन्द या काव्यरस न तो सतरे का रस है और न ही लौकिक अनुभूति-जन्य आनन्द। न यह शतरज, ताश आदि खेलो का मनोरजन है, न नाच-तमाशे का आनन्द। वस्तुत काव्यानन्द उदात्त भावजन्य आनन्द है, जो सहृदय को हृदय की मुक्त दशा अथवा सत्त्वोद्रेक की दशा मे प्राप्त होता है।

सार्थक 'अलकार-ध्वनि' तथा "वस्तु-ध्वनि" भी किसी-न-किसी भाव की ओर इगित अवश्य करेगी, इसी से ध्वनिकार ने उसके आह्लाद को भी काव्य की आत्मा

माना । पर ये दोनो भाव की पुष्ट अनुभूति नही कराती । अत 'रस ध्वनि' से ये निकृष्ट कोटि की ध्वनियाँ है । इस प्रकार 'रस ध्वनि' को सर्वश्रेष्ठ मानकर एक तरह से ध्वनिवादियो ने 'वस्तु ध्वनि' और 'अलकार-ध्वनि का पर्यवसान' 'रस' मे ही सिद्ध किया है । आनन्दवर्द्धन का स्पष्ट कथन है कि "यद्यपि प्रतीयमान (व्यंग्यार्थ) के और (वस्तु-अलकार ध्वनि आदि) भी भेद दिखाए गए है, परन्तु रस-प्राधान्य के कारण रस-भाव द्वारा ही उसका उपलक्षण (ज्ञापन) होता है ।" वास्तव मे काव्य के लक्षण निर्धारण मे तो ध्वनिकार की दृष्टि पूर्णतया व्यापक रही है, इसी से उन्होने अलकार या वस्तु ध्वनि को ही नही, अपितु प्रतीयमान या व्यग्य के अभाव मे 'चित्र काव्य' को भी काव्य की सज्ञा देने मे सकोच नही किया । उन्होने कहा कि "जहाँ वस्तु या अलकार-ध्वनि न हो, उसे चित्रकाव्य का विषय भले ही माना जाए, पर काव्य मे किसी वस्तु का सस्पर्श न हो, यह युक्तिसगत नही । ससार की सब वस्तुएँ किसी रस या भाव का अग अवश्य बन जाती है । ऐसी कोई वस्तु नही जो किसी प्रकार की चित्तवृत्ति को उत्पन्न न करे ।" (ध्वन्यालोक चित्र काव्यस्य स्वरूपम्) ।

रस ही काव्य की कसौटी है : काव्य-लक्षण-निर्माण में इतने उदार होने पर भी जब ध्वनिकार के सम्मुख काव्य की परख—उसकी उत्कृष्टता की कसौटी—का प्रश्न आता है, तो वे स्पष्ट शब्दो मे रस को ही एक-मात्र कसौटी बताते है । उन्होने स्पष्ट कहा है कि "रस-भाव को प्रवाहित करने वाली महाकवियो की वाणी ही उनकी अलौकिक प्रतिभा को व्यक्त करती है, जिसके कारण कवियो की नाना-विध परम्परा वाले इस ससार मे कालिदास आदि दो-तीन अथवा पाँच-छ ही महाकवि गिने जाते है ।" अत रस ही काव्य की कसौटी है ।

उदात्त रस ही काव्य की सर्वश्रेष्ठता का मानदण्ड ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हुआ कि रस-ध्वनि या रस ही काव्य की श्रेष्ठता का मानदण्ड है । अब प्रश्न है कि क्या सब प्रकार की रस-ध्वनि या 'विभावानुभाव सचारी' से पुष्ट सब प्रकार की रसानुभूति सर्वश्रेष्ठ काव्य की द्योतक होती है ? क्या रस को समीक्षा का व्यापक मानदण्ड बनाया जा सकना है ? क्या यह मानदण्ड इतना पूर्ण है कि हम सब देशो के, सब कालो के, सब प्रकार के साहित्य का मूल्याकन केवल रस के आधार पर कर सकते है ? श्रेष्ठतम रसानुभूति का स्वरूप क्या है ? इन गम्भीर प्रश्नो का उत्तर देने से पूर्व काव्य के प्रयोजन पर आचार्यों के विचार प्रकट करना आवश्यक है, क्योकि हमारे आचार्यों के काव्य-प्रयोजन तथा काव्य-स्वरूप-विवेचन अर्थात् काव्य-दर्शन से ही उनका समीक्षा-दर्शन ग्रहण करना पडता है । उन्होने समीक्षा या समीक्ष्यवादी की दृष्टि से समीक्षा के मानदण्डो पर विचार नही किया । काव्य से जो प्रयोजन या सिद्धि उन्हे अभिप्रेत थी, किसी रचना मे वह सिद्ध होती है या नही—यह भी उनकी समीक्षा की एक कसौटी ही समझी जा सकती है ।

जीवन की पूर्णता हमारे तत्त्वचितको ने 'अभ्युदय' और 'नि श्रेयस' स्वीकार की है । इसी से जीवन के सब पक्षो मे चतुर्वर्ग-(धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) प्राप्ति ही उनका उद्देश्य रहा है । प्राय सब साहित्याचार्यों ने भी धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष अर्थात् चतुर्वर्ग की प्राप्ति काव्य का भी प्रयोजन बताया है । आनद के साथ शिव-तत्त्व या नैतिक उपयोगिता की सिद्धि आचार्यों को मान्य थी। मम्मट ने इस सम्बन्ध मे अलौकिक आनन्द को 'सकल प्रयोजनमौलिभूत' कह कर सौन्दर्य या आनन्द को प्राथमिकता दी है । यही तो काव्य का प्राण है, इसके बिना दूसरे प्रयोजन की कोई सार्थकता ही नही । आचार्यों द्वारा

आनन्द और नैतिकता के इस समन्वय का ही परिणाम है कि हमारे यहाँ 'कलावाद', 'नीतिवाद', 'अभिव्यजनावाद', 'सौष्ठववाद' आदि वादो का वादविवाद नही खडा हुआ। हमारा रस-आनन्द ही जीवन का बहुत बडा पुरस्कार है। यह हृदय की सात्विक प्रवृत्तियो से सम्बन्ध रखता है, यह हृदय-परिष्कार और हृदय-प्रसार का द्योतक है। मनुष्य के प्रकृत रागो पर आधारित यह रस-रूप काव्यानन्द उच्च कोटि का होता है, इसमे सन्देह नही। पाश्चात्य समीक्षक रस की मनोवैज्ञानिक उच्चता को नही पा सके। वे केवल आह्लाद, मनोरजन, आनन्द, प्रभाव और बहुत हुआ तो भावानन्द तक ही अपनी काव्य-परिभाषा या काव्य-प्रयोजन ले जा सके। वे यह नही बता सके कि तीव्रतम भावानन्द की प्रक्रिया क्या है, उसका स्वरूप और अवयव क्या है। स्थायी भावो का विभावानुभाव आदि से परिपुष्ट होकर रस-दशा को प्राप्त होना ही अलौकिक आनन्द-रूप तीव्रतम भावानुभूति है—इस रहस्य का पूर्ण उद्घाटन तो भारतीय आचार्यो ने ही किया। रस सिद्धान्त को भारतीय समीक्षा का प्रतिनिधि सिद्धान्त कहा जा सकता है। भारतीय मनीषियो की हजार वर्षो की अटूट चिता-धारा से प्राप्त यह 'रस' (रससिद्धान्त) अपने मे रीति, अलकार, वक्रोक्ति, ध्वनि, औचित्य, गुणदोष आदि सब तत्वो को समाहित किए हुए है।

तो प्रश्न उठता है कि क्या रस जीवन की सम्पूर्ण उदात्तता को भी अपनी परिधि मे ले लेता है, और क्या नैतिक मूल्यो की बात उसके साथ चलाने की आवश्यकता नही? क्या रस की कसौटी सार्वकालिक और सार्वदेशिक शाश्वत कसौटी मानी जा सकती है? सब-कुछ विचार करने के पश्चात् हमे लगता है कि हमारे रस-सिद्धान्त मे कमी अवश्य है, जिसके कारण आचार्यों के रस को हम पूर्ण कसौटी के रूप मे पेश करते हुए हिचकिचाते है। इस मे सदेह नही कि हर रस-दशा हृदय की सात्विक वृत्तियो को जगाती है, पर रस की सब दशाएँ ऐसी नही मानी जा सकती, जिनमे जीवन के उदात्त तत्व अनिवार्य-रूप से समाहित हो। जैसे, रीतिकवियो का शृगार-चित्रण या आचार्यो-द्वारा विशेषकर मम्मट-द्वारा प्रस्तुत शृगार रस के उदाहरण महान् जीवनादर्शो या स्वस्थ जीवन-प्रेरणाओ से दूर ही है। आचार्यो के बीभत्स रस का माँस-मज्जा-रुधिर वाला वस्तुगत रूप भी उदात्तता से विशेष सम्बन्ध नही रखता। जीवन के उच्च मूल्यो को हम भुला नही सकते। अत भाव या रस की ऐसी परिपुष्ट दशा ही, जिसमे जीवन के उदात्त तत्व या उच्च नैतिक मूल्य भी समाहित हो, रस की सर्वश्रेष्ठ दशा कही जा सकती है। हम मानते है कि रस एक अविभाज्य, अखण्ड अभिव्यक्ति है। पर उसकी पूर्णता मे जिस प्रकार हम अलकार, रीति आदि शैली के सब श्रेष्ठ साधनो को आवश्यक मानते है अर्थात् हम कहते है कि उत्कृष्ट वर्ण-शब्द-योजना (कलात्मक अभिव्यजना) से रस की श्रेष्ठ सिद्धि होती है, उसी प्रकार हमे यह भी मानना होगा कि उच्च जीवनादर्शो मे समन्वित रस दशा रस की सर्वश्रेष्ठ और

पूर्ण दशा होगी। एक उदाहरण लीजिए। मीराँ की पदावली मे भावो की तीव्रता है, सदेह नही। किन्तु यदि उनकी पदावली सूर या महादेवी की तरह अधिक कलात्मक भी होती अर्थात् उत्कृष्ट और परिष्कृत भाषा-शैली के सब प्रसाधनो का उसमे योग होता, तो वह और भी अधिक प्रभावशाली, अधिक भावप्रवण और अधिक आह्लादकारी होती। इसी प्रकार रीति-कवियो के शृगार-चित्रण मे 'विभावानुभावसचारीसयोगाद्रमनिष्पत्ति' का पूर्ण आयोजन है। अत आचार्यो के शास्त्रीय दृष्टिकोण से वह शृगार रस है। पर उसमे जीवन के उदात्त मूल्यो का अभाव है। यदि यह शृगार-चित्रण जीवन के उच्च मूल्यो या महान् जीवनादर्शो से समन्वित होता—इस मे त्याग, उत्साह-साहस, वीरता, धीरता आदि उदात्त प्रवृत्तियो का भी योग होता तो क्या हम उसे अधिक प्रभावशाली और अधिक पुष्ट न मानते ? रीतिकाल के ही बिहारी आदि की अपेक्षा हम घनानन्द के शृगार को अपेक्षाकृत उत्तम क्यो मानते हे ? निश्चय ही इसीलिए कि घनानन्द के शृगार मे प्रेमी-जीवन की ऐन्द्रिक स्थूलता के स्थान पर मानसिक प्रेम-प्रसार, त्याग तथा नि स्वार्थता की उदात्त वृत्तियाँ अपेक्षाकृत अधिक है। अत काव्य की श्रेष्ठता के मानदण्डो मे रस के आश्रय रीति, अलकार, ध्वनि आदि अर्थात् शैली-तत्व की तरह, जीवन के उदात्त मूल्यो को भी एक तत्व मानना चाहिए। यह होगा रस के आश्रित ही अर्थात् भाव-सवेदनाओ मे गुथा हुआ। नैतिक मूल्य भी वे ही ग्राह्य होगे, जो मानवता के शाश्वत और सार्वदेशिक उच्च मूल्य है। हमारे कथन का अभिप्राय यह नही है कि नैतिक मूल्यो को काव्य की कसौटी बनाया जाय। काव्य की कसौटी तो रस ही रहेगा। ससार मे वही काव्यकृति चिर-स्थायी और सर्वश्रेष्ठ मानी जायगी जिसमे उदात्त जीवन-मूल्यो से आवेष्ठित रस की परिपुष्ट दशा होगी। अत उदात्त रस या रस के उदात्त रूप को ही काव्य की शाश्वत, सार्वदेशिक कसौटी कहा जा सकता है।

रस के साथ यह उदात्त विशेषण कोई विचित्र बात नही समझनी चाहिए। काव्य मे उदात्त भावनाओ का प्रकाशन होना चाहिए—ऐसा प्राय सभी विद्वान् कहते है। अत समीक्षा का व्यापक मानदण्ड उदात्त भावो से पुष्ट रस का उदात्त रूप मानने मे कोई आपत्ति नही होनी चाहिए। सूरदास का वात्सल्य-चित्रण और शृगार-वर्णन हिन्दी साहित्य का गौरव है। तुलसीदास शृगार और वात्सल्य का इतना उदात्त, इतना व्यापक और इतना गहन चित्रण नही कर सके। यदि 'विभावादि' से रस की परिपुष्टि के सिद्धान्त की दृष्टि से देखे तो इन रसो के प्रकाशन मे सूरदास तुलसी से उच्च कोटि के कवि माने जायेगे। पर वह क्या बात है, जो हमे सूर को तुलसी की अपेक्षा उच्च मानने से रोकती है ? निश्चय ही भाव-उदात्तता। तुलसी मे हमे उदात्त भावो से पुष्ट उदात्त रस का विस्तार अधिक मिलता है। इन दो रसो के चित्रण मे तुलसी चाहे पीछे रहे हो, पर मानवजीवन की जितनी उदात्त

वृत्तियो का उन्होने चित्रण किया है, उतना सूरदास ने नही। तुलसी की महानता नैतिकता मे नही बल्कि नीति या उदात्त जीवन-मूल्यो को रस-रूप देने मे, रस को उदात्त बनाने मे है। अत जीवन के उदात्त (महान्) आदर्श को आचार्यो के रस-सिद्धान्त का अग बनाकर उदात्त रस को समीक्षा का सर्वमान्य शाश्वत मानदण्ड बनाया जा सकता है।

हमे उदात्त रस का सिद्धान्त निरूपित करने की आवश्यकता इसी लिए अनुभव हुई है कि हमारे आचार्यो ने 'विभावानुभावसचारी सयोगाद्रसनिष्पत्ति' के विवेचन मे जीवन की उदात्तता पर ध्यान नही दिया। उच्च जीवन-तत्वो का रस से सम्बन्ध वे अच्छी तरह नही दिखा सके। वे भाव, रस, शैली तथा जीवन-मूल्यो या नीति आदि का अनिवार्य सहभाव पूरी तरह स्थापित नही कर सके। वे रस की श्रेष्ठतम अवस्था या अनुभूति को नही पकड सके। उनकी विवेचना मास-मज्जा-रुधिर के स्थूल दृश्यो मे जिस बीभत्स रस का अनुभव करती है, उसमे और करुणरस के अनुभव मे कोई अन्तर नही बताती। शृगार के स्थूल ऐन्द्रिक उदाहरण भी सभवत उन्हे उतने ही सरस प्रतीत होते थे, जितने आन्तरिक अनुभूति के मार्मिक उदाहरण। शृगार के लक्षणनिरूपण मे भरतमुनिने उसे उज्ज्वलवेषात्मक कहा है और उसका आलम्बनत्व 'उत्तम युवक-युवती' के रूप मे स्वीकार किया है।[1] शकुक ने अपनी व्याख्या मे 'वेष' शब्द का अर्थ साधारण वस्त्रालकार लेने की भूल की है, पर वास्तव मे 'उज्ज्वल वेष' शब्द यहाँ रस की विभावानुभाव-रूप समस्त सामग्री का बोधक है। अभिनवगुप्त का भी यही मत है—"जो चित्तवृत्ति को अन्यत्र व्याप्त करता है अर्थात् (अपने) बोधन द्वारा (रस रूप मे) सक्रान्त करता है वह विभाव-अनुभाव-रूप 'वेष' होता है। और जो (रत्यादि-रूप) स्थायीभाव मे समा जाते हे अर्थात् व्याप्त होते है वे व्यभिचारी भाव 'वेष' कहलाते है। वे जिमसे उज्ज्वल अर्थात् उत्कृष्ट है, उस प्रकार का स्वरूप जिसका है वह 'उज्ज्वल वेषात्मक शृगार' हुआ।"[2]

खेद है कि भरत मुनि ने तथा 'नाट्यशास्त्र' के व्याख्याकार अभिनवगुप्त ने केवल शृगार के सम्बन्ध मे ही उज्ज्वलता की बात कही, अन्य रसो के विभावानुभावादि भी उज्ज्वल अर्थात् उत्कृष्ट या उदात्त होने चाहिएँ, यह बात आचार्यो ने स्पष्टत नही कही। सब रसो के विभावादि सब अवयवो मे उदात्त तत्व होना

---

१ "तत्र शृङ्गारो नाम रतिस्थायिभावप्रभव उज्ज्वलवेषात्मक स च स्त्री-पुरुष हेतुक, उत्तमयुवप्रकृति।"—नाट्यशास्त्र (छठा अध्याय, शृङ्गार रस प्रकरणम्)।

२ "वेषयति व्यापयति चित्तवृत्तिमन्यत्रज्ञापनया सक्रामयतीति वेषो विभावानुभावात्मा। वेषयन्ति व्याप्नुवन्ति स्थायिनमितिवेषा व्यभिचारिण। ते उज्ज्वला उत्कृष्टा यस्मिन्, तथाभूत आत्मा यस्येति।"—हिन्दी अभिनवभारती (भाष्यकार आचार्य विश्वेश्वर), पृ० ५४२।

चाहिए और सब के औदात्त्य से ही उदात्त रस या रस के उदात्त रूप की निष्पत्ति सभव होती है। विभावादि की उज्ज्वलता या उदात्तता को एक उदाहरण से स्पष्ट करते है। शकुतला और दुष्यन्त के प्रेम का प्रसग लीजिए। इस मे विभावादि अर्थात् आलम्बन-रूप मे केवल नर और नारी का होना उदात्तता की दृष्टि से पर्याप्त नही है। दुष्यन्त और शकुतला दोनो की परिस्थितियाँ, दोनो का उदात्त रूप-सौन्दर्य, प्रकृति, प्रवृत्तियाँ, वेशभूषा, वातावरण आदि सब मिलकर उन्हे उदात्त रस का विषय बनाते है। अत कण्व ऋषि की पालिता, आश्रम के रम्य वातावरण मे सौन्दर्य और सौम्यता की पूर्ण प्रतिमा बनी हुई देव-कन्या, पवित्र बाला शकुतला ही पूर्ण योग्य और उदात्त आलम्बन है। किन्तु इसके साथ ही यह भी स्पष्ट है कि यदि केवल एक मुक्तक मे ही कवि किसी नर-नारी के साक्षात्कार और प्रेमोद्बोध का वर्णन करता है, तो वह भी विषय तो शृगार रस का ही होता है। उस अवस्था मे सुन्दर, युवा नर-नारी भी आलम्बन ही कहे जायेगे। पर यह स्थिति परम पुष्ट, योग्य और उदात्त आलम्बन की स्थिनि वैसी नही है, जैसी पहली शकुतला की। पहली अवस्था उदात्त है, क्योकि शकुतला की निसर्ग-सुन्दरता, पवित्रता, स्वच्छता, निष्कपटता, सदाशयता आदि बाह्य एव आन्तरिक गुणो के साथ तपोवन की पवित्रता, रम्य उपवन की चित्रमयी छटा आदि सबसे युक्त शकुतला मे जो उदात्तता (Grandeur) है, वह उदात्त शृगार रस का पूर्ण उदात्त विभावपक्ष है।

अब बीभत्स रस की दृष्टि से विचार करे। आचार्यो ने बीभत्स रस के जो आलम्बन बताए या उदाहृत किए है, वे उदात्त नही माने जा सकते। मास-मज्जा, दुर्गंधादि का वर्णन मन पर किसी उच्च भाव की छाप अकित नही कर सकता। उसकी अपेक्षा यदि कवि किसी सामाजिक बुराई का वर्णन करता है, वेश्यागामी लोगो की शराब से युक्त बीभत्स दशा का चित्रण करता है, तो यह आलम्बनत्व योग्य और उदात्त होगा। इससे हमारी उदात्त घृणा जगेगी, मानसिक उद्वेलन होगा, क्योकि मानव का ऐसा पतन हमारी नैतिक भावना के प्रतिकूल है। ऐसा आलम्बन ही उदात्त होगा, क्योकि इस का सम्बन्ध हमारी उदात्त प्रवृत्तियो से होगा। इसकी प्रतिक्रिया हमारे मन को उदात्त बनाती है। उदात्त आलम्बन से यह अभिप्राय नही कि आलम्बन अर्थात् व्यक्ति या वस्तु-विशेष महान् हो, बल्कि वह महान् प्रवृत्तियो को जगाने वाला होना चाहिए। उसकी प्रतिक्रिया हमारे मन को सबल बनाए एव परिष्कृत करे। प्राचीन आचार्यों के बीभत्स-सम्बन्धी प्राय सब और शृगार-हास्यादि अन्य रसो के भी बहुत-से आलम्बन अयोग्य और अनुदात्त प्रतीत होते है।

इसी प्रकार अनुभाव और व्यभिचारी भावो मे उदात्तता होनी चाहिए। अत उदात्त स्थायी भाव तथा विभावादि की उदात्तता से ही उदात्त रस की सिद्धि होती है। पाश्चात्य विचारको की दृष्टि समष्टि-प्रभाव तक ही रही। इस

समष्टि प्रभाव का सच्चा रूप हमारे उदात्त रस मे ही प्रकट हो सकता है। हमारे उदात्त रस की पुष्ट दशा भी समष्टि प्रभाव (Accumulated effect) ही है, क्योकि उदात्त विभावादि, उदात्त (उत्कृष्ट) भाषा-शैली, रीति, नीति, सगीत आदि सब का समन्वित रूप समष्टि-प्रभाव उत्पन्न करता है। पर हम इसे समष्टि-प्रभाव न कहकर उदात्त रस-दशा ही कहेगे। इसमे हमारे पास मान-दण्ड का वास्तविक रूप सुरक्षित रहता है।

उपर्युक्त विवेचन से हमने जिस उदात्त रस को काव्य की सर्वश्रेष्ठता का मानदण्ड निर्धारित किया है, वह साहित्य-समीक्षा का विशुद्ध साहित्यिक मान है। उसे न हम कलावादी मानदण्ड कह सकते है, न नीतिवादी, न अभिव्यजनावादी मान कह सकते है, न केवल सौष्ठववादी। उसमे उच्च कोटि की भाषा-शैली और रचना-विधान की प्रक्रिया, उच्च उदात्त विभावादि तथा महान् जीवनादर्श आदि सब तत्व अपने 'उज्ज्वलवेष' मे प्रकट होते है। यह उदात्त रस-दशा ही श्रेष्ठतम अनुभूति की दशा है, यही उत्तम प्रकार का समष्टि-प्रभाव उत्पन्न करती है। निश्चय ही इस उदात्त रस को हम काव्य की श्रेष्ठता का शाश्वत और सार्वदेशिक मानदण्ड घोषित कर सकते है।

रस के आधार पर व्यावहारिक समीक्षा हमारे यहाँ व्यावहारिक समीक्षा की सब शैलियो का समुचित विकास नही हुआ था। पाश्चात्य समीक्षा की एक बहुत बडी देन है—व्यावहारिक समीक्षा की विभिन्न शैलियाँ। ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, व्याख्यात्मक, वैज्ञानिक तुलनात्मक, प्रभाववादी, समाज-शास्त्रीय आदि समीक्षा के विभिन्न रूपो का प्रवर्त्तन करके पाश्चात्य समीक्षको ने समीक्षा या मूल्याकन की पूर्णता का मार्ग दिखाया। समीक्षा का सर्वमान्य मानदण्ड उदात्त रस को बनाया जा सकता है, किन्तु समीक्षा का व्यावहारिक पूर्ण रूप इन सब शैलियो के समन्वय मे ही सिद्ध होगा। यहाँ 'मानदण्ड' और 'व्यावहारिक पूर्णता' मे अन्तर स्पष्ट कर देना आवश्यक है। "किसी वस्तु या सिद्धान्त के सौष्ठव को नापने की कसौटी या साधन को ही मानदण्ड कहते हे। अर्थात् पहले हम श्रेष्ठता की पराकाष्ठा का एक मान स्थिर कर लेते है और फिर उसी मानके आधार पर हम किसी वस्तु या सिद्धान्त की श्रेष्ठता का विवेचन करते है।"[1] हमने उदात्त रस को साहित्य की श्रेष्ठता की पराकाष्ठा का मानदण्ड निर्धारित किया है, अर्थात् जिस रचना मे जितना अधिक रस का उदात्त रूप होगा, उतनी ही वह श्रेष्ठ होगी। यह मूल्याकन की बात हुई। किन्तु किसी रचना की पूर्ण समीक्षा करने के लिए हमे भिन्न-भिन्न समीक्षा-प्रणालियोको अपनाना होता है, जैसे, हम कवि पर पडे युग के प्रभावो का अध्ययन करेगे, उन समस्त

---

१. साहित्याचार्य प० सीतारामचतुर्वेदी समीक्षा-शास्त्र, पृ० ५६ (प्रथम सस्करण)।

सामाजिक, राजनीतिक, सास्कृतिक स्रोतो को खोजेगे, जहाँ से कवि ने प्रेरणा ग्रहण की—यह ऐतिहासिक समीक्षा-प्रणाली होगी। हम मनोवैज्ञानिक पद्धति से कवि की वैयक्तिक चेतना का स्रोत ढूढेगे। कवि के भाव-आशयो, उसकी सौन्दर्यानुभूति तथा भाव और शैली की कलात्मक जागरूकता की व्याख्या करेगे। अन्य कवियो से उसकी तुलना करेगे, उसकी रचना के मानवतावादी और सामाजिक मूल्यो का उद्घाटन करेगे और कला के रचना-तत्वो की दृष्टि से उसकी परख करके जब उसके सम्बन्ध मे अपना पूर्ण निर्णय देगे, तभी हमारी आलोचना पूर्ण होगी। अत पाश्चात्य समीक्षक चाहे एक सर्वमान्य शाश्वत समीक्षामान देने मे असमर्थ रहे हो, पर पूर्ण समीक्षा की विविध शैलियाँ प्रदान करने का महत्त्वपूर्ण कार्य उन्होने अवश्य किया है। हमारे यहाँ व्यावहारिक समीक्षा की इन वैज्ञानिक शैलियो का प्राय अभाव ही था। इन सब शैलियो को हम अपनी निर्णयात्मक समीक्षा की सहायक बनाकर पूर्ण समीक्षा का आदर्श पा सकते है। अत सम्पूर्ण भारतीय पद्धतियो तथा सम्पूर्ण पाश्चात्य सिद्धान्तो—लोगिनुस के औदात्त्य, टी० एस० इलियट के अभिजात्य, ब्रैडले के आन्तरिक मूल्य-सम्बन्धी सौन्दर्यवादी सिद्धान्त, प्रगतिवादियो के समाज-शास्त्रीय मूल्याकन, टाल्स्टाय के मानवतावादी व्यापक उपयोगितावादी तथा आई० ए० रिचर्ड्स के मनोवैज्ञानिक मूल्य-सम्बन्धी सिद्धान्त—सबसे समन्वित उदात्त रस-सिद्धान्त के अन्तर्गत आदर्शपूर्ण व्यावहारिक समीक्षा का स्वरूप-विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है—

(१) **विषय-तत्व**—इसके अन्तर्गत समीक्षक पहले ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक समीक्षा के सहारे किसी रचना के विषय-तत्त्व के प्रेरणा-स्रोतो की खोज करेगा। विषय कहाँ से लिया गया है ? उसमे मौलिकता कितनी है, आदि-आदि। फिर वह विषय की सवेदनाओ की व्याख्या करता हुआ उनके सम्पूर्ण विभाव-अनुभाव-सचारी भाव आदि तत्त्वो को प्रकट करेगा। कलाकार की उदात्त अनुभूतियो को स्पष्ट करेगा। भावानुभूतियो को तीव्रतम बनाने वाले तत्वो की व्याख्या करेगा। भाव-विस्तार कितना है, भाव-गहनता किनती है, उदात्तता कहाँ तक आ पाई है ? उसकी सजग कल्पना ने भावोत्कर्ष मे कहाँ तक योग दिया है ? आदि।

(२) **भाषा-शैली**—रचना की रस-प्रक्रिया को उत्कृष्ट बनाने तथा उसे एक सर्वांग-सुन्दर रचना बनाने मे शैली के प्रसाधनो ने कहाँ तक योग दिया है ? कौन-कौन से प्रसाधन अपनाए गए है—अलकार, मुहावरे, लाक्षणिक व्यजनात्मक प्रयोग आदि कितने कलापूर्ण और उपयुक्त है ? भाषा मे भावानुरूप माधुर्य, ओज आदि गुण तथा सगीत-नाद-सौदर्य, सरलता, स्पष्टता और प्रवाह आदि विशेषताएँ कहाँ तक है ? मौलिकता कितनी है ?

(३) **रचना-शैली**—इस के अन्तर्गत अन्य रचना-कौशल या रचना-विधान की बात भी होगी—जैसे, कविता मे छन्दादि, उपन्यास मे कथानक, चरित्रचित्रण आदि

तत्व। इनकी कलात्मक पूर्णता ही रचना को सर्वांग-सुन्दर बनायेगी। रचना-विधान की किस कमी से समष्टि प्रभाव या उदात्त रस-परिपाक मे कमी आई है, किन-किन विशेषताओ ने मिलकर समष्टि प्रभाव की सिद्धि की है ? रचना-विधान मे मौलिकता कैसी और कितनी है ? इत्यादि।

(४) **नैतिक मूल्य विचार पक्ष**—कवि या लेखक का क्या नैतिक उद्देश्य है। उसने किन उच्च मानवतावादी आदर्शो की स्थापना की है ? उसने समाज और समाज से भी ऊपर मानवता के किन शाश्वत मूल्यो की प्रतिष्ठा की है ? उसकी रचना युग के किन प्रगतिशील तत्वो को उभार सकी है ? उसमे युग-युग के मानव को सदेश देने की कहाँ तक क्षमता है ? किन उदात्त मानवीय सवेदनाओ को उसने जगाया है, वह नैतिक मूल्यो को रसानुभूति का अग पूरी तरह बना सका है या नही ? कही उसके मानवतावादी आदर्श 'उदात्त रस' के रूप मे प्रकट होने की बजाय, प्रचारवादी या नीतिवादी के सैद्धान्तिक उपदेश या सदेश-मात्र बन कर तो नही रह गए ? उसके विचार-तत्व मे कहाँ तक गहराई है, कहाँ तक मौलिकता है ? इत्यादि।

कहने की आवश्यकता नही कि उपर्युक्त तत्वो के विश्लेषण मे हमारा आदर्श समीक्षक सर्वत्र वैज्ञानिक तुलनात्मक तथा निर्णयात्मक पद्धति भी अपनाए रहेगा और सब तत्वो की मूल धुरि उदात्त रस ही रहेगी, और इस प्रकार भाव, शैली आदि सभी दृष्टि से रचना की रमणीयता, उसकी उदात्तता, सार्वभौम अर्थात् व्यापक प्रभावात्मकता आदि के आधार पर, विशुद्ध साहित्यिक मूल्याकन करेगा। इस प्रकार की समीक्षा ही आदर्श समीक्षा होगी, जो सब प्रकार के समीक्षा-प्रसाधनों और शैलियो को आत्मसात् कर के चलेगी। इसी आदर्श पर नवीन व्यापक समीक्षा का भव्य प्रासाद खडा करना होगा। इससे न केवल हम अपने साहित्य, अपितु विश्व-साहित्य का सही मूल्याकन करने मे सफल होगे।

अपने रस-सिद्धान्त को इस प्रकार व्यापक 'उदात्त रस-सिद्धान्त' बनाकर हम उसे समीक्षा का शाश्वत मानदण्ड घोषित कर सकते है। रस की अवहेलना से काम नही चल सकता। और न ही केवल परम्परागत नौ रसो को गिनाने-मात्र से काम चलेगा। इस व्यापक उदात्त रस-सिद्धान्त से हम आज के साहित्य का पूर्ण मूल्याकन कर सकते है। डा० रामविलास शर्मा आदि रस-विरोधी आलोचको ने तो रस की उपेक्षा की ही, हमारे कई अन्य साहित्य-समीक्षक भी इस दोष से नही बचे हैं। आलोचक को चाहिए कि साहित्य-रचनाओ की परख आलोचना के शाश्वत मानदण्ड (रस के उदात्त रूप) के आधार पर ही करे। समीक्ष्यवादी को प्रत्येक युग की प्रत्येक रचना की स्वतत्र सत्ता का भी ध्यान रखना चाहिए। अत युग-विशेष के रचना-सम्बन्धी रूढ़ नियमो तथा मानो को ही कसौटी नही बनाना चाहिए। समीक्षा के कुछ बाहरी मानदण्डो या सिद्धान्तो को काव्य-सामान्य के लिए सत्य मानकर समीक्षा करना

अनुचित ही है। रूढ नियमो को कलाकृति मे न पाकर उसे हेय समझ बैठना आलोचना की भारी त्रुटि है। इस सम्बन्ध मे हमारा आग्रह है कि साहित्य-समीक्षको को युग-साहित्य के ऐसे नियम बनाते हुए साहित्य के मूलभूत शाश्वत मानदण्ड—रस या उदात्त रस को नही भुलाना चाहिए। चाहे हम महाकाव्य के लक्षण या नियम बना रहे हो अथवा उपन्यास के, हमे सदा उन तत्वो को प्रमुखता देनी चाहिए जो साहित्य के मूल तत्व है। हमारे प्राचीन आचार्यों ने महाकाव्य के लक्षणो पर प्रकाश डालते हुए छन्द-नियम, सर्ग-सख्या, मगलाचरण आदि बाह्य बातो को भी उतना आवश्यक ठहराया जितना रस-परिपाक और उदात्तता आदि अन्तरग तत्वो को। महाकाव्य के व्यापक और शाश्वत मानदण्डो के आधार पर उसके अनिवार्य अतरग तत्वो और परिवर्तनीय बाह्य तत्वो मे भेद जता कर पूर्ण विवेचना आचार्यो ने नही की। अब यदि कोई समीक्षक किसी आधुनिक महाकाव्य मे मगलाचरण न पाकर अथवा छन्द-परिवर्तन का प्राचीन नियम न देखकर उसे दूषित ठहराने लगे, तो उसकी आलोचना कितनी हास्यास्पद होगी! खेद की बात है कि आज भी हम वही गलती दोहरा रहे है। उपन्यास, कहानी, निबध आदि आधुनिक साहित्य-विधाओ के तत्व-निरूपण मे हम मूल तत्वो को भुला रहे है। उपन्यास-कहानी के तत्व प्रकाशित करते हुए बहुत-से आलोचक भावानुभूति, भाव और रस को गिनाते ही नही। प्रेमचन्द के उपन्यासो की समीक्षा करने वाले कई समीक्षको ने भाव-सवेदनाओ की दृष्टि से मूल्याकन छोड ही दिया है। क्या प्रेमचन्द की महानता केवल इस बात मे है कि उन्होने समाज की विविध समस्याओ का बोध कराया, जो कार्य कि एक समाज-शास्त्री भी कर सकता था? मै समझता हूँ, प्रेमचन्द इसलिए महान् है कि उन्होन जीवन के भिन्न-भिन्न पहलुओ पर हमारी भाव-सवेदनाएँ जगाई, जो निश्चय ही युग के महान् सास्कृतिक निर्माण से सम्बन्ध रखती है। अनुभूति-क्षेत्र के रागात्मक तत्वो के माध्यम से ही प्रेमचन्द के प्रगतिशील तत्वो का अध्ययन समीचीन होगा। इसके बिना उनकी समीक्षा अधूरी ही कही जा सकती है। अत डा० रामविलास शर्मा आदि के इस मत से हम सहमत नही हो सकते कि प्राचीन रस के पैमाने से आधुनिक साहित्य की समीक्षा असभव है। उदात्त रस-सिद्धान्त द्वारा हम आधुनिक साहित्य—उपन्यास, कहानी आदि सबकी पूर्ण परख कर सकते है। हमारा रस-तत्व साहित्य का मेरुदण्ड है, इसकी अवज्ञा साहित्य की ही अवज्ञा है। इसी मूल साहित्यिक धारणा से प्रेरित होकर हमने आचार्यों के रस-निरूपण के पुन परीक्षण की आवश्यकता का अनुभव किया है। अपनी रस-पद्धति को छोडने की बजाय हमे उसमे आवश्यक सशोधन और परिवर्द्धन करना चाहिए। सभ्यता के उत्तरोत्तर विकास के साथ मानवीय भाव-जगत और मानव-सस्कारो मे जो परिवर्तन हुआ है, तदनुसार रस के विवेचन मे भी हमे परिवर्तन, सशोधन, परिवर्द्धन आदि करना चाहिए। हमारे प्राचीन आचार्यों

के रस-विवेचन मे जो भ्रातियाँ पाई जाती है, उनका निराकरण करना चाहिए। आगे हम आचार्यो की रस-दृष्टि के दोषो का निराकरण करते हुए, रस के वास्तविक उदात्त स्वरूप और व्यापक मानव-जीवन मे उसके प्रसार का अध्ययन प्रस्तुत करेंगे।



२
आचार्यों का रस-दृष्टि-दोष

जैसा कि पहले सकेत कर चुके है, प्राचीन आचार्यो की सम्पूर्ण रस-दृष्टि के पुन परीक्षण की आवश्यकता हे । यह कार्य अपने मे इतना व्यापक हे कि हमारी इस पुस्तक की सीमा मे समा ही नही सकता । अत यहाँ हम सकेत-रूप मे आचार्यो की कुछ भ्रातियो का ही उल्लेख करेगे, ताकि कुछ रसो के बारे मे उनकी भ्रात धारणा स्पष्ट हो जाय ।

रस और रस-सिद्धान्त पर सर्व प्राचीन प्राप्य ग्रन्थ नाट्य शास्त्र' ही है । रस पर विचार करते हुए भरतमुनि ने सर्व प्रथम रसो मे उत्पाद्य-उत्पादक की बात चलाई है । उनका कथन है—श्रृगार से ही हास्य उत्पन्न होता है, रौद्र से करुण रस, वीर से अद्भुत और बीभत्स से भयानक रस की उत्पत्ति होती है ।"[1] भरत के इस कथन मे आशिक सत्य ही माना जा सकता है । खेद है कि आचार्यो को हास्य का विभावपक्ष विकृत श्रृगार-सामग्री मे ही प्रतीत हुआ । सभवत उस समय नाटको आदि मे हास्योत्पत्ति का आधार श्रृगार का अनौचित्य ही होता था । अभिनवगुप्त ने अपनी व्याख्या मे यह स्वीकार किया है कि श्रृगार ही नही, सब रसो का विषय अनौचित्यपूर्ण होने पर हास्योत्पादक हो सकता है । इस तथ्य को मानते हुए भी अभिनव गुप्त ने स्पष्ट शब्दो मे भरत मुनि का खण्डन नहीं किया है, बल्कि भरत के उक्त सूत्र का समर्थन ही किया है ।

हमारे आचार्यों ने अपने रस-विवेचन मे कई बार पाठक या सहृदय अथवा कवि की दृष्टि से विचार करना भुला दिया है, यही कारण है कि उनके रस-निरूपण मे कई स्थानो पर भ्रातियाँ पाई जाती है । वास्तव मे रसानुभूति का विचार कवि या सहृदय की दृष्टि से ही होना चाहिए । न केवल बीभत्स रस के बारे मे, अपितु

---

१ श्रृङ्गाराद्धिभवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रस ।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानक ॥—नाट्यशास्त्र ६|३२ ।
हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ५१७ ।

रौद्र, भयानक आदि कुछ अन्य रसो के सम्बन्ध मे भी आचार्यो के मत कई स्थानो पर इसीलिए भ्रात प्रतीत होते है कि उन्होने सहृदय की अनुभूति का विचार छोड दिया। रौद्र रस के सम्बन्ध मे प्राचीनो की कुछ भ्रातियो पर विचार करना आवश्यक है।

भरतमुनि ने रौद्र रस का आश्रय राक्षस आदि को प्रमुख रूप से बताया है। इस पर प्रश्न उठाया गया है—"रौद्र रस राक्षस-दानवादि मे होता है (यह जो कहा है) सो क्या अन्यो मे नही होता ?"[1] भरत मुनि स्वय उत्तर देते है कि 'अन्यो मे भी रौद्र रस होता है। किन्तु यहाँ विशेष रूप से (राक्षस आदि के ही) अधिकार का ग्रहण किया जाता है। क्योकि वे स्वभाव से ही क्रोधी होते है (इसलिए मुख्य रूप से उन्ही का अधिकार है)। क्यो ? क्योकि वे अनेक बाहुओ वाले, अनेक मुख वाले, काँपते हुए, फैले हुए और पीले केशो से युक्त, लाल-लाल चढी हुई आँखो वाले और भयकर काले रग के हाते है। और वे वाचिक या आगिक आदि जो व्यापार स्वाभाविक रूप से भी आरम्भ करते है, उनका वह सब व्यापार रौद्र ही होता है। (यहाँ-तक कि) वे प्राय श्रृगार का सेवन भी बलात्कार से ही करते है। उनकी चाटुकारी (सेवा, खुशामद) करने वाले जो मनुष्य होते है, उनमे भी सग्राम या सम्प्रहार आदि के कारण रौद्र रस मानना चाहिए।"[1]

आश्चर्य है कि आचार्यो को राक्षसो के क्रोध मे रौद्र रस की अनुभूति कैसे मान्य हुई ! बलात्कार करने वाले, भयङ्कर आकृति-प्रकृति के राक्षसो के वाचिक या आगिक व्यापार रौद्र नही, बीभत्स ही कहे जा सकते है और उनके अनुचित क्रोध से हमारा साधारणीकरण या तादात्म्य नही हो सकता, बल्कि वे ही हमारी घृणा के आलम्बन होगे। क्या अशोक वाटिका मे सीता पर क्रुद्ध होने वाला रावण रौद्र रस की अनुभूति कराता है ? उसका वह प्रचण्ड, भयङ्कर रूप बीभत्स रस या भयानक रस का ही विषय हो सकता है। अत आचार्यो का यह रस-निरूपण दोषपूर्ण ही है। केवल काव्यगत सामग्री के आधार पर निर्णय करने के कारण ही यह दोष पैदा हुआ है।

अभिनवगुप्त आचार्य ने भी अपनी टीका मे यही प्रश्न उठाया है, किन्तु आश्चर्य की ही बात है कि वे भी इसका गलत समाधान प्रकट करते है। प्रश्न उठाया गया है कि "उस प्रकार के राक्षस आदि को देखने पर सामाजिको को क्रोधात्मक

---

१ अस्त्यन्येषामपि रौद्रो रस, किन्त्वधिकारोऽत्र गृह्यते। ते हि स्वभावत एव रौद्रा। कस्मात् बहुबाहवो, बहुमुखा प्रोद्धत-विकीर्ण-पिगल-शिरोजा, रक्तोद्वृत्त-विलोचना, भीमासितरूपिणश्चैव। यच्च किचित् समारभन्ते स्वभावचेष्टित वागगादिक तत्सर्वं रौद्रमेवैषा। श्रृङ्गारश्च तै प्रायश प्रसभ सेव्यते। तेषा चाटुकारिणो ये पुरुषास्तेषामपि सग्रामसम्प्रहारकृतो रौद्रोरसोऽनुमन्तव्य।—नाट्यशास्त्र, षष्ठोऽध्याय (हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ५८७)।

कैसे होता है ?" इस प्रश्न का उत्तर देते हुए अभिनव गुप्त कहते है कि हृदय का तादात्म्य (सवाद) ही आस्वाद है। क्रोध मे (मुख्य रूप से) तामस प्रकृति वाले सामाजिको का ही तादात्म्य होता है। इसलिए दानव आदि के समान तन्मय होकर वे अन्यायकारी-विषयक क्रोध का आस्वादन करते है, इसलिए इसमे कोई दोष नही होता है।"[1]

बडी विचित्र बात है कि आचार्य रौद्र रस की अनुभूति तामस प्रकृति मे मान बैठे ! रसानुभूति सत्त्वोद्रेक से ही होती है, फिर रसानुभूति की अवस्था मे नीच प्रकृति कहाँ रहती है ? क्या तामस वृत्तियो मे सामाजिक तन्मय हो सकता है ? रौद्र रस मे यदि अनुचित तमोगुणी क्रोध होगा, तो उससे सामाजिक का तादात्म्य हो ही नही सकता। निश्चय ही अभिनवादि आचार्यो की ऐसी उक्तियाँ कि "रौद्र रस मे तो तमोगुण की प्रधानता होने के कारण अनुचित और शास्त्र-विरुद्ध वधादि भी हो सकता है"[2], उनकी रस-दृष्टि के दोष की ही परिचायक है।

अभिनव गुप्त ने इस उत्पाद्य-उत्पादक भाव का समर्थन रौद्र रस से करुण की सिद्धि मान कर करने का प्रयास किया है। उनका कथन है कि "रौद्र का फल वध-बन्ध आदि होता है। (उसके बाद) उन्ही (वध-बधादि रूप उद्दीपन) विभावो वाला करुण रस अवश्य होता है। जैसे 'वेणी सहार' मे—

"आज ही प्रात काल हम दोनो अर्थात् मै (दुर्योधन) और दु शासन पिता (धृतराष्ट्र) तथा माता (गान्धारी) से मिल कर युद्धभूमि मे आए थे और नमस्कार करने पर उन्होने (माता-पिता ने) मेरे और दु शासन के सिर को (चिरायु की कामना के लिए) सूघा था। उस बालक (दु शासन) की शत्रु (भीम) के द्वारा (उसको मार कर और छाती का खून पीकर) वह दुर्दशा हो जाने के बाद मै निर्लज्ज माता-पिता के सामने जाकर क्या उत्तर दूँगा।"[3]

यहाँ अभिनवगुप्त ने 'वेणी सहार' मे भीम के क्रोध से रौद्र रस मानते हुए भी उसके द्वारा वध को अनुचित-सा ठहरा कर करुण रस की उत्पत्ति स्वीकार करने की भूल की है। रौद्र रस का आलम्बन (अर्थात् काव्यगत रौद्र रस के आश्रय का आलम्बन) जब हमारा भी आलम्बन बन गया, तो उसकी प्राण हानि से हमारे मन मे शोक कैसे जाग्रत हो सकता है ? दु शासन के भाई-बन्धुओ को तो शोक की अनुभूति हो सकती है, किन्तु उससे हमारा तादात्म्य सम्भव नही है। रौद्र रस का आलम्बन करुण रस का आलम्बन हो ही नही सकता, क्योकि क्रोध जब होगा, दुष्ट के प्रति ही होगा। हाँ, आलम्बन-भेद होने से, परिस्थिति के बदल जाने से अवश्य करुण रस की

१. हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ५६१।
२ वही पृ० ५६५।
३ हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ५२१।

अनुभूति सम्भव हो सकती है। पर उस सूरत मे रौद्र से करुण की उत्पत्ति वाली बात स्वत ही समाप्त हो जाती है। दु शासन की मृत्यु पर दुर्योधन के शोक से हमारा तादात्म्य सम्भव नही। अत दुर्योधन को रोते देख कर हमारे आँसू निकलना कठिन है। हाँ, यदि किसी का एकमात्र बेटा, अपने बुरे आचरण के कारण, काव्यगत आश्रय के क्रोध से मारा जाता है और उसकी मृत्यु पर उसका पिता अपनी असहाय दशा और ममता से विलाप करने लगता है, तो इस दशा मे अवश्य वह पिता हमारी करुणा का पात्र बन जाएगा। किन्तु इस स्थिति मे भी रौद्र से करुण की उत्पत्ति नही मानी जा सकती, बल्कि शोक स्थायी भाव आलम्बन-भेद से अपना स्वतन्त्र विकास प्रकट करता है। अत आचार्यों ने रौद्र रस के स्वरूप-निरूपण मे भी भ्राति-पूर्ण धारणा प्रकट की है। भरत मुनि का तद्विषयक श्लोक[1] उनकी रस-दृष्टि के सीमित और दोषपूर्ण होने का ही परिचायक है।

वीर रस से अद्‌भुत रस की उत्पत्ति भरत के सूत्र मे कथित है, पर पता नही अभिनव गुप्त ने 'वीराद्‌भयानकोत्पत्ति' का मत कहाँ से और कैसे प्राप्त कर लिया! इस दृष्टि से उनका भयानक रस का स्वरूप-निरूपण बिलकुल दूषित है। वीर रस से भयानक रस की उत्पत्ति को सिद्ध करने के लिए अभिनव गुप्त ने वेणीसहार का ही यह उदाहरण दिया है कि 'कर्ण के पुत्र (वृषसेन) को (कर्ण के) सामने ही मार देने वाले अर्जुन से जगत् भयभीत हो रहा है।'[2] आश्चर्य है कि विद्वान् आचार्य सहृदय की अनुभूति का ध्यान किए बिना यहाँ भयानक रस की अनुभूति कैसे मान बैठे! वीर पुरुष से भयभीत होने वाले शत्रुओ का वर्णन सुन कर तो पाठक को हर्ष होगा, भयानुभूति नही। अत पाठक या दर्शक मे स्थायीभाव भय के जाग्रत होने का यहाँ प्रश्न ही नही उठता। वास्तव मे शकुक का यह कथन कि "भयानक रस की उत्पत्ति मे वीर रस के स्थायीभाव उत्साह का कोई व्यापार नही दीख पडता है" पर्याप्त सत्यता लिए हुए है। पर अभिनव गुप्त ने कवि या पाठक का विचार छोड कर व्यर्थ ही इसका खण्डन करते हुए कहा है—युद्धवीरे च पराजयजनित प्रतापापरपर्याय-शत्रुहृदयदाहदायी तद्वनितादिषु भयानक एव जीवितम्।

यथा—

स पातु वो यस्य हतावशेषा-
स्तत्तुल्यवर्णाञ्जनरञ्जिततेषु।
लावण्ययुक्तेष्वपि वित्रसन्ति

---

१ शृङ्गारानुकृतिर्या तु स हास्यस्तु कीर्तित।
रौद्रस्यैव च यत्कर्म स ज्ञेय. करुणो रस. ॥—नाट्यशास्त्र, ६।३३

२ हिन्दी अभिनवभारती, ५२३।

दैत्या स्वकान्तानयनोत्पलेषु ॥
नियमेन तु भवतीति वक्तव्यम् ।"[१]

शत्रु की स्त्रियो मे तथा शत्रुओ मे भय उत्पन्न होने से भयानक रस की सिद्धि कदापि नहीं मानी जा सकती। उपर्युक्त उदाहरण मे विष्णु के आतङ्क से डरे हुए दैत्य अपनी स्त्रियो के अजनयुक्त नील कमल नेत्रो को देख कर, उनके सदृश श्याम-वर्ण श्रीकृष्ण का स्मरण कर, उन नेत्रो से भी भयभीत हो उठते है। यहाँ स्पष्ट ही भगवान् कृष्ण का जयघोष कवि को अभीष्ट है, अत पाठक या दर्शक मे भय स्थायीभाव के उद्बोध का प्रश्न ही नही उठता। आचार्यो की यह भ्राति वर्तमान काल तक चली आ रही है। डा० सुधीन्द्र ने भी शत्रुपक्ष अर्थात् प्रतिनायक-पक्ष के भयभीत होने मे भयानक रस की अवस्थिति मानने की भूल की है। उन्होने भयानक रस का निम्न उदाहरण प्रस्तुत किया है—

जरा देर मे हुई शस्त्रु-सेना शिथिलित सी,
पीछे वह हट चली युद्ध से हो विचलित सी।
घबराहट सब ओर पड गई उसमे भारी,
तितर-बितर तत्काल वह वहाँ गई निहारी।
आर्यो को काल समान ही देखा उसने भीति से।
आतङ्कपूर्ण वह हो गई भारतीय रण-नीति से॥[२]

क्या प्रस्तुत प्रकरण मे कवि ने भय का भावन किया है? निश्चय ही उत्तर 'न' मे होगा। ऐसे स्थलो पर भयानक रस की सामग्री नही मानी जा सकती। इसी प्रकार बाबू गुलाब राय आदि अन्य विद्वानो ने भी भयानक रस के ऐसे ही भ्राति-पूर्ण उदाहरण दिए है।[३]

रसो की इस उत्पाद्य-उत्पादक धारणा को अभिनव गुप्त ने चार भागो मे बॉट कर स्पष्ट किया है—(१) तदाभास रूप से, अर्थात् रसो के अनौचित्यपूर्ण वर्णन से हास्य रस की उत्पत्ति, (२) दूसरे प्रकार का उत्पत्ति हेतुत्व फल के अनन्तर दूसरे रस का आवश्यक रूप से उत्पन्न होना बताया गया है और उसका उदाहरण रौद्र के फल बध-बन्ध आदि से करुणोत्पत्ति, वीर से भयानकोत्पत्ति बताए गए है। इस मत का

---

१ हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ५२४ (प्रथम सस्करण)।

२. डा० सुधीन्द्र हिन्दी कविता मे युगान्तर (प्रथम सस्करण), पृ० ४७१।

३ देखिए 'नवरस' (ले० बाबू गुलाबराय), पृ०४८८-४८९ पर लका-दहन के उदाहरण

पौन पूत आगि को लगाय 'भगबंत' कवि
लगत न घाव काहू तुपक न तीर को।
लङ्का लागि बरन जरन रनिवास लाग्यो,
व्याकुल ह्वै असुर धरै न रनधीर को। आदि।

हम खण्डन कर चुके है। (३) तृतीय प्रकार का उत्पत्ति-हेतुत्व है एक रस का दूसरे रस के फलरूप मे प्राप्त होना, जैसे वीर से अद्भुत। (४) चौथे प्रकार का हेतु है एक रस का समान विभाव वाले दूसरे रस की प्रतीति कराना, जैसे बीभत्स के आलम्बनो से भयानक रस की सिद्धि। परन्तु अभिनव गुप्त ने इसका जो उदाहरण प्रस्तुत किया है, वह त्रुटिपूर्ण ही है। 'वेणी सहार' का यह उदाहरण प्रस्तुत किया गया है—

सस्तम्भ्यन्ता निहतदु शासनपीतशेषशोणितस्नपित वीभत्सवृकोदर-
दर्शनवैक्लव्यस्खलितप्रहरणानि रणाद्विद्रवन्ति बलानि । इति ॥

अर्थात् "मारे हुए दु शासन के (छाती के रक्त को पीकर) पीने से बचे हुए रक्त को शरीर मे मल लेने से भयङ्कर दिखाई देने वाले भीम को देख कर घबराहट के मारे जिनके अस्त्र-शस्त्र गिरे जा रहे है, इस प्रकार की रण-भूमि से भागती हुई सेनाओ को रोको।"

शत्रु का रुधिर पीने वाले भीम को बीभत्स रस का विषय बताने की परम्परा आज तक चली आ रही है। डा० प्रतिपाल सिह ने अपने शोधप्रबन्ध मे 'कृष्णायन' से बीभत्स रस का यही उदाहरण प्रस्तुत किया है—"स्थायी भाव घृणा है। आँतो का हार पहिनना, रुधिर पीना आलम्बन है। भीम का वीभत्स रूप देखिए—

करि सिर छिन्न कृपाण-प्रहारा, तीक्ष्ण नखन अरि-वक्ष-विदारा ।
गरजि हृष्ट शार्दूल समाना, पियेउ उष्ण शोणित प्रणवाना ।
अट्टहास उठि कीन्ह भयङ्कर, रक्त-सिक्त वीभत्स वृकोदर ।"[१]

शत्रु के रक्त से स्नान करने वाला भीम क्या सचमुच बीभत्स रस का आलम्बन माना जा सकता है? हमारा निश्चित मत है कि दर्शक या पाठक के मन मे भीम के प्रति घृणा का भाव यहाँ उत्पन्न नही हो सकता, अत पहले तो इसे केवल रुधिर-दर्शन से ही बीभत्स रस का विषय नही माना जा सकता। भीम का रूप रक्त-लेपन से चाहे बाह्य रूप से कुरूप या बीभत्स हो गया हो, किन्तु उसकी अन्तर्प्रकृति बीभत्स रस की अनुभूति नही करा सकती। दूसरे, उससे डर कर भागती हुई शत्रु-सेना के भय से पाठक मे भय का मचार बिलकुल भी सम्भव नही है। अत आचार्यों के ये उदाहरण दोषपूर्ण है। बीभत्स और भयानक दोनो की विभाव-समानता और सह-अस्तित्व के उदाहरण हमने अन्यत्र दिए है। किसी क्रूर अत्याचारी के क्रूर कर्म से भय और घृणा दोनो की उत्पत्ति सम्भव है। काव्यगत आश्रय की ही दृष्टि से विचार करने के कारण आचार्यों की रसानुभूति मे ये भ्रातिया आई है।

शकुक ने शृगार रस से भी अद्भुत रस की सिद्धि स्वीकार कर ली और अपने मत की पुष्टि के लिए सागरिका कुमारी के अद्भुत सौन्दर्य का उदाहरण प्रस्तुत किया। शकुक ने तो भूल की ही थी, अभिनव गुप्त आचार्य भी जिस प्रकार शकुक

१. बीसवी शताब्दी के महाकाव्य (डा० प्रतिपालसिह), प्रथम स०, पृ० २४५

के मत का खण्डन करते हैं, उससे प्रमाणित होता है कि उनके सामने भी कवि या सहृदय की अनुभूति का विचार नहीं रहा। शंकुक द्वारा प्रस्तुत किया गया उदाहरण 'रत्नावली' का यह श्लोक है—

दृश पृथुनरीकृता जितनिजाब्जपत्रत्विष-
श्चतुर्भिर्नरपि साधु साध्विति मुखै सम व्याहृतम्।
शिरांसि चलितानि विस्मयवशाद् ध्रुव वैधसो
विधाय ललना जगत्प्रयललाम भूताभिमान्॥—रत्नावली २।२५।

अभिनवगुप्त ने शंकुक के मत का खण्डन करते हुए कहा है—"वहाँ उदयन में शृंगार ही है और विस्मय ब्रह्मा में है। और वह (विस्मय) भी उस समय (अर्थात् शृंगार-भावना की उत्पत्ति के समय) नहीं (उत्पन्न हुआ है) और न उसके बाद (उत्पन्न हुआ है), अपितु (शृंगार से) पूर्वकाल में उत्पन्न हुआ है। इस लिए (उस उत्तरवर्ती शृंगार को पूर्ववर्ती विस्मय के प्रति कारण मानना) 'यत्किंचित' अर्थात् सर्वथा असंगत है।"[1]

यदि यहाँ कवि या सहृदय की अनुभूति का विचार रहता तो आचार्य अभिनवगुप्त को पूर्वकाल और उत्तरकाल की सफाई देने की आवश्यकता ही न रहती। हम समझते हैं कि यदि श्लोक में सौन्दर्य-दर्शन से उदयन की भी विस्मयानुभूति का वर्णन होता, तो भी पाठक या दर्शक विस्मय का भाव ग्रहण न करता। अतः यहाँ अद्भुत रस की उत्पत्ति का खण्डन सहृदय के विचार से सरलतापूर्वक किया जा सकता था।

इसी प्रकार भरतमुनि की ३४वीं कारिका—

वीरस्यापि च यत्कर्म सोऽद्भुत परिकीर्तित।
वीभत्सदर्शन यत्र ज्ञेय स तु भयानक॥ ६।३४॥

भी आंशिक सत्य ही लिए हुए है। वीर के कार्य से जैसे अद्भुत की संभावना की गई है, वैसे ही वीरनायक के प्रति प्रेम-श्रद्धा आदि भाव उत्पन्न होने से शृंगार, भक्ति आदि रस भी संभव है। बीभत्स-दर्शन भयानक भी हो, यह अनिवार्य नहीं माना जा सकता। अभिनवगुप्त ने भी भरत के इस कथन को कि 'जो वीभत्सदर्शन होता है, वह भयानक है' औपचारिक प्रयोग ही माना है।

अभिनवगुप्त ने शृंगारादि इन चार रसों से हास्यादि चार रसों की उत्पत्ति में पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष) को भी आधार माना है। "शृंगारादि

---

१. हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ५२७।

चार रस ही सौन्दर्यातिशय के जनक-रूप है।"[1] इस मत से सहमत होना भी कठिन है, क्योकि करुणादि 'उत्पाद्य' चार रसो मे भी पुरुषार्थ और सौन्दर्यातिशयता पाई जाती है।

धनजय ने इस उत्पाद्य-उत्पादक का आधार चित्त की समान भूमियाँ बताया। उनका कथन है कि काव्यार्थ से रसास्वादन आत्मानन्द-रूप मे उत्पन्न होता है और उसके मन की चार अवस्थाओ—विकास, विस्तार, क्षोभ और विक्षेप के अनुसार, चार भेद है—शृगार, वीर, वीभत्स और रौद्र। इन्ही चार से क्रमश हास्य, अद्भुत, भय और करुण की उत्पत्ति होती है।[2] वह रसानन्द सामान्य स्वरूप वाला होने पर विभिन्न विभावादि से उत्पन्न होने के कारण चित्त की चार भूमियो मे विभक्त होता है—जैसे, शृगार मे विकास, वीर से विस्तार, बीभत्स से क्षोभ और रौद्र मे विक्षेप। अपनी-अपनी सामग्री से पुष्ट होने वाले अन्य चार रसो—हास्य, अद्भुत, भयानक और करुण—की भी क्रमश ये विकासादि चार भूमियाँ होती है। अत चित्त की समान अवस्था के कारण शृगार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत और बीभत्स से भयानक उत्पन्न होते है।

धनजय का उपर्युक्त मत भी मनोविज्ञान या व्यवहार की कसौटी पर पूरा नही उतरता। चित्त की अवस्था-विशेष रस-विशेष से ही सम्बद्ध नही की जा सकती। रसानुभूति की दशा मे अनेक प्रकार की भाव-तरगे उठती हे। और फिर एक रस की ही एक दशा दूसरी से बिलकुल भिन्न होती हे, जैसे शृगार मे सयोग और वियोग। अत चित्त की चार अवस्थाओ पर आधारित उपर्युक्त विभाजन और उत्पाद्य-उत्पादक-सम्बन्ध मान्य नही हो सकता।

इसी प्रकार कुछ और विद्वानो ने रसोत्पत्ति की और कल्पनाएँ की है। शारदातनय ने अपने 'भावप्रकाशनम्' मे भरत के मत को पुष्ट करते हुए मूल चार रसो की ही उत्पत्ति चार वेदो से मानी है। उनके अनुसार सामवेद से शृगार रस, ऋग्वेद से वीर रस, अथर्ववेद से रौद्र रस और यजुर्वेद से वीभत्स रस उत्पन्न हुए है।[3]

"इस सिद्धान्त की कोई सहेतुक व्याख्या सभव प्रतीत नही होती। सभवत उत्पत्ति की अलौकिकता सिद्ध करने के लिए ही इस सिद्धान्त की कल्पना की

---

१ 'तेहि तत्सौन्दर्यातिशयजननरूपा'—हि० अभि०, पृ० ५२६।

२ धनजय दशरूपकम् ४।४३-४४।
निर्णयसागर प्रेस, बम्बई द्वारा प्रकाशित, पचम सस्करण, १६४१।

३ शृङ्गार उद्भूत्सामो वीरोउद्भूद्दितो ऋच।
अथर्ववेदतो रौद्रो बीभत्सो यजष क्रमात्।—भावप्रकाश, तृ० अधि०।

गई है ।"[१] बीभत्स रस को यजुर्वेद के साथ सम्बन्धित करने मे शायद यज्ञ मे पशु-बलि आदि के कारण रुधिर आदि का होना ही है । यजुर्वेद से चाहे बीभत्स-अनुभूति न हो, पर परवर्ती काल मे यज्ञो के कर्म-काण्ड, पशुबलि आदि कृत्य घृणित माने जाने के कारण बीभत्स रस के उत्पादक अवश्य माने गए और आजतक माने जाते है । गुप्त जी की 'यशोधरा' मे निर्वाण के लिए जाते हुए सिद्धार्थ कहते है—

'वह कर्म-काण्ड-ताण्डव-विकास
वेदी पर हिसा-हास-रास,
लोलुप-रसना का लोल-लास,
तुम देखो ऋग्, यजु और साम !
ओ क्षणभगुर भव, राम राम !'

इन पक्तियो मे ससार के हिसापूर्ण कर्म-काण्ड, यज्ञादि के प्रति गौतम की घृणा ही व्यजित हुई है । किन्तु शारदातनय की कल्पना का आधार यह मानसिक घृणा कदापि नही मानी जा सकती ।

आचार्यों की स्थूल दृष्टि—रस-निरूपण मे हमारे प्राचीन आचार्यों की दृष्टि स्थूल ही मानी जायगी । उन्होने रस के मनोवैज्ञानिक रूप पर स्थूलता का इतना आवरण चढा दिया था कि रस का मनोवैज्ञानिक स्वरूप बहुत-कुछ आच्छादित होने लगता है । उदाहरण के लिए पहले शृगार को ही लीजिए। प्राचीन आचार्यों ने शृगार रस का जितना विस्तृत विवेचन किया है, उतना किसी भी रस का नही । परन्तु शृगार मे भी उनकी दृष्टि कितनी स्थूल थी, यह मम्मट के शृगार-प्रतिपादन से ही स्पष्ट हो जाता है । शृगार के सभोग और विप्रलभ दो भेद बताते हुए, वे सभोग के सम्बन्ध मे जो विश्लेषण प्रस्तुत करते है, वह सब उनकी स्थूल दृष्टि का ही परिचायक है । उसमे रस का मानसिक मनोवैज्ञानिक रूप बिलकुल दब गया है । उनका कथन है—"तत्र शृगारस्य द्वौ भेदौ सभोगो विप्रलम्भश्च । तत्राद्य परस्परावलोकनालिगनाधरपानपरिचुम्बनाद्यनन्तत्वादपरिच्छेद्य एक एव गण्यते ।"[२]

मम्मट आदि आचार्यो-द्वारा सयोग के स्थान पर सभोग-कथन ही शृगार के इस पक्ष की बाह्य स्थूलता का परिचायक है । उपर्युक्त पक्तियो मे नायिका और नायक के परस्पर अवलोकन, आलिगन, अधरपान, परिचुम्बन आदि बाह्य व्यापारो को ही मम्मट सयोग के विभिन्न रूप बताते है । शृगार का स्थायी भाव रति या प्रेम

१. डा० ब्रजवासीलाल श्रीवास्तव . करुणरस (प्रथम सस्करण), पृ० ३८ ।
२. मम्मट : काव्य प्रकाश (चतुर्थ उल्लास) हिन्दी अनुवाद सहित, साहित्य सम्मेलन, द्वितीय संस्करण, पृ० ६६ ।

है। उस के मानसिक पक्ष का इसमे अभाव-सा ही है। आगे 'नायिका द्वारा आरब्ध' तथा 'नायक द्वारा आरब्ध' सभोग शृगार के जो उदाहरण दिए गए है वे सब स्थूल काम-क्रीडाओ से ही सम्बन्ध रखते है। नायिका द्वारा आरम्भ किए गए सभोग के उदाहरण-स्वरूप अमरूक का 'शून्य वासगृह विलोक्य' वाला प्रसिद्ध श्लोक प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार नायक द्वारा आरम्भ किए गए सभोग शृगार का यह उदाहरण दिया गया है—

'त्व मुग्धाक्षि विनैव कचुलिकया धत्से मनोहारिणी
लक्ष्मीमित्यामिधायिनि प्रियतमे तद्वीटिकासस्पृशि।
शय्योपान्त निविष्ट सस्मितसखीनेत्रोत्सवानन्दितो
निर्यात शनकैरलीकवचनोपन्यासमालीजन'॥३१॥

अर्थात्—"(नायिका के निर्भर आलिगन मे विघ्नस्वरूप चोली को नायिका के शरीर पर से उतार डालने के लिए प्रवृत्त नायक अपनी नायिका से कहता है) हे सुन्दर नेत्रो वाली प्रिये! तेरे शरीर की मनोहारिणी शोभा तो चोली के बिना पहिने भी बनी रहती है (अतएव तू इसे उतार कर फेक दे)। जब प्रियतम ने इतना कहकर नायिका की चोली के बधनो को खोलने के लिए अपने हाथो से छुआ तो नायिका के विकसित नेत्रो को देख, प्रसन्न हो, सेज के समीप बैठी मुसकराती हुई सखियाँ वहाँ से झूठी बाते बनाती हुई धीरे-धीरे खिसक गई।"

सयोग मे तो सभोग की स्थूल भावना इन्हे रुचिकर हुई ही, विप्रलभ मे भी स्थूलता का परिचय मिलता है। विरहपक्ष कितना मानसिक पक्ष है! पर आचार्यो की स्थूल दृष्टि सूक्ष्म आत्मिक प्रेम का भली प्रकार अवलोकन नही कर सकी। उनके शृगार-विवेचन मे सूक्ष्म प्रेम की अपेक्षा कामोत्तेजना का आधार अधिक है। वियोग-पक्ष का मम्मट-द्वारा प्रस्तुत निम्न उदाहरण देखिए—

"अन्यत्र व्रजतीति का खलु कथा नाप्यस्य तादृक् सुहृद्
यो मानेच्छति नागतश्च हहहा कोऽय विधे प्रक्रम।
इत्यल्पेतरकल्पनाकवलितस्वान्ता निशान्तान्तरे
बाला वृत्तविवर्तनव्यतिकरा नाप्नोति निद्रा निशि" ॥३३॥

अर्थात (नायक के यथासमय उपस्थित न होने पर विरहोत्कण्ठिता नायिका के वर्णन मे कवि कहता है—) नायिका अपने मन मे विचार करके कहती है कि यह तो हो नही सकता कि वह (नायक) किसी दूसरी नायिका के घर चला जाय। न तो उसका कोई ऐसा मित्र ही है कि जिसके (अतिशय प्रेम के) कारण वह मुझे न चाहे। परन्तु वह यथासमय आया भी नही। हाय! हाय! यह विधाता की कैसी चाल है? उक्त प्रकार की अनेक कल्पनाओ से व्याप्तचित्त नायिका अपने शयनागार मे सेज पर करवटे पलटती हुई रात्रि मे नीद नही लेने पाती।

मम्मट आचार्य के वीर, भयानक, बीभत्स आदि के उदाहरण भी उनकी विषयगत दृष्टि के ही परिचायक है। इसी प्रकार भाव-शान्ति, भावोदय, भावसधि तथा भाव-शबलता के उदाहरण (श्लोक न० ५०, ५१, ५२, ५३ आदि) भी सर्वथा स्थूल प्रवृत्ति के परिचायक है। भाव-शाति का उदाहरण यह दिया गया है—

तस्या सान्द्रविलेपनस्तनयुग प्रश्लेषमुद्राकित
कि वक्षश्चरणानतिव्यतिकरव्याजेन गोपाय्यते
इत्युक्ते क्व तदित्युदीर्य सहसा तत्सम्प्रमार्ष्टुमया
साश्लिष्टा रभसेन तत्सुख वशात्तन्व्यापि तद्विस्मृतम् ॥ ५० ॥

अर्थात् कोई धृष्ट नायक अपने मित्र मे अपनी खण्डिता नायिका के क्रोध तथा क्रोध-शाति का वर्णन करता हुआ कहता है—जब उस (नायिका) ने कहा कि सपत्नी (मेरी सौत) के घने चन्दन से लिप्त दोनो स्तनो के गाढालिगन-चिह्न से युक्त अपने वक्ष स्थल को मेरे चरणो पर प्रणाम करने के बहाने से क्यो छिपाते हो ? तभी 'वह कहाँ है ?'' ऐसा पूछ कर मैने सहसा उस चिह्न के मिटाने के लिए उसके शरीर का गाढ आलिगन कर लिया और वह कृशागी भी मेरे शरीरालिगन के सुख मे उस (उलाहने) को भूल गई।[1]

इस प्रकार के स्थूल शृगार के उदाहरणो का आधार प्राकृत और सस्कृत का मुक्तक काव्य (गाथासप्तशती, आर्या सप्तशती, अमरूक शतक आदि) ही कहा जा सकता है, जिस मे शृगार के शारीरिक बाह्य पक्ष की प्रधानता है, मानसिक रूप कम है और उदात्तता तो बहुत कम। इन लक्षण-ग्रथो के आधार पर अपनी कविता रचने वाले हमारे रीति काल के कवियो का शृगार-चित्रण स्थूल और बाह्यपक्ष-प्रधान क्यो न होता ? हम आगे देखेंगे कि इसी वस्तुगत स्थूल दृष्टि के कारण आचार्यों द्वारा बीभत्स रस आदि का सही स्वरूप-निरूपण नही हो सका है। हमारी रस-पद्धति जितनी मनोवैज्ञानिक है, आचार्यो की बहुत-सी व्याख्याएँ उतनी ही अमनोवैज्ञानिक हो गई है।

शृगार रस ही हमारे आचार्यों के समक्ष नाना भेदोपभेदो के रूप मे प्रकट हुआ है, अन्य रसो का तो उन्होने चलता-सा ही वर्णन किया है। देवरति, पुत्ररति आदि को मम्मट आदि ने केवल भाव की श्रेणी मे ही गिना है। दाम्पत्य रति को ही रस-रूप मे शृगार रस की सज्ञा दी है। इन आचार्यों का यह मत भी मनोवैज्ञानिक सिद्ध नही होता। वात्सल्य रति, देवरति, सख्यरति आदि मे भी उतनी ही तन्मयता, उदात्तता, स्थायित्व और विस्तार सभव है, जितना शृगार मे। वास्तव मे शृगार की ही ये इतनी व्यापक कल्पना कर बैठे कि अन्य रसो की विस्तृत विवेचना करने

१—वही (काव्य प्रकाश), पृ० ७८।

का इन्हे अवकाश ही नही रहा। शृगार रस का विस्तृत वर्णन करने के उपरान्त बाकी रसो की सक्षिप्त-सी गणना करके इन्होने काम चला लिया। अन्य रसो को जीवन की भिन्न-भिन्न परिस्थितियो मे ये नही देख सके। हम तो कहेगे कि शृगार का भी उदात्त रस के रूप मे अवलोकन हमारे आचार्य नही कर सके। प्रेमी अपने प्रिय के लिए असीम त्याग कर सकता है, साहसपूर्वक जान पर खेल जाता है, प्रिय की भावना चराचर सृष्टि मे अनुभव करता है, आदि उदात्त भावनाएँ उन के उदाहरणो मे है ही नही। उन का शृगार प्रिय-प्रेमी का, बल्कि कहना चाहिए नायक-नायिका का ऐकान्तिक काम-व्यापार या प्रेम-व्यापार है, जो जीवन और जगत की भिन्न-भिन्न परिस्थितियो मे विकसित नही होता।

रसो मे प्रधान कौन और अप्रधान कौन ? इस विषय मे भी आचार्यो में बडी भ्रातियाँ पाई जाती है। अभिनवगुप्त ने पुरुषार्थ-सम्बद्धता के दृष्टिकोण से रसानुभूति की प्रधानता का विचार किया है—"तत्र पुरुषार्थनिष्ठा काश्चित्सविद एव प्रधानम्"। किन्तु आश्चर्य है कि अभिनवगुप्त ने केवल रति, क्रोध, उत्साह और निर्वेद—इन चारो की रसानुभूति को ही इस दृष्टि से प्रधान माना है। उन का कथन है कि हासादि (हास, शोक, भय, जुगुप्सा और विस्मय) का तो विशेष रूप से सर्वसाधारण लोगो मे पाए जाने वाले विभावो के द्वारा उपरजकत्व होता है, इसलिए उन का प्राधान्य नही माना जाता है। इसीलिए उत्तम प्रकृति (के रामादि-सदृश उच्च कोटि के नायकादि) मे हास आदि अधिक नही (वर्णित) होते है। और नीच-सदृश सभी (नायकादि विशेष रूप से) हँसते है, (कुछ अत्यधिक) शोक करते है, (कभी) डरते है, (कभी) दूसरे की निन्दा करते है, और थोडा सुख प्राप्त करने के कारण (दूसरो के अधिक सुख-वैभव आदि को देखकर) विस्मित होते है। रति आदि के अग-रूप मे तो इनकी पुरुषार्थ के प्रति उपयोगिता भी हो सकती है।[1]

कहने की आवश्यकता नही कि आचार्य अभिनवगुप्त का यह मत सर्वथा अमान्य है। रसानुभूति के रूप मे ये हास, जुगुप्सा आदि भी पूर्ण उदात्तता लिए होते है, और पुरुषार्थ की दृष्टि से इनका वही महत्त्व है, जो रति आदि अन्य रसो का। इन्हे रति के आश्रित मानकर आचार्य ने अपनी सीमित दृष्टि का ही परिचय दिया है।

---

१ हासादीना तु सातिशय सकललोकसुलभ विभावतयोपरजकत्वमिति न प्राधान्यम्। अतएवानुत्तमप्रकृतिषु बाहुल्येन हासादयो भवन्ति। पामरप्राय· सर्वोऽपि हसति, शोचति, बिभेति, परानिन्दामाद्रियते। अल्पसुख भागित्वेन च सर्वत्र विस्मयते। रत्याद्यगतया तु पुमर्थोपयोगित्वमपि स्यादेषाम्।

—हिन्दी अभिनव भारती—पृ० ४७६।

इस प्रकार आचार्यों की रस-दृष्टि मे कही-कही दोष पाया जाता है । रस के मानसिक उदात्त रूप की स्पष्ट प्रतिष्ठा हमारे आचार्य नही कर पाये थे। सहृदयगत मानसिक अनुभूति का ध्यान छोड़कर कई स्थानो पर वे लौकिक विषयगत अनुभूति को ही रस-प्रक्रिया समझ बैठे । इसी से उनकी रस-मीमासा बीभत्स रस के सम्बन्ध मे पूर्णत तथा रौद्र, भयानक, शृगार आदि के सम्बन्ध मे अशत दोषयुक्त हो गई है ।

३

रसों का उदात्त रूप

●

(क) रस-सामग्री मे उदात्तता

स्थायी भाव रस का आधार स्थायी भाव है, जो सहृदयो मे वासना या सस्कार-रूप से विद्यमान रहता है। यह प्रधान प्रतिष्ठित भाव होता है। अपने सचरण-काल मे यह अनेक अन्य (सचारी) भावो को भी अपने मे समा लेता है। इसमे आस्वाद्यता का गुण होता है। हमारे प्राचीन आचार्यो ने स्थायीभाव के सम्बन्ध मे पर्याप्त विस्तार से विचार किया है। आचार्यो ने एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह बताया कि स्थायीभाव मे आस्वाद (रसास्वाद) के अकुरण की क्षमता होती है। अब प्रश्न यह है कि कैसे भावो मे आस्वाद का गुण होता है ? निश्चय ही उदात्त भाव ही आस्वाद्य हो सकता है। आचार्यो ने आस्वाद की बात तो कही, पर स्थायी भाव के उदात्त रूप का वे स्पष्टीकरण नही कर सके। उनके विवेचन से स्थायी भाव की व्यापकता, प्रमुखता, सस्कार-रूप मे विद्यमानता आदि बाते तो स्पष्ट हुई, पर स्थायी भाव के औदात्य का स्पष्टीकरण नही हुआ। सीधी-सी बात है कि प्राय समस्त मानवीय भाव दो रूपो मे प्रकट होते है—एक रूप है उनका स्पृहणीय, ग्राह्य, वाछनीय भव्य रूप, दूसरा हो सकता है अग्राह्य, तुच्छ, अवाछनीय रूप। जैसे, क्रोध का तुच्छ रूप वह है, जब किसी मामूली बात पर कोई यो ही गरम हो जाय, और किसी दुष्ट या अत्याचारी के प्रति व्यक्त क्रोध ग्राह्य या अच्छा कहा जायगा। इसी प्रकार धर्मांधता या सकीर्णता के कारण किसी दूसरे धर्म या धर्मावलम्बियो से या जाति-भेद अथवा रग-भेद के कारण घृणा करना तुच्छ घृणा है, और किसी भ्रष्टाचारी, व्यभिचारी, अन्यायी व्यक्ति या उसके कृत्य पर घृणा करना ग्राह्य या उचित है। कायरता से डरकर भागना या भयभीत हो जाना भय का अनुचित रूप है, जिसकी प्रशसा कोई नही कर सकता। किन्तु पाप-कर्म से भय खाना या किसी अबला का किसी दुष्ट दानव से भयभीत होना भय का उचित रूप है। किसी पर अनुचित रूप से हँसना, या बेवक्त हँसना हास का अनुचित रूप है, हास्य के वास्तविक आलम्बन पर हँसना उचित है। प्रेम का सकीर्ण और स्वार्थी रूप, जिसे लोभ या मोह भी कहा जा सकता है, अनुचित है, और निस्वार्थ, सच्चा मानवीय प्रेम उदात्त और उचित है। इसी प्रकार सभी भावो के बारे मे समझना चाहिए।

अब पहली बात समझने की यह है कि काव्य या साहित्य मे कवि या पाठक की अनुभूति का सम्बन्ध ग्राह्य या उचित अथवा उदात्त भावो से होता है, अनुचित या अग्राह्य भावो से नही। साहित्य मे काव्यगत पात्रो के भाव या प्रवृत्तियाँ अनुचित या अग्राह्य भी होती है। पर कवि और पाठक उनसे भी किसी-न-किसी प्रकार का अन्य उदात्त भाव ग्रहण करता है। वही ग्राह्य भाव उसके आस्वाद का विषय होता है। जैसे, हमने पहले भी कहा है, अशोक वाटिका मे सीता जी पर क्रोध जताने वाले रावण के अनुचित क्रोध से भी कवि या पाठक के मन मे रावण के प्रति घृणा का उचित या ग्राह्य भाव ही उत्पन्न होगा, और वही इस प्रसग मे आस्वाद का विषय होगा। मनोविज्ञान का सम्बन्ध तो सभी प्रकार के भावो से होता है, और साहित्य-सामग्री भी सभी प्रकार के भावो का कोष होती है। पर हम उनमे से उन्ही भावो मे आनन्द लेते है, जो हमे अच्छे लगते है, अर्थात् उचित जचते है। अनुचित भावो से भी हम अन्य उचित अनुभूति प्राप्त करते है। अत हमारी अनुभूतियो का सम्बन्ध अच्छे भावो से होता है। जो वस्तु या भाव हमे अच्छा लगता है, उसी मे तो हम अपना मन रमाते है। अत काव्यास्वाद या काव्यानन्द का आधार है—अच्छे या सुन्दर भाव—ग्राह्य भाव अथवा उदात्त भाव।

दूसरी बात इसके साथ ही यह समझ रखनी चाहिए कि काव्यानन्द या काव्यास्वाद अथवा रस की समस्त सामग्री अर्थात् उदात्त भाव या अच्छे भाव के सब रूप भी अच्छे होगे, उचित होगे, ग्राह्य होगे, उदात्त होगे। कवि या पाठक की उचित अनुभूति से सम्बन्धित सब बाते उचित होगी, तभी तो हमारा मन उनमे रमा रहेगा। अत स्थायी भाव ही नही, उससे सम्बन्धित, उसके पक्ष के सभी भाव (सचारी भाव), विभावानुभाव आदि अनुभूति का विषय बनने वाली समस्त काव्य सामग्री अच्छी, सुन्दर या उदात्त होती है। आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव, सचारी भाव आदि सब भी स्थायीभाव के साथ उदात्त रूप मे प्रकट होते है।

मनोविज्ञान का क्षेत्र तो सम्पूर्ण भाव-जगत् है। किन्तु काव्य मनोविज्ञान या काव्यानुभूति का सम्बन्ध केवल उदात्त भावो से है। अत आचार्यों ने साहित्य के जो स्थायी या सचारी भाव बताये है, वे अनिवार्य रूप से अच्छे या ग्राह्य अथवा उदात्त भाव है, स्थायी या सचारी भावो के बारे मे यह बात सदा ध्यान मे रखनी चाहिए। इसे भुलाकर ही डा० राकेश गुप्त आदि कुछ विचारको ने इन स्थायी-सचारी भावो को गलत समझ कर भ्रान्त धारणाये व्यक्त की है। आचार्यों ने स्थायी भाव को आस्वाद्य बताया। परन्तु वास्तव मे आस्वाद का गुण सचारी भाव मे भी है, क्योकि जो अच्छा है, वह मन को रमाता है, स्वाद देता है। अभिनवगुप्त आदि ने भी स्वीकार किया है कि विभावादि भी रसत्व (आस्वाद) का गुण रखते है। पर सचारी भाव स्वतन्त्र रूप से नही, अपितु स्थायी भावो के आश्रय ही रसत्व का गुण रखते हैं।

हमारे प्राचीन आचार्यों ने काव्यानुभूति या (उदात्त) भावानुभूति अर्थात् रस-

प्रक्रिया का जो सूक्ष्म विवेचन किया है—काव्य-मनोविज्ञान का जो अत्यन्त सूक्ष्म, स्पष्ट और पूर्ण विश्लेषण किया है, उसे देखकर रस-सिद्धान्त के आदि आचार्य की अद्भुत प्रतिभा पर आश्चर्य होता है, श्रद्धा से मस्तक झुक जाता है। काश ! कि हमे उस आदि आचार्य का परिचय कही से मिल जाता ! भरत मुनि तो आदि आचार्य नही माने जा सकते। रस-आचार्यों ने काव्य (काव्यानुभूति) के भावो को दो भागो मे बाँटा—स्थायी भाव और सचारी भाव। विभाजन का यह आधार भी बहुत सूक्ष्म है। यद्यपि उनके स्थायी भावो के निर्धारण मे मनोविज्ञान का कोई सीधा हाथ नही है, तथापि यह काव्य-मनोविज्ञान पर्याप्त मात्रा मे मनोविज्ञान-सम्मत भी है। अब जरा पाश्चात्य मनोविज्ञान की दृष्टि से स्थायी भावो पर विचार करते है।

हमारे मानसिक सस्थान की तीन प्रकार की बोधदशाएँ या अनुभव होते है—(१) बुद्धि या ज्ञान से चालित बोधमूलक अनुभव, (२) हृदय से सम्बन्धित भावात्मक अनुभव, और (३) शारीरिक क्रिया द्वारा चालित सकल्पात्मक या प्रेरणात्मक अनुभव। इस बोध-चक्र को ही ज्ञान, इच्छा और क्रिया कहा जाता हे। हमारे 'स्थायीभावो' तथा पाश्चात्य मनोविज्ञान की स्थायी प्रवृत्तियो या सहज वृत्तियो (Instincts) मे यह त्रिविध बोध-पक्ष अनिवार्य रूप से रहता है, अर्थात् 'स्थायीभाव' या सहज वृत्तियाँ (Instincts) ज्ञानमूलक, भावमूलक और क्रियामूलक अनुभव को कहते है। प्रत्येक सहजवृत्ति के साथ कुछ सहचर (स्थायी) भावनाएँ सम्बद्ध रहती है, जिन्हे 'सेण्टीमेण्ट' कहते है। इन सहचर या स्थायी भावनाओ से अनेक मनोवेगो (Emotions) का सम्बन्ध रहता है। सहचर भावनाओ (Sentiments) और मनोवेगो को भावप्रधान चित्तवृत्तियाँ भी कह सकते है, क्योकि इनमे त्रिविध बोधपक्ष मे से भावपक्ष की प्रधानता रहती है। पाश्चात्य सहज वृत्तियो और हमारे 'स्थायीभावो' मे एक अन्तर तो यह है कि सहजवृत्तियो का सम्बन्ध मानव-प्रकृति से है, गुण-धर्म से है, जबकि 'स्थायीभाव' का सम्बन्ध सीधा भाव से है। इसलिए जहाँ सहज वृत्तियाँ भाव-प्रधान नही होती, वहाँ 'स्थायीभाव' भाव-प्रधान होते है। दूसरे, सहज प्रवृत्तियो मे सभी प्रकार की अच्छी-बुरी प्रवृत्तियाँ सम्मिलित हे, जबकि 'स्थायीभावो' मे अनिवार्य-रूप से अच्छे भाव ही सम्मिलित है, जो हमारी सत्प्रवृत्तियो को ही जगाते है। भाव-प्रधानता और स्थायित्व या प्रमुखता की समानता के कारण हमारे 'स्थायीभाव' पाश्चात्य सहचर या स्थायी भावनाओ (Sentiments) से समानता रखते है। परन्तु ध्यान रहे कि पाश्चात्य मनोविज्ञान के सभी 'सेण्टीमेण्ट' या उनके सब रूप भी हमारे स्थायी-भाव नही है। वास्तव मे इन (Sentiments) मे से जिन-जिन का उदात्त सम्प्रेषणीय व्यापक रूप काव्य मे सम्भव है, वे ही अपने उदात्त रूप मे हमारे 'स्थायी भाव' है। लोभ, कामातुरता, हीनभावना, गर्व आदि 'सेण्टिमेण्ट' इसी अभाव से हमारे 'स्थायी भाव' नही है। क्रोध, भय आदि का भी उदात्त रूप ही 'स्थायीभाव' है।

पाश्चात्य मनोविज्ञान की मूल या सहज वृत्तियाँ निम्न १४ है—

१ Instinct of Flight or Escape, अर्थात् बचने की प्रवृत्ति या पलायन।
सहचर भावना—भय।
शारीरिक चिह्न—हाथ-पाँव काँपना, धड़कन, भागना आदि।

२ The Instinct of Pugnacity or Combat, युद्ध-प्रवृत्ति।
सहचर भावना—क्रोध।
शारीरिक प्रकाशन—भौंह चढाना, आँखे लाल होना, होठ चबाना, हाथ उठाना आदि।

३ The Parental Instinct (पालन या रक्षण-वृत्ति)।
सहचर भावना—वात्सल्य, स्नेह, अनुकम्पा, करुणा।

४ The Instinct of Repulsion (जुगुप्सा या घृणा)।
सहचर भावना—घृणा, वैराग्य।
शारीरिक उपलक्षण—नाक-भौं सिकोड़ना, जी मचलाना, मुँह मोड़ना, धिक्कारना आदि)।

५ Sexual Instinct (Pairing), अर्थात् काम-प्रवृत्ति।
सहचर भावना—कामातुरता।
शारीरिक चिह्न—रोमांच, आलिंगन, चुम्बन आदि।

६ The Instinct of Curiosity (जिज्ञासा, उत्सुकता)।
सहचर भावना—कौतुहल, विस्मय।
शारीरिक अभिव्यक्ति—चकित होना, खोज करना, आँखे फाड़ना आदि।

७. The Instinct of Self-assertion (अहमन्यता, अहभावना)।
सहचर भावना—प्रभुत्वकामना, गर्व, आत्मश्रेष्ठता का भाव (Superiority Complex)।
शारीरिक रूप—अकड़ना, छाती तानना, दूसरो का तिरस्कार करना आदि।

८. The Instinct of Self-abasement or Submission (शरणागति, अधीनता)।
सहचर भाव—विवशता, निराश्रयता, हीनभावना (Inferiority Complex)।
शारीरिक लक्षण—दीनता-प्रकाशन, पाँव पकड़ना, लजाना आदि।

९ Appealing (प्रार्थना, दैन्यता)। सहचर भाव—निवेदन, प्रार्थना।
शारीरिक प्रकाशन—गिड़गिड़ाना, याचना करना आदि।

१० The Gregarious Instinct (संघ या सामाजिक वृत्ति)।
सहचर भावना—आत्मीयता, प्रेम, करुणा, दया आदि।
शारीरिक प्रवृत्ति—सहवास-प्राप्ति, सहायता करना, मिलना-जुलना आदि।

११ Food-seeking (भोजनादि का उपार्जन)।

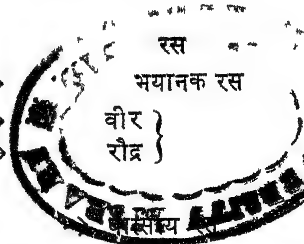
१२ Acquisition (सचय या लोभ) ।
सहचर भावना—लोभ, अधिकार पाने की कामना (Appropriation)।
शारीरिक उपलक्षण—प्राप्ति के लिए प्रयत्न, खोज, रक्षा करना आदि ।

१३ Construction (नव-निर्माण) ।
भावना—तदनुकूल उत्साह, लगन आदि भाव और काम मे लगना आदि शारीरिक प्रवृत्ति ।

१४ Laughter (हास्य) ।
भावना—विनोद-प्रियता, हँसी, प्रसन्नता ।
शारीरिक ज्ञापन—हँसना, लोट-पोट होना, कल-नाद आदि ।

एक तरह से इन सब मूल प्रवृत्तियो का फ्रायड की काम-प्रवृत्ति, एडलर की प्रभुत्व-कामना और युग की आत्मरक्षा की प्रमुख प्रवृत्तियो मे अन्तर्भाव हो जाता है। इनमे आठवी और नवमी वस्तुत एक ही प्रवृत्ति के दो रूप है। इसी प्रकार ११वी और १२वी तथा ७वी और १३वी मे समानता है। यदि व्यापक रूप मे काम-प्रवृत्ति को लिया जाय, तो पालन-वृत्ति, अहभावना, सघ-वृत्ति, उपार्जन-वृत्ति आदि का उसमे अन्तर्भाव हो जाता है। प्रभुत्वकामना और आत्मरक्षण का प्रसार तो सब मे और भी स्पष्ट है। आत्म-रक्षा के लिए ही हममे बचने की प्रवृत्ति होती है, प्रभुत्वकामना और आत्मरक्षण से ही हम द्वन्द्व करते है, प्रभुत्व के ही कारण दूसरो से घृणा करते है। इसी के सहारे दूसरो का पालन करते हैं, गर्व करते है, सचय करते और काम मे प्रवृत्त होते है। दैन्य या हीनता की प्रवृत्ति अवश्य प्रभुत्वकामना के विरुद्ध दिखाई देती है, पर एडलर ने वास्तव मे इसी को मूल मानकर इसकी पूर्ति के ही हेतु प्रभुत्व-कामना को स्वीकार किया है।

पहले भी कहा है, हमारे प्राचीन आचार्यो ने इन मानवीय सहज प्रवृत्तियो मे से उन्ही की सहचर भावना को 'स्थायी भाव' बनाया है, जिनका काव्य मे उदात्त, विस्तृत और व्यापक रूप मे सम्प्रेषण सभव है। इन सहज प्रवृत्तियो के आधार पर प्राचीन आचार्यो के स्थायी भावो की सगति इस तरह बिठलाई जा सकती है—



सहज प्रवृत्ति	स्थायी भाव	रस
१ बचने की प्रवृत्ति →	भय →	भयानक रस
२ युद्ध-प्रवृत्ति → {	युद्धोत्साह-साहस →	वीर }
	क्रोध →	रौद्र }
३ पालन-रक्षण-वृत्ति		
(क) पुत्र-पालन-रक्षण	→ वत्सलता	वात्सल्य
(ख) प्रिय-पालन-रक्षण	→ दाम्पत्य प्रेम	→ शृगार रस
(ग) भ्रातृ, मित्र, देशादि-रक्षण	→ स्नेह, प्रेम	→ सख्य रस और देश-प्रेम

(घ) दीन-हीन-रक्षण-पालन → शोक → करुण रस
४ जुगुप्सा → { घृणा → बीभत्स रस
{ निर्वेद → शात रस
५ काम-प्रवृत्ति → दाम्पत्यरति → शृगार
६ जिज्ञासा, उत्सुकता → विस्मय → अद्भुत रस
७-१३ अहमन्यता, प्रभुत्वकामना → गर्वोत्साह-साहस → वीर रस
तथा नव-निर्माण → कर्मोत्साह-साहस → वीर रस
८-९ दैन्य, प्रार्थना, अधीनता → भगवत्प्रेम → भक्ति रस
१० सघ या सामाजिक प्रवृत्ति → रति-व्यापक → देश प्रेम, सख्य रसादि

११ भोजनोपार्जन की प्रवृत्ति जीव की भौतिक क्षुधा-पूर्ति से सम्बन्ध रखती है। पशु के लिए जो भक्ष्यान्वेषण है, वही मानव के लिए धनोपार्जन बन गई है। इसका 'स्थायी भाव' से क्या सामान्य भाव से भी सम्बन्ध नही है। अत इससे किसी 'स्थायी भाव' की सीधी सभावना नही हो सकती। वैसे भी यह प्रवृत्ति स्वतन्त्र प्रतीत नही होती। इसका स्वतन्त्र रूप शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति मात्र है। वास्तव मे आत्मरक्षण की उपर्युक्त प्रवृत्ति के ही अन्तर्गत इसे सम्मिलित किया जा सकता है।

१२ इसी प्रकार लोभ की भावना का न तो कोई उदात्त रूप ही सामने आता है, और न ही व्यापक रूप मे उसका सम्प्रेषण ही सभव है। आचार्य शुक्ल ने जन्मभूमि के प्रति जिस लोभ की बात अपने 'लोभ और प्रीति' शीर्षक निबन्ध मे चलाई है (देखिए चितामणि भाग १, पृ० ७६-७८), वह वास्तव मे प्रेम भाव ही है। ऐसे लोभ का उदात्त रूप प्रेम ही हो सकता है।

१४ हास्य → हास → हास्य रस।

ध्यान रहना चाहिए कि उपर्युक्त सहज प्रवृत्तियो के उदात्त रूपो से ही सम्बन्धित 'स्थायी भावो' की सभावना हो सकती है। काम-प्रवृत्ति अपने शुद्ध रूप मे भोजन-प्रवृत्ति की तरह केवल शारीरिक क्षुधा है। जब तक उसके मूल मे प्रेम भाव न होगा, तब तक वह शृगार रस का विषय नही कही जा सकती। अत ऊपर हमने जो उससे दाम्पत्य रति और शृगार रस की सभावना का उल्लेख किया है, वह उसके शुद्ध रूप से नही समझना चाहिए, अपितु उसके साथ प्रेम के सम्मिश्रण से ही यह सभावना समझनी चाहिए। विशुद्ध काम-प्रवृत्ति का कोई उदात्त रूप नही होता।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हुआ होगा कि पाश्चात्य मनोवैज्ञानिको की जिन सहज प्रवृत्तियो या सहचर भावनाओ का उदात्त रूप सभव है, वे सब हमारे 'स्थायी भाव' है। अत किसी भाव के काव्यगत 'स्थायी भाव' बनने की कसौटी यह है—(१) भाव का सहृदय-मात्र के लिए स्पृहणीय हो सकना। अर्थात् भाव ऐसे रूप मे प्रकट

हो सके कि सब को वाछित हो, ग्राह्य हो, सब की आनन्दानुभूति का विषय बन सके। लोभ ग्राह्य नही, प्रेम ग्राह्य है। पराधीनता ग्राह्य नही, भगवद् शरणागति ग्राह्य है। अहकार या अभिमान स्पृहणीय नही हो सकता, गर्वोत्साह या स्वाभिमानोत्साह हो सकता है। ईर्ष्या स्पृहणीय नही, स्पर्द्धा-उत्साह (कर्मोत्साह) हो सकता है। आचार्यो ने जो ३३ सचारी गिनाये है, उनमे जडता, अपस्मार, आलस्य, उन्माद, व्याधि, चिन्ता आदि भाव अपने स्वतन्त्र रूप मे स्पृहणीय भाव नही हो सकते। अत उनके स्थायी भाव बनने का प्रश्न ही नही उठता। जो भाव स्पृहणीय नही, वह आस्वाद्य नही हो सकता। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिको ने यद्यपि शोक और उत्साह-साहस को मूल भाव या प्रवृत्ति नही बताया, तो भी आस्वाद्य या स्पृहणीय सम्प्रेष्य होने के कारण ही इन्हे हमारे यहाँ 'स्थायी भाव' स्वीकृत किया गया है। अत आस्वाद्यता या स्पृहणीय प्रेषणीयता या उदात्त रूप मे सर्वग्राह्य अनुभूति स्थायी भाव की अनिवार्य कसौटी है।

स्थायी भाव की दूसरी आवश्यक कसौटी है, उसका व्यापक एव उत्कट रूप मे स्वतत्रता से प्रकट हो सकना। विभावादि की अनेक तरगो से पुष्ट होकर जो भाव हृदय पर उत्कट प्रभाव उत्पन्न करे, जो मानव की सत्प्रवृत्ति और निवृत्ति को जगाने मे समर्थ हो, वही स्थायी भाव की कोटि मे गिना जा सकता है। जिस भाव के स्वतत्र विषय पाठक या सामाजिक के सामने व्यापक रूप मे प्रस्तुत हो सके, वही भाव स्थायी भाव की सज्ञा पा सकता है।

आचार्यो के 'स्थायी-सचारी' विभाजन का यही आधार है। अब प्रश्न उठ सकता है कि 'स्थायी भाव' केवल नौ भावो को ही क्यो माना गया है, क्या 'सचारियो' मे से कोई अन्य भाव रस रूप नही हो सकता? इस सम्बन्ध मे डा० राकेश गुप्त ने कहा है कि यदि सचारी भी विभावादि से पुष्ट होकर प्रस्तुत हो, तो रस दशा को प्राप्त हो सकते है।[1] परन्तु हम देखते है कि इन सचारी भावो का प्रेषण सहृदय-मात्र मे स्वतत्र रूप मे होना असभव ही है। जैसे, हर्ष का कोई विशिष्ट रूप ही नही, प्रेषण का कोई स्वतन्त्र आधार और तीव्र रूप नही। यही बात मद, जडता, उन्माद, मोह आदि के बारे मे कही जा सकती है। इस सारी भ्राति का कारण हमारे स्थायी भावो और मनोविज्ञानिको के 'सेटिमेट' या स्थायी भावावेगो (Permanent Emotions) को एक समझ लेना है। पर, जैसा कि कहा जा चुका है, पाश्चात्य मनोवैज्ञानिको के भाव हमारे 'स्थायी भाव' नही है। मनोविज्ञानिको ने 'सेटिमेट' या 'इमोशन' आदि पर सामान्य मन स्थितियो के रूप मे विचार किया है, जबकि हमारे आचार्यो ने काव्यानुभूति की दृष्टि से ही 'स्थायी-सचारी'-वर्गीकरण किया है।

---

1 *Psychological Studies In Rasa*, p 164

'स्थायी-सचारी' भावो के सम्बन्ध मे यह तथ्य भुला कर 'रस तथा रस-प्रक्रिया का मनोवैज्ञानिक अध्ययन' करने वाले डा० राकेश गुप्त ने अपने थीसिस मे कई प्रकार की भ्रातियाँ फैलाई है। स्थायी भाव से अभिप्राय केवल उस सामान्य भाव से नही है, जो देर तक मन मे रहता है, अपितु उस स्पृहणीय भाव से है जो साहित्यिक रचनाओ मे व्यापकता के साथ स्वतत्र रूप मे प्रकट हो सकता हे। उत्साह का ही उदाहरण लीजिए। एक व्यक्ति अपने मित्र के आगमन पर उसके स्वागत मे उत्साह दिखाता है। उसका यह उत्साह स्थायी भाव नही कहा जा सकता, क्योकि वह अपने स्वतत्र रूप मे कोई उदात्त रूप नही रखता। प्रेम का सचारी बनकर ही यह उदात्त रूप मे प्रकट होता है। किन्तु जो व्यक्ति दीन-हीन व्यक्तियो या दुखी प्राणियो की सेवा-सहायता करने मे उत्साहपूर्वक प्रवृत्त होता हे, उसका उत्साह उदात्त होने से स्थायी भाव कहलाता है। स्थायी भाव से यदि देर तक मन मे रहने वाले भाव से अभिप्राय हो, तो क्रोध की अपेक्षा वैर को ही अधिक स्थायी कहा जायगा, जबकि आचार्यो ने वैर को साहित्यानुभूति का भाव ही नही माना। वास्तव मे आचार्यों का वर्गीकरण सहृदयानुभूति के आधार पर ही है। डा० राकेश गुप्त का यह कथन[१] कि 'स्थायी भावो' का सम्बन्ध पाठक से नही है, काव्यगत पात्र से है, रस-सिद्धान्त या काव्य-मनोविज्ञान (काव्यानुभूति) के सर्वथा विरुद्ध है। आश्चर्य है कि काव्य के भावो के सम्बन्ध मे डा० राकेश ऐसी भ्रात धारणा कैसे प्रकट कर गए! अग्रेजी विद्वान् रिचर्डस ने भी काव्यगत अनुभूतियो से अभिप्राय पाठक की अनुभूतियाँ ही माना है।[२] और हमारे आचार्य तो प्राचीन काल से आधुनिक युग मे शुक्ल जी तक यही कहते आए है कि काव्यगत पात्र के रति, शोक आदि भाव लौकिक भाव ही होते है, स्थायीभाव नही। 'स्थायीभाव' सहृदय पाठक के ही भाव होते हे, पात्र के नही। हम ऊपर भी निवेदन कर चुके है कि आचार्यो का भाव-निरूपण साहित्य के अन्तर्गत रसानुभूति या भावानुभूति की दृष्टि से ही मनोवैज्ञानिक सिद्ध होता है, उसे साहित्य से बाहर की मन स्थितियो पर घटाने से भ्राति ही पैदा होगी। ऐसी ही भ्राति का शिकार डा० राकेश गुप्त हुए हे। उनका कथन है—"I for myself do not know if there can be a more absurd statement than to say that a man cannot feel envy ('Asuya') and pride ('Garva') as long as he can feel disgust ('Gharana') and

---

1 " It is, however, necessary to point out that we cannot attribute the 'Sthayibhavas' to the perceiver of a poetic phenomenon "
—*Psychological Studies In Rasa*, p 130

2. "By the phrase—emotional element in literature, then, we will understand the power of literature to awaken emotion in us, who read, emotional element in literature means the emotion of the reader "

wonder ('Vismya'), or that joy ('Harsha') cannot be felt as long as mirth ('Hasa') can be felt What rational man can have the audacity to deny that hours, nay days and sometimes even months and years are spent in anxiety ('Chinta') [1] अर्थात् यह मानना कितना वाहियात है कि एक व्यक्ति असूया या गर्व का उतनी देर तक अनुभव नही कर सकता जितनी देर घृणा या विस्मय का अनुभव कर सकता है, या यह कहना कि हर्ष उतनी देर तक अनुभूति का विषय नही बनता जितनी देर तक हास। चिन्ता का भाव घटो नही, दिनो, वर्षों तक रहता है।"

डा० गुप्त की विवेचना को क्या कहे ! आचार्यों की धारणा को हास्यास्पद कहते-कहते वे स्वय अपनी विवेचना को हास्यास्पद बना बैठे है। 'स्थायी-सचारी'-वर्गीकरण को सहृदय पाठक की अनुभूति की बजाय, पात्रगत मानने से ही उनकी आलोचना दोषयुक्त बन गई है। किसी पात्र की असूया या ईर्ष्या से पाठक की अनुभूति का कहाँ तक और कितनी देर तक सम्बन्ध है, यदि इस बात पर वे विचार करते, तो आचार्यो की धारणा को 'एब्सर्ड' (absurd) कहने का साहस न करते। ठीक है, लौकिक दृष्टि से ईर्ष्या का भाव पर्याप्त स्थायित्व रखता हे, किन्तु साहित्यिक दृष्टि से वह कितना स्थायी है, यह देखना ही उसकी साहित्यगत स्थायी अवस्था या सचारी दशा का निर्णय कर सकता है। काव्यगत शोक स्थायी भाव की अनुभूति तो पाठक या कवि को स्थायी रूप से हो सकती है, किन्तु चिन्ता भाव का स्थायी स्वतन्त्र सम्प्रेषण सभव नही है। देव-जाति के सहार पर मनु चिन्तित अवस्था मे हिमगिरि के उत्तु गश्रृग पर बैठे है, किन्तु क्या हम भी उनके साथ चिन्ता भाव का अनुभव करते हे ? हमे तो शोकानुभूति ही होती है, चिन्ता उसके सचारी-रूप मे आए तो भले ही आए। इसी प्रकार 'हर्ष' भाव मे भी काव्यगत स्वतन्त्र प्रेषणीयता सभव नही। अत काव्य की दृष्टि से आचार्यो का भाव-निरूपण सर्वथा मनोवैज्ञानिक है। इसकी परिधि साहित्य है। ये स्थायी भाव साहित्य के ही स्थायी भाव है और सचारी भी साहित्य के ही सचारी है। जीवन के सामान्य अनुभूति-चक्र के आधार पर यह वर्गीकरण मानना भूल है। पाठक की अनुभूति के ही आधार पर वर्गीकरण होने के कारण तो आचार्यो ने यह भी स्वीकार किया है कि रति, क्रोध, शोक आदि स्थायी भाव भी सचारी रूप मे प्रकट हो सकते है।

बल्कि आचार्यों ने तो यहाँ तक कहा है कि कभी-कभी सचारी भाव भी प्रबल हो जाता है। उस समय उसकी स्थिति राजा के उस नौकर-जैसी होती है, जो अपने विवाह मे दूल्हा होता है, और राजा केवल विवाह मे सम्मिलित होने वाला।[२] जैसे,

---

1 *Psychological Studies In Rasa*, p 163

२ 'मुख्ये रसेऽपि तेऽङ्गित्व प्राप्नुवन्ति कदाचन'—काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, सू० ५१।

दाम्पत्य रति स्थायी भाव मे कही-कही असूया का भाव प्रबल हो सकता है। किन्तु यह ध्यान रहे कि सचारी कितना ही सबल या प्रबल क्यो न हो जाय, वह स्थायीभाव के आधार को नही मिटा सकता। सचारी भावो के चित्रण से भी रसोद्रेक होता है, यह तो सिद्ध बात है। पर वह रस सचारी भाव का स्वतन्त्र रस नही होता। रसानुभूति के सम्बन्ध मे यह माना गया है कि विभावादि मे से किसी एक का चित्रण भी रसोब्दोध की क्षमता रखता है। ऐसी अवस्था मे रस-सामग्री के अन्य अवयवो का आक्षेप कर लिया जाता हे। इसी आशय से यदि यह कहा जाय कि सचारियो का चित्रण भी रसवत् होता है, तो ठीक है। पर डा० राकेश गुप्त ने जो कहा है, उसका अभिप्राय यह हे कि जिन्हे आचार्यो ने सचारीभाव कहा है, वे भी विभावादि से पुष्ट होकर स्वतन्त्र रस-रूप मे अभिव्यक्त हो सकते है और इस प्रकार केवल नौ रस मानना गलती है। परन्तु हम स्पष्ट कर चुके है कि सचारियो मे स्वतन्त्र सम्प्रेषण और स्वतन्त्र आस्वाद्यता का अभाव है। जिस किसी का सम्प्रेषण सम्भव भी है, वह अपने स्वतन्त्र विभावादि नही रखते। डा० राकेश गुप्त ने इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया है कि भावो का यह निराधार बर्गीकरण दो हजार वर्षो से कैसे अन्ध-परम्परागत मान्य रहा है—"It is strange how this classification of 'Bhavas', inaugurated by Bharata or perhaps by even a more ancient author, has been admitted for over a score of centuries by the literary scholars of this country inspite of its being based on such false grounds"

हमे डा० साहब की भ्रातियो पर आश्चर्य हो रहा है। उन्होने क्रोध, भय, घृणा और विस्मय को 'स्थायीभाव' मानने से इसलिए इनकार किया है कि इनमे से कोई भी किसी काव्यरचना मे अगी-रूप प्राप्त नही कर सकता।[१] इस सम्बन्ध मे पहले तो यह बात है कि रति, शोक आदि स्थायीभावो की काव्य मे प्रधानना होती है, इससे यह अभिप्राय नही है कि सब-के-सब स्थायीभाव काव्यो मे प्रमुख रूप से आ सकते है। यह ठीक है कि क्रोध, भयादि के अगी-रूप मे बहुत कम रचनाएँ लिखी गई है, भय शायद ही किसी प्रबन्ध मे प्रधान-रूप से आया हो, पर यह निश्चित है कि काव्य-रचनाओ मे रहेगे प्रमुख स्थायीभाव ही। भयादि के ही स्वतन्त्र आलम्बन आस्वाद का विषय बनते है। कोई सचारी भाव किसी रचना मे भय, क्रोधादि स्थायी भावो से अधिक व्यापक या प्रबल रूप मे प्रकट हो सकता है, पर उसकी प्रबलता से उसके स्थायी भाव की ही सिद्धि मानी जायगी, उसकी स्वतन्त्र महत्ता नही, क्योकि

---

१ "The feelings of Anger ('Krodha'), Fear ('Bhaya'), Disgust ('Gharana') and wonder ('Vismaya'), though classed permanent by them (Acharyas), can never attain the status of a 'Sthayebhava,' for evidently none of them can be the predominent feeling of a whole work"—*Same* p 195

वह स्थायी भाव के ही आश्रय आता है। भयादि एक-आध स्थायी भाव की काव्य मे प्रसार-परिधि चाहे शोकादि से कम हो और वह अगी चाहे न बनाया गया हो, पर उसकी स्वतन्त्र सत्ता ही उसके स्थायी भाव होने का प्रमाण है। दूसरे, यह कहना भी युक्तिसगत नही कि घृणा-क्रोधादि की प्रमुखता पर कोई काव्य रचा ही नही जा सकता। 'वेणी सहार' मे क्रोध की प्रधानता स्पष्ट है। घृणा के सम्बन्ध मे तो यह आक्षेप सर्वथा भ्रातिपूर्ण है। हम सैकडो आधुनिक रचनाएँ उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत कर सकते है—हमने अपने 'बीभत्स रस और हिन्दी साहित्य' नामक थीसिस मे की है—जिनमे बीभत्स रस की प्रधानता है। प्रेमचन्द के 'सेवासादन', 'प्रेमाश्रम', उग्रजी के 'सरकार तुम्हारी आँखो मे', 'शराबी' आदि उपन्यासो मे घृणा स्थायी भाव या बीभत्स रस ही अगी है। अत डा० राकेश गुप्त की उपर्युक्त धारणा भी भ्रमपूर्ण है, अमान्य है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हुआ होगा कि 'स्थायी भाव' स्पृहणीय उदात्त भाव है, आचार्यों का 'स्थायी-सचारी'-वर्गीकरण तथा रस-प्रक्रिया-विवेचन सर्वथा मनोवैज्ञानिक है। आचार्यो का काव्य-मनोविज्ञान उनकी सूक्ष्म काव्य-दृष्टि का परिचायक है। उनका भाव-निरूपण और उनके द्वारा प्रवर्तित नौ स्थायी भाव उनकी सूक्ष्म रस दृष्टि के सूचक है। हाँ, रति (प्रेम) के विविध रूपो को स्वतन्त्र मानकर—वत्सलता या स्नेह से वात्सल्य रस, भगवत्प्रेम से भक्ति रस, सखा-बन्धु-प्रेम से सख्य रस, देश-प्रेम से देश प्रेम आदि अलग-अलग रस भी माने जा सकते है।

विभाव पक्ष

स्थायी भाव को रस-रूपता प्रदान करने मे विभाव पक्ष मूल कारण माना जाता है। 'विभाव' के सम्बन्ध मे आचार्य विश्वनाथ ने कहा है कि 'लोक मे जो जो पदार्थ लौकिक रत्यादि भावो के उद्बोधक हुआ करते है, वे ही काव्य-नाट्य मे निविष्ट होने पर 'विभाव' कहे जाते है।'[1] अर्थात् लोक-जीवन मे रामादि के हृदय मे रति, हास, शोकादि भावो के उद्बोधक जो सीतादि-रूप कारण है, वे ही काव्य-नाट्य मे निविष्ट होने पर विभाव कहे जाते है, क्योकि इन्ही के द्वारा सहृदय सामाजिको की रत्यादि वासना रस-रूप मे अकुरित होने मे समर्थ बनाई जाती है।

भरत मुनि ने 'विभाव' शब्द को कारण, निमित्त, हेतु आदि का पर्याय बताया है। रस-सिद्धान्त मे 'विभावन' ज्ञापन के अर्थ मे प्रयुक्त होता है। वस्तु-जगत के उन सब विषयो को आचार्यो ने 'विभाव' कहा है जो स्थायी एव व्यभिचारी चित्त-वृत्तियो को जगाते है। यही नही, वासना-रूप मे अति सूक्ष्मता से हृदय मे सुप्त

---

१. 'रत्याद्युद्बोधका लोके विभावा काव्यनाट्ययो'।—हिन्दी साहित्यदर्पण, पृ० १३५।

स्थायीभावो को जगाने के साथ ये उन्हे रस-योग्यता तक भी पहुँचाते है। अत ये रस के आधार-भूत कारण है।

विभाव के सम्बन्ध मे भी एक स्पष्टीकरण अपेक्षित है। विश्वनाथ आदि आचार्यों ने सब लौकिक विषयो को, अर्थात् जिनसे लोक मे रत्यादि भावो का उद्बोध होता है, विभाव बताया है। इस सम्बन्ध मे भी हमारा नम्र निवेदन है कि भावो के सभी लौकिक विषय विभाव नही कहे जा सकते। लोक मे मास-मज्जादि से घृणा उत्पन्न होती है, किन्तु यह लौकिक विभाव बीभत्स रस का विभाव हम नही मान सकते। इसी प्रकार किसी स्वभावत क्रोधी व्यक्ति के क्रोध का लौकिक आलम्बन (कोई निरीह प्राणी) रौद्र रस का विभाव नही बन सकता, क्योकि उस क्रोध से हमारा तादात्म्य नही हो सकता। वस्तुत स्थायी भाव की ही तरह हमे यह मानना होगा कि वे ही विषय काव्यगत 'विभाव' कहे जायेंगे, जो पाठक या दर्शक के मन मे स्थायी भाव जगा सके। अत 'विभाव' स्थायी भाव अथवा उसके आश्रित सचारी भाव के ही होते है, लौकिक भावो के नही। क्योकि हमारे स्थायी भाव उदात्त अनुभूतियाँ है इसलिए उनके विभाव भी उदात्त ही होगे, अर्थात् वे उदात्त अनुभूतियो को जगाने वाले होगे। विभावो का ऐसा स्पृहणीय रूप ही सहृदयो की सामान्य अनुभूति का विषय बन सकेगा। भटनायक-अभिनवगुप्त आदि हमारे कुछ आचार्यों ने भी इसीलिए स्पष्ट शब्दो मे स्वीकार किया है कि काव्य के विभाव अलौकिक होते है—अर्थात् लौकिक व्यवहार मे प्रमदा, उद्यान आदि के द्वारा लोग रति आदि स्थायी भाव के विषयाभ्यास मे निपुण होते है। काव्य और नाटको मे ये प्रमदादि कारण नही कहे जाते है, किन्तु इन प्रमदादि नामो का परित्याग करके वे अलौकिक विभावादि के नाम से पुकारे जाते है। ये विभावादि साधारण कर लिये जाने से, 'ये मेरे ही है,' 'मेरे शत्रु के है', 'उदासीन व्यक्ति के ही है' अथवा 'ये मेरे नही है,' 'मेरे शत्रु के भी नही है,' 'उदासीन व्यक्ति के भी नही है'—इस प्रकार के नाना सम्बन्धो से विशिष्ट नही विदित होते। अत सम्बन्ध-विशेष को छोड साधारण रूप से ज्ञानगोचर होते है।[1] अपने सामान्य गुणो से स्फुरण के कारण ही रसो की निष्पत्ति करते है।[2]

हमारे आचार्यों ने साधारणीकरण-सिद्धान्त के आश्रय विभावो के सामान्य-रूप मे प्रकट होने की बात तो स्पष्ट कही है, पर उनका यह विवेचन विभाव के स्वरूप को अच्छी तरह स्पष्ट नही कर सका। वे यह नही बता सके कि वे विभाव ही काव्यगत रसानुभूति के कारण होते है जो पाठक की उदात्त अनुभूतियो को

---

१. हिन्दीकाव्य प्रकाश, पृ० ५९-६०।

२. 'एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते।' इति।—धनजय' दशरूपक, चतुर्थप्रकाश।

जगाने की क्षमता रखते है । वे स्पष्ट शब्दो मे यह नही कह सके कि उदात्त विभाव ही रस के विभाव होते है । इस कथन से लौकिक-अलौकिक की भ्राति का भी निराकरण हो जाता, और साथ ही काव्य के ऐसे विभावो का प्रवेश मान्य न रहता, जो सहृदय मे उदात्त भावानुभूतियाँ जगाने मे असमर्थ है, जैसे शृगार के अन्तर्गत केवल कामुकता, घृणा के आलम्बन-रूप मे केवल मास-मज्जा-रुधिर आदि । अत यह स्वीकार करने की आवश्यकता है कि स्थायी भाव की तरह, स्थायी भाव के आलम्बन आदि भी उदात्त होते है अर्थात् वे उदात्त भावो को जगाने और उद्दीप्त करने वाले होते है ।

यहाँ फिर डा० राकेश गुप्त की विभाव-सम्बन्धी भ्राति को दूर करना आवश्यक है । उन्होने रस या भावानुभूति का आधार बाह्य वस्तु को न मानकर आश्रय की मन स्थिति को माना है । उनका यह विचार तो ठीक है । पर जब वे इस आधार पर रस-सिद्धान्त के 'विभाव' को अपूर्ण कहने लगते है, तब हमारा उनसे विरोध हो जाता है । वे विभाव से अभिप्राय केवल बाह्य वस्तु लेकर विभावो से भावो की उत्पत्ति को अमान्य ठहराते है ।[1] वे इस सम्बन्ध मे दो व्यक्तियो-द्वारा एक सर्प के देखने का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहते है कि आलम्बन-उद्दीपन समान होते हुए भी दोनो भिन्न-भिन्न अनुभूति पा सकते है । एक डर से भाग सकता है और दूसरा साहस करके उसे मारने को दौडता है । अत उनका कथन है कि विभावो से भावो की उत्पत्ति नही होती बल्कि वैयक्तिक मानसिक प्रवृत्ति ('Subjective disposition of mind') ही भाव जगाती है । इस सम्बन्ध मे भी हमारा निवेदन है कि डा० राकेश गुप्त की भ्राति का मूल कारण यह है कि लौकिक भाव को वह साहित्य के उदात्त भाव से तथा लौकिक वस्तु को काव्य के आलम्बन से एक-रूप मानकर ही गडबड पैदा करते है । 'विभाव' शब्द काव्य-शास्त्र का पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ है कि जिन वस्तुओ—आलम्बनो-उद्दीपनो—से कवि ने जो अनुभूति पाई है, वे उसी अनुभूति को पाठक मे जगाने का कारण होती है । अत हमारे 'विभाव' निरपेक्ष बाह्य वस्तु या परिस्थितियाँ नही है । वे उदात्त होते है, आस्वाद्य होते है । किसी विभाव के प्रति कवि का दृष्टिकोण तो रहेगा ही, और कवि के अनुसार ही पाठक भी अपनी मानसिक प्रवृत्ति ('Subjective disposition of mind') बनायेगा । वस्तु अपने-आप कोई भाव उत्पन्न नही करती, यह कौन नही जानता ? पर हमारे 'विभाव' निरपेक्ष वस्तु है ही नही । कोई सुन्दर स्त्री शृगार रस का आलम्बन तभी कहलायगी, जब कवि उसे उस रूप मे दिखाना चाहेगा । यदि सर्प का भयकर दिखाना कवि को अभिप्रेत है तो वह सर्प प्रत्येक सहृदय के भय का आलम्बन बनेगा, यदि उसके आलम्बनत्व से कवि वीरता या साहस की भावना जगाना चाहता है तो

1. *Psychological Studies In Rasa*, p 150.

प्रत्येक पाठक साहस या वीरता का अनुभव करेगा। यदि सब की अलग-अलग वैयक्तिक मानसिक स्थिति या प्रवृत्ति हो, तो साहित्यिक रचनाओ मे रसास्वादन और साधारणीकरण की बात सब झूठी हो जाय।

अत हमारे आचार्यो-द्वारा प्रतिपादित 'विभाव' मे मन स्थिति या मन प्रवृत्ति स्वत सम्मिलित है। जब डा० राकेश गुप्त कहते है कि—"A 'Vibhava' by itself Cannot Suggest a definite emotion," अर्थात् 'विभाव' स्वय किसी भाव को नही जगा सकता, तो वह यह क्यो भूल जाते है कि उन्होने यह शब्द ('विभाव') साहित्याचार्यो से लिया है, मनोविज्ञानिको से नही, और कि 'विभाव' से अभिप्राय कवि के विभाव से—अर्थात् कवि-द्वारा अनुभूत और चित्रित 'विभाव' या वस्तु से है, थोथे-कोरे वस्तु-पक्ष से नही है।

उद्दीपन —आचार्यो ने विभाव के दो भेद किये है—(१) आलम्बन, (२) उद्दीपन। आलम्बन और उद्दीपन वस्तुत परस्पर सम्बद्ध है। स्थायी भाव को अकुरित करने वाले साधन आलम्बन कहे जाते है और आलम्बन से सम्बन्धित वह सब वातावरण, परिस्थितियाँ—चाहे बाह्य हो अथवा आन्तरिक—जो भाव को उत्तेजित या उद्दीप्त करती है, उद्दीपन कहलाती है। रस एक अविभाज्य अखण्ड अभिव्यक्ति या असलक्ष्य-क्रम-व्यग्य ध्वनि है। उसका यह खण्डश विभाजन केवल अध्ययन के लिए है, रसानुभूति की अवस्था मे आलम्बन, उद्दीपन, अनुभावादि खण्डश अनुभव मे नही आते। ये आलम्बन-उद्दीपन, अनुभावादि परस्पर इतने सम्बद्ध है कि कई बार इनका अलग-अलग विश्लेषण करना भी कठिन होता है। शृगार रस मे सुन्दर युवक-युवती को आलम्बन और एकात रम्य वातावरण को उद्दीपन बताया जाता है। जैसे, रति स्थायी भाव शकुन्तला और दुष्यन्त के प्रथम मिलन-प्रसग मे जाग्रत होता है। दुष्यन्त के लिए शकुन्तला और शकुन्तला के लिए दुष्यन्त आलम्बन है। पाठको के स्थायी भाव के ये दोनो ही आलम्बन है। अब प्रश्न यह है कि रति स्थायी भाव का उद्दीपन केवल शकुन्तला आलम्बन से माना जा सकता है या नही ? क्या कण्व ऋषि का आश्रम, उसका एकात रम्य वातावरण रति के उद्बोध मे कारण नही है ? इसका स्पष्ट उत्तर यही है कि निश्चय ही वातावरण भी कारण बना हुआ है। अत इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि उस वातावरण से सज्जित शकुन्तला ही आलम्बन है। इसी प्रकार अपने शारीरिक सौन्दर्य और दृढ विशाल वक्ष वाले, राजसी ऐश्वर्ययुक्त, स्वस्थ राजा दुष्यन्त ही, जब उस रम्य वातावरण मे अकस्मात् शकुन्तला की नजर पडते है, तो उसके रति भाव के आलम्बन बनते है। हो सकता है कि गली-बाजार मे बहुत-सी नारियो के बीच नजर आने वाली शकुन्तला आलम्बन न बनती और इसी प्रकार अन्य साधारण वेश मे फटे-हाल दुष्यन्त शकुन्तला के लिए आलम्बन न बनता। निश्चय ही कवि ने शकुन्तला और दुष्यन्त को उनकी परिस्थितियो और वातावरण-विशेष के साथ आलम्बन बनाया है। अत स्पष्ट है कि

आलम्बन की अवतारणा मे कवि के लिए यह आवश्यक है कि वह साथ ही उसका उद्दीपनकारी पक्ष प्रस्तुत करे, अर्थात् आलम्बन को पुष्ट, सर्वग्राह्य और योग्य बनाये। निश्चय ही आलम्बनत्व की प्रतिष्ठा मे केवल शकुन्तला और दुष्यन्त पर्याप्त नही है, दोनो की परिस्थितियाँ, प्रवृत्तियाँ, गुण, वेशभूषा, वातावरण आदि सब अपेक्षित है और सब मिलकर उसको योग्य और पुष्ट आलम्बन बनाते है। अत आलम्बन के साथ उद्दीपन भी लगा ही रहता है। फिर भी रस-प्रक्रिया को समझने के लिए हम उनकी पृथक्-पृथक् गणना करते है।

ऊपर हमने कहा है कि पाठक के रति स्थायी भाव के दुष्यन्त-शकुन्तला दोनो आलम्बन है। इसका कारण शृगार रस का उभय-पक्षीय होना है, अर्थात् दुष्यन्त और शकुन्तला दोनो परस्पर आश्रय है और दोनो आलम्बन, इसी से दोनो हमारे भी आलम्बन है। कुछ विद्वान् काव्य-आश्रय को भी आलम्बन मानते है। डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित ने भी कुछ प्राचीन आचार्यो (साहित्य कौमुदीकार, के आधार पर अपने थीसिस मे कहा है—"आलम्बन-विभाव के दो भेद होते है—१ विषय तथा २ आश्रय। रत्यादि भावो के जाग्रत होने मे कारण-स्वरूप विभाव ही विषय अथवा आलम्बन-विभाव कहलाते है, क्योकि उन्हे ही आलम्बन करके स्थायी भाव जाग्रत होता है। जिस व्यक्ति मे ये स्थायी भाव जाग्रत होते है, वह उनका आश्रय-भूत होने से आश्रय कहलाता है। अभिप्राय यह कि आश्रय, विषय तथा उद्दीपक सामग्री तीनो ही विभाव के अन्तर्गत परिगणित होते है, तथापि इनमे से अन्तिम दो ही कारण-स्वरूप होते है और पहला उनके द्वारा उद्दीपित भावो का आधार होता है।"[1]

इस सम्बन्ध मे हमारा मत है कि रस का आश्रय पाठक या सहृदय अथवा कवि ही होता है, काव्यगत व्यक्ति को रस या स्थायीभाव का आश्रय मानना भ्रातिपूर्ण ही है। वास्तव मे काव्यगत आश्रय को सब अवस्थाओ मे रसानुभूति या स्थायी भाव-अनुभूति नही होती। माता शैव्या को जिस शोक की अनुभूति होती है वह स्थायी भाव-अनुभूति या रसानुभूति नही कही जा सकती। वह लौकिक भावानुभूति है। स्थायी भाव अनुभूति काव्यगत आश्रय को तभी होगी, जबकि वह व्यक्तिगत स्वार्थ-सम्बन्धो से ऊपर उठकर भावो का अनुभव करेगा, जैसे उत्साह का आश्रय स्थायी भाव (साहसपूर्ण उत्साह) का अनुभव करता है। दया वीर, कर्म वीर, युद्ध वीर आदि सब वीर रसानुभूति के आश्रय होते है। रस के अनिवार्य आश्रय तो कवि और पाठक या दर्शक ही है। काव्यगत आश्रय और नाटक मे नट आदि—ये तो वैकल्पिक आश्रय ही होते हैं।

अब इस बात पर विचार करते है कि क्या आश्रय को आलम्बन माना जा

---

१ डा० आनन्द प्रकाश दीक्षितः रस-सिद्धात—स्वरूप-विश्लेषण, पृ० १८-१९।

सकता है। रस-अनुभूति का विश्लेषण सहृदय की दृष्टि से ही होना चाहिए। हम देखते है कि जहाँ हमारा रस-सिद्धान्त (रस-निरूपण) सहृदयानुभूति पर आधारित है, वहाँ हमारे परवर्ती आचार्यों ने सहृदय सामाजिक को आश्रय मानकर बहुत कम विवेचन किया है। डॉ० दीक्षित भी पता नही, सहृदय का ध्यान छोडकर, काव्यगत आश्रय को आलम्बन-पक्ष मे कैसे घसीट लाए ? रस-प्रक्रिया मे हम (पाठक या दर्शक) काव्यगत आलम्बन को देखकर या पढकर ही अपने हृदय मे भाव को उदित पाते है, काव्यगत आश्रय का आधार भी आलम्बन ही होता है। अत जब आश्रय से पूर्व ही भाव जाग्रत हो गया, तो फिर आश्रय भावोद्बोध का कारण कैसे हो सकता है ?

पुत्र-शोक मे रोती हुई शैव्या, प्रणय-याचना करने वाला दुष्यन्त, दुराचार या दुराचारी की भर्त्सना करने वाला व्यक्ति सब हमारे मन मे क्रमश शोक, रति और घृणा स्थायी भाव को उद्दीप्त ही करेगे। अत इस दृष्टि से काव्यगत आश्रय आलम्बन नही, उद्दीपन ही ठहरता है। आलम्बन का अर्थ कारण, आधार, निमित्त या पात्र है, अर्थात् जैसे, घृणा का आलम्बन हमारी घृणा का पात्र बनता है, वैसे घृणा का आश्रय हमारी घृणा का पात्र नही बन सकता, वह अपनी घृणा की व्यजना से हमारी पूर्व-जागृत घृणा को ही तीव्र करेगा। अत काव्यगत आश्रय को भावोद्बोध का कारण मानना उचित नही है। आश्रय से पूर्व आलम्बन ही हमारी अनुभूति को जगा देता है।

आश्चर्य की बात है कि आश्रय को तो इन आचार्यो ने विभावपक्ष मे ले लिया, पर आश्रय की चेष्टाओ, अर्थात् अनुभावो को विभाव-पक्ष से अलग अनुभाव मे ही लिया ! सहृदय की दृष्टि से विचारने पर हमे अनुभाव को भी उद्दीपन के अन्तर्गत स्वीकार करना चाहिए, क्योकि काव्यगत आश्रय की चेष्टाएँ (अनुभाव) हमारे स्थायी भाव को रस-रूप मे उद्दीप्त करने मे ही सहायक होती है। इसी प्रकार सचारी भाव भी रस को पुष्ट करने के कारण 'उद्दीपन' ही है। अत रस-सामग्री के दो ही भेद हो सकते है—आलम्बन और उद्दीपन। आलम्बन मे केवल कारण और पात्रता की बात रहेगी, रस की अन्य सब सामग्री—आलम्बनगत बाह्य एव आन्तरिक परिस्थितियाँ तथा वातावरण, आश्रय और उसके अनुभाव और सचारी भाव आदि सब—उद्दीपन-अन्तर्गत रखी जानी चाहिए। वास्तव मे सारी रस-सामग्री आलम्बन और आश्रय से ही सम्बन्ध रखती है। विभाव-पक्ष आलम्बनपक्ष होता है और अनुभाव तथा सचारी भाव आश्रयपक्ष। अनुभाव की तरह, सचारी भाव भी आश्रय के ही भाव होते है। अनुभाव आश्रय की चेष्टाएँ होती है और सचारी भाव आश्रय के भाव होते है।

काव्य मे जहाँ काव्यगत आश्रय नही होता या आश्रय से हमारा तादात्म्य नही होता, वहाँ काव्यगत या काव्य-आश्रयगत अनुभाव भी नही होगे। ऐसे स्थलो पर या जहाँ-कही कवि अपनी प्रतिक्रिया प्रकट करता है (जैसे, अपने उपन्यासो मे

कही-कही प्रेमचन्द अपनी टिप्पणियाँ बीच-बीच मे देते जाते है), वहाँ कवि के उद्गार ही अनुभाव होगे, क्योकि कवि की वे प्रतिक्रियात्मक टिप्पणियाँ आश्रय के ही प्रतिक्रियात्मक अनुभाव है। काव्य मे जहाँ कवि की टिप्पणियाँ या कवि-आश्रय के भी अनुभाव नही होते, वहाँ काव्यगत अनुभावो का तो अभाव ही होगा, हाँ, सहृदय के अनुभावो की कल्पना हो सकती है। रसानुभूति की दशा मे सहृदय की जो चेष्टाएँ या प्रतिक्रियात्मक शारीरिक उपलक्षण होगे, जैसे करुण दृश्य को देखकर या पढकर आँसू निकलना, हर्ष मे तालियाँ बजाना, घृणा मे 'शी शी,' 'थू-थू' करना आदि, तो वे भी अनुभाव ही होगे, पर इन अनुभावो के उद्दीपन होने का प्रश्न ही नही उठता। ये सहृदय की रसानुभूति के ही प्रतीक है, रस-चर्वण की ही दशा के सूचक है। इस सम्पूर्ण रस-प्रक्रिया और रस के उपर्युक्त अवयवो के सम्बन्ध मे अपनी धारणा हम एक उदाहरण से स्पष्ट करते है। सुदर्शन जी की 'अठन्नी का चोर' कहानी मे निर्दयी तथा रिश्वतखोर इजिनियर साहब, सजा देने वाले रिश्वतखोर जज साहिब और सिपाही आदि हमारी घृणा के पात्र बनते है। गरीब रसीला इजि-नियर साहब का नौकर है, जो उनके भरे-घर मे पूरी ईमानदारी से काम करता है। एक दिन विवशतावश वह एक अठन्नी उठा लेता है। पता लगने पर इजिनियर साहब उसे बुरा-भला ही नही कहते, उसे बडी बुरी तरह निर्दयतापूर्वक मारते हैं। यही नहीं, वे उसे पुलिस के हवाले करते है। रसीला को बे-पूछ छ महीने की सजा रिश्वतखोर शेख साहब देते है—अपने न्याय के नाम पर। तब लेखक की उक्ति देखिए, "यह दुनिया न्यायपुरी नही, अँधेर नगरी है। यहाँ चोर मालिक गिरफ्तार कराता है, चोर सिपाही गिरफ्तार करता है, चोर हाकिम सजा देता है। गरीब चोर इसलिए है कि उसका अपराध (?) प्रकट हो गया, परन्तु उन सभ्य चोरो को, उन असली डाकुओ को, जो अपने-अपने घरो मे बैठकर आराम से दूसरो का धन हथियाते है, कोई नही पूछता।"

रसीला का मित्र रमजान, जो शेख (जज) साहब का नौकर है, रसीला की सजा सुनकर घर पहुँचा। इस समय उसका चेहरा निराशा की सजीव मूर्ति था। एक दासी ने पूछा—'क्यो रमजान, रसीला को क्या हुआ ?'

"छ महीने की कैद का हुक्म हुआ।"

दासी ने घृणा से कहा—"बहुत अच्छा हुआ। कम्बख्त इसी लायक था। यह इन्साफ है।"

"नही, तुम गलती पर हो। यह इन्साफ नही, अँधेर है।"

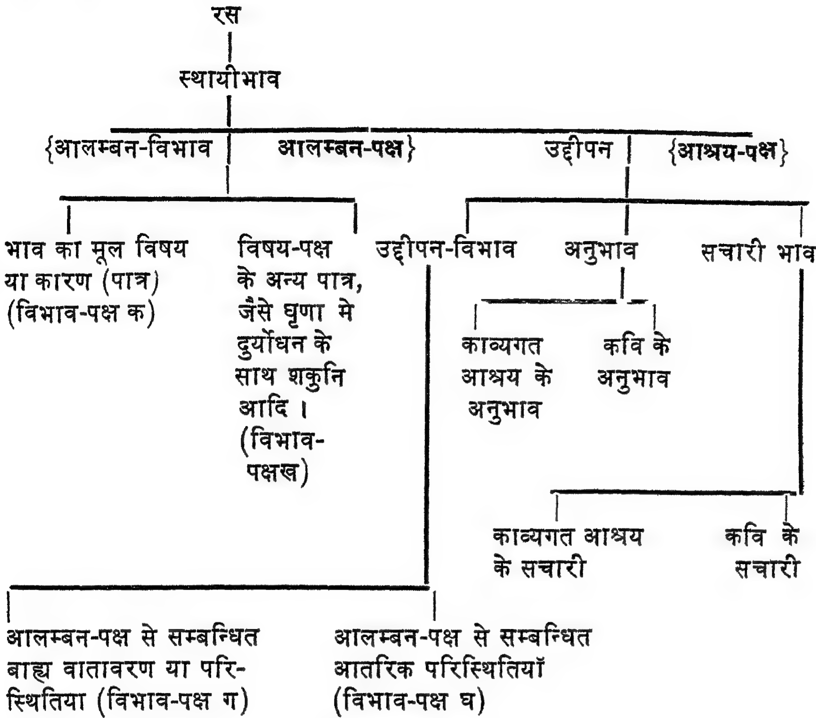
दासी ने समझने का यत्न किया, पर समझ न सकी कि रमजान का क्या मतलब है। लेखक की अन्तिम पक्तियाँ देखिए—"रात के समय, जब एक हजार, पाँच सौ और पाँच रुपए के चोर (जज शेख साहब, इजिनियर और क्लर्क-सिपाही आदि) अपने मकानो मे गुदगुदे बिस्तरो पर शाति की नीद सो रहे थे, अठन्नी का

चोर जेल की तग और अँधेरी कोठरी मे बन्द था और अपने आप को दूसरे दिन की यातनाओ के लिए तैयार कर रहा था।"

उपर्युक्त प्रसग से स्पष्ट है कि इसमे घृणा या जुगुप्सा स्थायी भाव है। इ जिनियर साहब प्रमुख-रूप से तथा जज साहब, पुलिस-कर्मचारी आदि गौण-रूप से घृणा के पात्र है। ये ही घृणा के विषय अर्थात् घृणा-पात्र-रूप मे आलम्बन है। रमजान काव्यगत आश्रय है। कवि-आश्रय भी स्पष्ट है। बेचारे रसीला को बुरा-भला कहने वाले इ जिनियर साहब घृणा-पत्र (आलम्बन) है। जब वे बुरी तरह मारते है, तो हमारी घृणा को तीव्रता से जगाते है, उसे पुलिस से पकडवा कर सजा दिलवाते है, तो हमारी घृणा को और भी उद्दीप्त करते है। अत आलम्बन (पात्र) के ये कृत्य उद्दीपन-विभाव है। यह घृणा का विषयगत विभाव-पक्ष हुआ। काव्यगत आश्रय रमजान को जब हम मु ह लटकाये हुए, निराशा से भरा देखते है, और घृणा-पूर्वक दासी से कहते सुनते है कि 'नही, यह इन्साफ नही, अँधेर है,' तो हमारी घृणा को इससे तुष्टि तथा पुष्टि ही मिलती है। अत यह उद्दीपन-सामग्री ही है। आश्रय और उसकी चेष्टाएँ उद्दीपन ही बनती है। यहाँ रमजान का वाचिक अनुभाव तथा शोकपूर्ण मुद्रा ही उद्दीपन-अनुभाव हे। कवि-आश्रय के अनुभाव भी उसकी उक्तियो मे व्यक्त फटकार से स्पष्ट है। ये उद्गार भी भावोद्दीप्ति के ही कारण बनते है। अत उद्दीपन-अन्तर्गत ही आयेगे। इस उद्धरण मे निराशा, शोक, क्षोभ, आदि काव्यगत आश्रय तथा कवि दोनो के सचारी भाव भी स्पष्ट है, और वे घृणा को ही पुष्ट या उद्दीप्त करते है। दासी ने जो रसीला के प्रति घृणा प्रकट की है, उस घृणा से हमारा तादात्म्य नही होता, उलटा उसका कथन हमारी अरुचि का विषय बनता है। हमारा मन भी रमजान की तरह उसका विरोध करना चाहता है। वह आलम्बन पक्ष की है। अत काव्य मे आलम्बन-पक्ष का पात्र भी आलम्बन ही बन जाता है, और उसके गुण या चेष्टाए अथवा अन्तर-बाह्य परिस्थितियाँ भी आलम्बन की परिस्थितियो की तरह उद्दीपन मानी जानी चाहिए। यहाँ दासी ने हल्का-सा आलम्बन-पक्ष लिया है, अत उसके प्रति हमारी हल्की-सी घृणा ही जगती है, जो आलम्बन के प्रति जाग्रत और उद्दीप्त घृणा मे सम्मिलित होकर घृणा-भाव को और तीव्र करती है।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हुआ कि स्थायी भाव को रस-रूप देने वाली सामग्री मे आलम्बन-पक्ष और आश्रय-पक्ष—केवल ये दो ही पक्ष होते है और काव्यानुभूति मे आलम्बन-पक्ष के अतिरिक्त सब रस-सामग्री उद्दीपन ही होती है। हाँ, इस उद्दीपन के कई रूप होगे—(१)उद्दीपन-विभावपक्ष, (२) उद्दीपन-अनुभावपक्ष और (३) उद्दीपन सचारी भाव। इनके फिर और भेदोपभेद हो सकते है। उद्दीपन-विभाव बाह्य वातावरण और आन्तरिक गुण-अवगुण आदि दो भागो मे बाँटा जा सकता है। उद्दीपन-अनुभाव भी दो रूपो मे प्रकट होता है, एक काव्यगत आश्रय

के अनुभाव। दूसरे, कवि के अनुभाव। इस प्रकार रस के अवयवो की तालिका इस प्रकार होगी—



अनुभाव-उद्दीपन

भरतमुनि ने अनुभाव की व्याख्या करते हुए कहा है कि अनुभाव अभिनयगत ऐसी आगिक, वाचिक, सात्त्विक चेष्टाओ को कहते है, जो आश्रय के उद्‌बुध भाव को बाह्य-रूप से प्रकाशित करती है, और सहृदय को स्थायी भाव का भावन कराती है।[1] साहित्यदर्पणकार ने अनुभाव का स्वरूप इस प्रकार प्रकट किया है—"उन उन कारणो से हृदय मे उद्‌बुध रत्यादि भावो को बाहर प्रकाशित करने वाले अगादि व्यापारो का नाम अनुभाव है। लोक-जीवन मे तो ये अगादि-व्यापार (रत्यादि भावो के) 'कार्य' समझे जाते है, किन्तु काव्य-नाट्य के क्षेत्र मे इन्हे 'अनुभाव' कहा जाता है"।[2]

---

१. 'अनुभाव्यतेऽनेन वागगसत्त्वकृतोऽभिनय' इति अनुभाव.।'—नाट्यशास्त्र (चौख०), ७।५।

२. हिन्दी साहित्यदर्पण, पृ० २००।

व्युत्पत्त्यर्थ की दृष्टि से 'अनु पश्चात् भाव उत्पत्ति येषाम्,' अथवा 'अनु पश्चात् भावो यस्य सोऽनुभाव'। स्थायी भाव के जाग्रत होने के पश्चात् उत्पन्न होने के कारण इन्हे कार्य-रूप या परिणाम-रूप माना जाता है। किन्तु सहृदय मे भाव का साक्षात्कार कराने की दृष्टि से ये कारण-रूप माने जाते है।

अनुभाव के सम्बन्ध मे भी दो बाते स्पष्ट करना जरूरी हे। एक तो यह कि अनुभाव आश्रय के ही होते है, और उसी काव्यगत आश्रय के होते है, जिससे हमारा तादात्म्य होता है। अत साधारणीकरण के कारण, ये अलौकिक या उदात्त रूप मे ही अनुभूति का विषय बनते है। साहित्यदर्पणकार के उपर्युक्त लक्षण से यह तथ्य स्पष्ट नही होता। क्रोध भाव का बाह्य प्रकाशन तो रावण का अभिनय या उसकी चेष्टाएँ भी करती है, पर वे अनुभाव नही मानी जा सकती।

दूसरी बात यह कि काव्यगत अनुभाव कार्य या परिणाम नही माने जा सकते। रस या स्थायीभाव के कार्य या परिणाम तो केवल सहृदय पाठक या दर्शक की पढते हुए या देखते हुए प्रतिक्रिया-रूप मे प्रकट होने वाली चेष्टाएँ, जैसे आँसू निकल आना, हँसना, तालियाँ बजाना आदि ही परिणाम या कार्य मानी जा सकती है। पर इनकी काव्यगत सत्ता होती ही नही। हमने कवि-आश्रय के अनुभावो का भी ऊपर उल्लेख किया है। कवि के व्यक्त अनुभाव अवश्य कवि की रसानुभूति का परिणाम या कार्य है, पर वे सहृदय पाठक के लिए कार्य नही है, उद्दीपन-रूप कारण ही है। उनसे भी सहृदय की भावानुभूति तीव्र होती है। अत वास्तव मे काव्यगत अनुभाव उद्दीपन-रूप कारण ही है, कार्य नही। काव्यगत आश्रय के लिए ये लौकिक होने से भाव के कार्य ही है, स्थायी भाव के अनुभाव नही।

भरत मुनि ने 'वागगसत्त्व' अर्थात् वाचिक, आगिक तथा सात्त्विक अनुभाव—ये तीन भेद अनुभाव के बताये थे। भानुदत्त आदि परवर्ती आचार्यों ने पृथक् नाम देते हुये ये चार भेद बताये—कायिक, मानसिक, आहार्य तथा सात्त्विक। शारदातनय ने अपने चार भेदो का नामकरण यह किया—(१) चित्तारभक, (२) गात्रारभक, (३) वागारभक तथा (४) बुद्ध्यारभक अनुभाव। आचार्यों ने केवल शृगार के आधार पर ही इनकी विस्तृत विवेचना की है।

आश्रय की वाणी से जो-कुछ व्यक्त होता है, वह वाचिक अनुभाव कहलाता है। यद्यपि वाणी भी शरीर का अग है और इस दृष्टि से वाचिक अनुभाव भी आगिक ही है, पर वाणी के रूप मे प्रकट हुए अनुभाव, सात्त्विक अनुभावो की तरह, शरीर की स्थूल चेष्टाओ की अपेक्षा सूक्ष्म और अधिक व्यापक अनुभाव होते है। अत उन्हे इसी से पृथक् गिनना ही उचित है।

सात्त्विक अनुभावो को मानसिक अनुभाव कहना ही हम उचित समझते है। इनकी शारीरिक प्रतिक्रिया अत्यन्त सूक्ष्म होती है, इसीसे शारीरिक या आगिक स्थूल अनुभावो से इन्हे पृथक् गिना जाता है। इनके प्रकट होने मे मन का अधिक प्रभाव

रहता है। ये सात्त्विक अनुभाव आठ बताये गये है—(१) स्तभ, (२) स्वेद, (३) रोमाच, (४) स्वर-भग, (५) वेपथु, (६) वैवर्ण्य, (७) अश्रु और (८) प्रलय। आचार्यो ने इन्हे 'सात्त्विक भाव' की सज्ञा दी है। प्रश्न उठता है कि इन्हे अनुभाव के स्थान पर 'भाव' क्यो कहा गया है ? क्या ये भाव है ? 'नाट्यशास्त्र' मे ४९ भावो की गणना मे इन्हे भी भाव ही माना गया है। भरतमुनि का मत है कि मन की समाहित अवस्था मे ही ये प्रकट होते है। इसलिए मानसिक सत्त्वोद्रेक के कारण इन्हे सात्त्विक भाव कहा गया है। परन्तु हम समझते है कि बिना मानसिक प्रतिक्रिया के, बिना सत्त्वोद्रेक के तो कोई अनुभाव अनुभाव्य होता ही नही। मन की सात्त्विक प्रतिक्रिया से ही सब अनुभाव प्रकट होते है। इसीलिए तो सब उदात्त होते है। फिर इन सात्त्विको को ही भाव की सज्ञा क्यो दी जाय ? भाव मन की प्रवृत्त्यात्मक दशा को कहते है, पर ये स्तभादि मन की दशा नही, उसके उपलक्षण-मात्र है। अत इन्हे भाव नही माना जा सकता।

यदि सात्त्विक शब्द की दृष्टि से देखे और भाव-अनुभाव के सात्त्विक विश्लेषण पर विचार करे, तो भी यही कहना पडता है कि सभी भाव और अनुभाव सहृदय को सत्त्वोद्रेक की दशा मे—अलौकिक रूप मे ही अनुभाव्य होते है। अत इन्हे सात्त्विक अनुभाव कहना भी भ्रातिपूर्ण है। वास्तव मे इन्हे आश्रय की स्थूल चेष्टाओ से पृथक् रखने के लिए ही सात्त्विक नाम दिया गया है। ये शरीर-धर्म अत्यन्त सूक्ष्म ह ते हैं और इनका अभिनय श्रमसाध्य है तथा ये आश्रय की घनीभूत मानसिक दशा का परिणाम होते है, इसी से इन्हे सात्त्विक कहा गया है। भानुदत्त ने अन्य शारीरिक चेष्टाओ को 'चेष्टा' तथा इन 'सात्त्विको' को 'विकार' सज्ञा देना उचित माना है। ये स्तभ, अश्रु आदि प्रयत्नपूर्वक प्रकट नही हो सकते। ये है अनुभाव ही। अत इन्हें मानसिक या सूक्ष्म अनुभाव कहना अधिक सगत है। भानुदत्त ने सत्त्व से अभिप्राय शरीरधर्म लिया है और इन सात्त्विको को शरीर-धर्म ही माना है।

साहित्यदर्पणकार ने भी इन सात्त्विको को अनुभाव माना है, पर साथ ही 'मनोविकार' कहा है, और अनुभाव से भिन्नता का कारण यही बताया है कि ये सत्त्वोद्रेक से उत्पन्न होते है। सत्त्व से उनका अभिप्राय "अन्त करण का वह धर्मविशेष है जिसके कारण सामाजिक के हृदय मे वासना-रूप से विराजमान रत्यादि भावो का उद्बोधन हुआ करता है।[1] जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, ये मन के विकार नही है, विकारो के उपलक्षण या सूचक शारीरिक विकार ही है। दूसरे,

---

१ तत्र सात्त्विका
विकारा सत्त्वसभूता सात्त्विका. परिकीर्तिता ॥१३४॥
सत्त्व नाम स्वात्मविश्रामप्रकाशकारी कश्चनान्तरो धर्म ।
सत्त्वमात्रोद्भवत्वात्ते भिन्ना अप्यनुभावतः।—साहित्यदर्पण हि०चौ०, पृ० २०१।

केवल इन्हे ही सत्त्वोद्रेक से उत्पन्न नही माना जा सकता, सम्पूर्ण रस-प्रक्रिया ही सत्त्वोद्रेक से सम्बन्ध रखती है। अत इस दृष्टि से इन्हे सात्त्विक भाव कहना हमे मान्य नही।

परम्परागत आठ सात्त्विको के अतिरिक्त 'जृ भा' (जभाई), 'मुख का आरक्त होना,' आँखे लाल होना आदि कुछ और सूक्ष्म शारीरिक विकार भी मानसिक अनुभावो (सात्त्विको) मे गिने जा सकते है। 'जृ भा' के सम्बन्ध मे डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित का मत है कि 'जृ भा' को सात्त्विको मे नही माना जा सकता। सात्त्विको की विशेषता है कि विभाव के देखते ही ये आप-से-आप उमड पडते है। सिंह को देखते ही स्तभ, स्वेद, वेपथु मे से कोई भी एकदम प्रकट हो सकता है। 'जृ भा' के सम्बन्ध मे यह नियम स्वीकार्य नही है। यदि इसे सात्त्विक माना जाय, तो इससे पहले नि श्वास, उच्छ्वास, अगसकोच तथा उबकाई को भी सात्त्विक भाव मानने मे आपत्ति नही होनी चाहिए, क्योकि किसी दुखात्मक सूचना के पाते ही अथवा स्मरण करते ही नि श्वास तथा उच्छ्वास प्रकट हो जाते है और इनका प्रदर्शन भी किया जा सकता है। इसी प्रकार अगसकोच किसी भयप्रद विभाव को देखते ही उत्पन्न होता है और उबकाई बीभत्स दृश्य को देखते ही आती है। यदि नि श्वास तथा उच्छ्वास को वायु-परिपोष-रूप जृ भा के ही अन्तर्गत मान ले अर्थात् यह कहे कि जृ भा के स्थान पर वायु-परिपोष ही सात्त्विक है और उसके ये तीन भेद है, तो फिर स्वेद तथा अश्रु को भी सलिलोद्‌गम शब्द से ही क्यो न प्रकट कर दिया जाय? वस्तुत आलस्य का द्योतक अनुभाव जृ भा है। उसे सात्त्विक नही मानना चाहिए।[1]

इस सम्बन्ध मे हमारा निवेदन है कि यदि जृ भा आलस्य का द्योतक अनुभाव है, तो क्या अश्रु शोक या हर्ष का द्योतक अनुभाव नही है? साथ ही यह भी अनिवार्य नही कि अश्रु सात्त्विक अनुभाव विभाव के दृष्टि पडने पर एकदम प्रकट हो जाता हो। शनै शनै पीडा घनीभूत होने पर, पहले उच्छ्वास आदि प्रकट होने के बाद भी अश्रु आ सकते है। अत यदि 'अश्रु' सात्त्विक है तो जृ भा को सात्त्विक मानने मे कोई आपत्ति नही होनी चाहिये। वास्तव मे ये सब अनुभाव भावो के शारीरिक उपलक्षण-मात्र है। स्थूल शारीरिक चेष्टाओ से इनकी भिन्नता का कारण इनकी सूक्ष्म उत्पत्ति ही है। अत वे सब सूक्ष्म शारीरिक विकार मानसिक अनुभाव माने जा सकते है, जो सूक्ष्मता से प्रकट होते है, और जिनका अभिनय विशेष कुशलता की अपेक्षा रखता है। वैसे तो सभी अनुभाव मानसिक भावो की प्रतिक्रिया-स्वरूप ही प्रकट होते है, पर इनमे वह मानसिक आधार अधिक सूक्ष्म होता है। इसीलिए हमने इन्हे मानसिक अनुभाव कहना अधिक उचित माना है। यदि 'सात्त्विक' से सत्त्वोद्रेक का भ्रम न हो और भानुदत्त की तरह 'सूक्ष्म शरीर-धर्म' ही सत्त्व का

---

१ डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित रस सिद्धान्त—स्वरूप-विश्लेषण, पृ० ३४।

अर्थ लिया जाय, तो इन्हे सात्त्विक अनुभाव भी कहा जा सकता है, पर सात्त्विक भाव कहना सर्वथा अनुपयुक्त है ।

सचारी-भाव-उद्दीपन

मानव की प्रत्येक भाव-वृत्ति जब किसी स्थायी भाव को पुष्ट करने के हेतु काव्य-रचना मे प्रकट होती है, तो साहित्य-शास्त्र के पारिभाषिक शब्द 'सचारी या व्यभिचारी भाव' की सज्ञा पाती है। साहित्यदर्पणकार के अनुसार, वे भाव व्यभिचारी भाव कहे जाते है, जो विशेष उत्कटता किंवा अनुकूलता से रत्यदि स्थायी भावो को रसास्वाद मे परिणत किया करते है तथा जिन्हे स्थायी भावो के समुद्र मे बुद्बुद् की भाँति उन्मज्जित (उतराते) किंवा निमज्जित (डूबते) होते हुए देखा जाता है। ये रत्यादि स्थायी भावो से ही उद्भूत होते और उन्ही मे तिरोहित होते, उनकी रस-रूप मे अभिव्यक्ति मे विशेषतया सहायक हुआ करते है ।[1]

भिन्न-भिन्न रसो मे इनका अनुकूल सचरण होता है, इसी से इन्हे व्यभिचारी कहा जाता है। सामाजिक के अनुभूति-काल मे स्थायी भाव उसकी स्थिर वृत्ति रहती है, और व्यभिचारी भाव अस्थिर होती है। यह स्थिरता-अस्थिरता का दृष्टिकोण और विभाजन सामान्य भावो का सामान्य मनोवैज्ञानिक विभाजन नही है, अपितु केवल रसास्वादन या काव्यानुभूति के क्षेत्र का मनोवैज्ञानिक विभाजन है, इस तथ्य को सदा ध्यान मे रखना चाहिए। इन विविध सचारियो के सचरण से ही स्थायी भाव चित्र-विचित्र प्रतीत होते है ।

भावो के स्थायित्व या स्थिर रूप और अस्थायी या अस्थिर रूप की पहचान पर विचार करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते है,"—कोई भाव अपनी भावदशा मे ही है या स्थायी दशा को प्राप्त हुआ है, इसकी पहचान सचारियो से हो सकती है। कोई भाव या वेगयुक्त चित्त-विकार या तो सुखात्मक होगा या दुखात्मक । भावदशा मे सुखात्मक भाव का सचारी सुखात्मक भाव या चित्त-विकार ही होगा और दुखात्मक का दुखात्मक । बात यह है कि सुखात्मक भाव के अनुभवकाल मे दुखात्मक चित्तविकार के आ जाने से और दुखात्मक के अनुभवकाल मे सुखात्मक चित्त-विकार के आ जाने से भाव बाधित हो कर तिरोहित हो जायगा। पर स्थायी दशा प्राप्त होने पर यह बात नही रहती। स्थायी दशा को विरुद्ध या अविरुद्ध कोई भाव सचारी-रूप मे आकर तिरोहित नही कर सकता। स्थायी का यह लक्षण लक्षण-ग्रन्थो मे स्वीकार किया गया है, पर 'रति' को छोड (जो 'राग' की स्थायी दशा है), क्रोध आदि भावो मे यह लक्षण नही घटता। सुखात्मक भावो से निष्पन्न हास्य, वीर और अद्भुत रसो के सचारियो मे कोई दुखात्मक भाव या चित्त-विकार न

---

१ हिन्दी साहित्यदर्पण, पृ० १०३ ।

मिलेगा, इसी प्रकार दु खात्मक भावो से निष्पन्न करुण, रौद्र, भयानक और बीभत्स रसो के सचारियो मे हर्ष आदि दुखात्मक भाव या चित्त-विकार न मिलेंगे।[1]

आश्चर्य है कि रसो के इतने बडे भावक आचार्य शुक्ल ऐसी भ्रातिपूर्ण बात कैसे कह गए! आरम्भ मे आचार्यो की 'अविरुद्धा विरुद्धा' वाली धारणा को मानते-मानते और उसे ही सचारी-स्थायी या भाव और स्थायी की कसौटी ठहराते-ठहराते आचार्य शुक्ल अन्त मे कैसे आचार्यो की बात का खण्डन कर गए? हम देखते है कि वीर मे क्रोध, क्षोभ, चिन्ता, ग्लानि, घृणा आदि दुखात्मक भाव सचारी-रूप मे सब की अनुभूति का विषय बनते है। बीभत्स रस मे भी हास्य-व्यग्य सुखात्मक सचारी को हमने व्यग्य-मिश्रित घृणा के उदाहरणो मे अपने प्रबन्ध 'बीभत्स रस और हिन्दी साहित्य' मे दिखाया है। घृणा के आश्रय मे घृणित वस्तुओ या सामाजिक बुराइयो के समाप्त होने पर हर्ष, समाप्ति के लिए प्रयत्न करने मे उत्साह आदि सुखात्मक वर्ग के अन्य सचारी भी उत्पन्न हो सकते है।

सचारियो के सबन्ध मे जो और प्रश्न पैदा होते है वे ये है—

१—सचारी भाव किसके भाव होते है, काव्यगत आश्रय के या किसके?

२—सचारी भावो के विषयो (विभावानुभावादि) का पृथक् होना अनिवार्य है या नही, और स्थायी भाव के विभावादि से उनका क्या सम्बन्ध होता है?

३—क्या विभावादि से पुष्ट होकर ये भी रस-रूप मे परिणत हो सकते है?

४—प्राचीन सचारियो मे क्या मरण, मद, जडता आदि सचारी भाव नहीं माने जाने चाहिएँ?

५—सचारी भावो की सख्या क्या हो?

१ सचारी भाव काव्यगत आश्रय के ही भाव होते है, जिन से, साधारणीकरण के कारण, सहृदय सामाजिक भी रसानुभूति प्राप्त करता है। काव्यगत आश्रय के अतिरिक्त ये सचारी भाव काव्य मे कवि-आश्रय के सचारी-रूप मे भी वहाँ प्रकट होते है, जहाँ कवि अपनी प्रतिक्रिया शब्दो-द्वारा प्रकट करता है। २ इन सचारियो के विभावादि का स्थायी भाव के विभाव-पक्ष से पृथक् होना अनिवार्य नही है। जहाँ-कही विभावादि पृथक् होगे तो वे अनिवार्य-रूप से स्थायी भाव के विभावादि से ही सम्बन्धित होगे। हमारे आचार्यो के रस-निरूपण मे जैसे कही-कही भ्रातिया पाई जाती है, वैसे ही सचारी भावो के उनके कुछ उदाहरण दोषयुक्त दिखाई देते हैं। हम ने ऊपर निवेदन किया है कि सचारी भाव आश्रय के ही भाव होते है, आलम्बन या किसी अन्य काव्यगत पात्र के नही होते। किन्तु हम देखते है कि कई बार हमारे आचार्यों ने इस तथ्य का ध्यान छोड दिया है और उनके सचारी भावो

---

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'रस मीमासा', पृ० १८१-१८२ (द्वितीय सस्करण)।

के कुछ उदाहरण लौकिक भावो के उदाहरण-मात्र बन गये है। साहित्य-दपणकार आचार्य विश्वनाथ ने 'शिशुपालवध' से असूया का यह उदाहरण[1] दिया है—

अथ तत्र पाण्डुतनयेन सदसि विहित मधुद्विष ।
मानमसहत न चेदिपति परवृद्धिमत्सरि मनो हि मानिनाम् ॥

अर्थात् 'चेदिराज शिशुपाल, राज-सभा मे युधिष्ठिर-द्वारा किये गये कृष्ण के सम्मान को न सह सका और सहे भी क्यो ? अभिमानी लोगो का तो यह स्वभाव ही है कि वे दूसरे की बढती से जल उठते है।'

सहृदयो को बताने की आवश्यकता नही कि चेदिराज की यह असूया लौकिक भाव-मात्र है। और भाव भी यह ऐसे काव्यगत पात्र का है जो स्वय हमारे ही क्रोध या घृणा का आलम्बन है। चेदिराज शिशुपाल काव्यगत आश्रय नही माना जा सकता, क्योकि उसकी अनुभूतियो से हमारा तादात्म्य नही हो सकता। अत उसके भाव सचारी भाव बन ही नही सकते। शिशुपाल की इस असूया से हमारा तादात्म्य नही हो सकता। अत असूया का यह उदाहरण सचारी भाव का उदाहरण नही माना जा सकता। इसी प्रकार साहित्यदर्पण मे त्रास, चिन्ता, ग्लानि, चपलता, विषाद, मरण आदि के जो उदाहरण प्रस्तुत किये गए है, वे सचारी भावो के उदाहरण कदापि नही माने जा सकते। आचार्य विश्वनाथ-द्वारा स्वरचित 'चिन्ता' का उदाहरण और देखिए—

'कमलेन विकसितेन सयोजयन्ती विरोधिन शशिबिम्बम्।
करतल पर्यस्तमुखी किं चिन्तयसि सुमुखि ! अन्तरहितहृदया ॥'[2]

अर्थात् 'हे सुमुखी ! अपने हाथो पर अपना मुँह रखकर, मानो खिले कमल से उसके विरोधी चन्द्रमा का मेल कराकर, कहो तो भला ! क्या-क्या मन-ही-मन सोच-विचार कर रही हो ?'

इस उक्ति से सुमुखी का सौन्दर्य-वर्णन ही ध्वनित होता है, चिन्ता की कोई बात आस-पास भी नही है, और इस दृष्टि से सचारी भाव चिन्ता का तो क्या, यह उदाहरण चिन्ता भाव का भी नही है। तो भी यदि सुमुखी के 'सोच-विचार'-कथन से चिन्ता का सकेत है, तो भी व्यभिचारी भाव नही माना जा सकता। सुमुखी कथनकर्त्ता (नायक) के रति भाव का आलम्बन ही प्रतीत होती है, काव्यगत-आश्रय नही, अत उसका चिन्तन या सोच-विचार 'चिन्ता' सचारी भाव नही माना जा सकता। हाँ, यदि सुमुखी विरहिणी नायिका के रूप मे चित्रित होती और प्रिय की प्रतीक्षा मे या अन्य कारणो से रति स्थायीभाव के आश्रय चिन्ता मे मग्न चित्रित की जाती, तब उसकी चिन्ता अवश्य 'चिन्ता' सचारी भाव का उदाहरण होती।

---

१ देखिए साहित्य दर्पण हि०, पृ० २२२।
२ वही, पृ० २२४।

'मरण' के उदाहरण-स्वरूप 'रघुवश' का ताडका-बध का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है, जो सर्वथा त्रुटिपूर्ण और काव्य-मनोविज्ञान की दृष्टि से भी सर्वथा अनुचित है। हम समझते है कि ऐसे भ्रातिपूर्ण उदाहरणो की परम्परा से ही सचारी भाव के सम्बन्ध मे कतिपय विद्वानो ने भ्रातिपूर्ण और सन्दिग्ध धारणाएँ प्रकट की हे ।

३ डा० राकेश गुप्त ने आचार्यो-द्वारा गिनाए गए ३३ सचारियो मे से निद्रा, मरण, श्रम, व्याधि आदि दस को सचारी भाव नही माना है। उन्होने इन्हे भावशून्य अनुभूतियाँ (Unemotional feelings) कहा है। उन्होने सचारी भावो को मनोविज्ञान के भावो से अभिन्न मानकर कहा है कि इन मरणादि के विभाव-अनुभाव नही हो सकते, अत जिनके विभाव-अनुभाव नही, वे भाव कैसे माने जा सकते है ? उन के अनुसार, इन मरणादि का भावो की सूची मे अबतक होना रूढि का ही फल है।[1] जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, सचारियो के अलग विषय होना अनिवार्य नही हे । बल्कि अलग विषयो के होने से सचारी-द्वारा स्थायी भाव के तिरोहित होने का डर रहता है । अत सचारियो के यदि विभावादि न भी हो, तो भी कोई हानि की बात नही, क्योकि जिन सचारियो के भिन्न आलम्बन होते है, उनकी अनुभूति मे भी आश्रय का ध्यान उन की ओर विशेष नही जाता। इस सम्बन्ध मे शुक्ल जी का कथन उल्लेखनीय है—'देखना यह चाहिए कि वह व्यवस्था क्या है जिसके अनुसार भावो (स्थायी भावो) को ऐसा अविचल पद प्राप्त रहता है कि स्वप्रवर्तित आगन्तुक भावो के आ जाने से भी उनका स्वरूप सर्वथा तिरोहित नही होता । मनोविज्ञानियो के सम्बद्ध भावो की आलोचना करने से प्रकट होता है कि उनके विषय यदि प्रवर्त्तक भाव के आलम्बनो से भिन्न हो तो भी आश्रय का ध्यान मुख्यत उन्ही की ओर रहता है'। पर सचारियो का विषय यदि प्रधान भाव के आलम्बन से भिन्न हुआ तो भी उनकी ओर ध्यान मुख्यत नही होता, अर्थात् वे विषय आलम्बन नही कहे जा सकते । इसी आलम्बन की स्थिरता के आधार पर भारतीय साहित्यिको ने 'भाव' (स्थायी भाव) की अविचलता या स्थायित्व को खडा किया है । आलम्बन ही वह कील है, जिससे प्रधान भाव हटने नहीं पाता।'[2]

---

1 "Besides this the 'Vibhavas' and the 'Anubhavas' which are among the constituents of Rasa, are distinctly available only in connection with the emotional feelings The fact that the unemotional feelings have not been eliminated from the list of the 'Bhavas' since thev were included in it is to be accounted for by the tendency to stick to the convention"

—*Psychological Studies In Rasa*,p 146.

२ रस-मीमासा, पृ० १९९ ।

स्थायी भाव-द्वारा ही प्रवर्तित होने के कारण, सचारियो के विषय भी स्थायी भाव के आलम्बन (विषय) तथा उससे सम्बन्धित विषय होते है। अत उनके विभाव अलग न होने से उन्हे सचारियो की सूची से नही निकाला जा सकता। डा० राकेश गुप्त आदि ने सामान्य मनोविज्ञान के आधार पर ही निद्रा, मद, मरण आदि को भाव-शून्य घोषित किया है। पर हम देखते है कि काव्य मे इनका सचारी-रूप मे प्रकट होना सवेदनशील ही नही होता, अपितु मानसिक दशा का द्योतक भी होता है। डा० राकेश गुप्त ने सम्भवत इस दृष्टि से विचार ही नही किया। जब कोई प्रेमी अपने प्रिय के स्मरण मे लीन होता है, या शोक, वियोग-दुख, आत्मग्लानि आदि के कारण कोई प्राणी प्राण त्यागने की भाव-स्थिति मे होता है, या कोई प्रिय-तमा अपने प्रिय के सयोग-आनन्द मे मद से फूली नही समाती, तो ऐसी अवस्थाओ मे क्रमश स्मरण, मरण, मद आदि स्पष्टत सचारी रूप मे भाव ही है।

इन मनोदशाओ और मानसिक या सात्त्विक अनुभावो मे अन्तर यह है कि मानसिक अनुभाव मनोदशाओ के सूचक बाह्य लक्षण-मात्र है, मनोदशाएँ नही, जबकि सचारी भाव मनोदशाएँ है। जैसे अश्रु, स्वेद, रोमाच आदि के सम्बन्ध मे यह नही कहा जा सकता कि मन आँसू या पसीना निकालने की भावना करता है या रोमाच प्रकट करना चाहता है। इसके विपरीत, मरणादि के सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि मन प्राण त्यागना चाह रहा है, मद से भरा हुआ है, इत्यादि।

अस्तु, उपर्युक्त विवेचन से निष्कर्ष निकला कि सचारी भाव काव्यगत आश्रय या कवि के ही भाव होते है, जो रस-प्रक्रिया मे सामाजिक की भी अनुभूतिका विषय बनते है और उसकी रसानुभूति को तीव्र करते है। रस-प्रक्रिया मे सचारी भावो के अलग विषयो का होना अनिवार्य नही है। ये स्थायी भाव द्वारा ही प्रवर्तित होते है। अत स्थायी भाव के आलम्बन ही इनके आलम्बन बन जाते है। यदि कही पृथक् आलम्बन हो भी, तो वह स्थायी भाव के आलम्बन से ही सम्बद्ध होगा और आश्रय का ध्यान उस की ओर स्थायी भाव के आलम्बन के माध्यम से ही जायगा। जैसे, शृगार मे असूया सचारी का आलम्बन प्रिय के स्थान पर सौत होती है। पर असूया का आधार प्रिय के प्रति प्रेम ही रहता है। प्रिय के माध्यम से ही सौत के प्रति डाह पैदा होती है।

इस सम्बन्ध मे हमारा निवेदन है कि जिस आश्रय के क्रोध या शोक से हमारा तादात्म्य हो जायगा, उसके शका, ईर्ष्या, गर्व, लज्जा आदि सचारी भावो से भी हमारा तादात्म्य अवश्य होगा। काव्य के हर पात्र के तो न क्रोध से तादात्म्य होगा न शकादि से। रावण के क्रोध, शका आदि से हमारा तादात्म्य नही हो सकता, पर राम के शोक और उत्साह के साथ चिन्ता, गर्व आदि से भी हमारा तादात्म्य

होगा। अत सचारी भाव भी पाठक या दर्शक की वही अनुभूति जगाते है और स्थायी भावो के साथ ही उनके सचारियो से भी हमारा तादात्म्य होता है। हाँ, स्वतन्त्र आलम्बन होने पर, केवल भाव-रूप मे प्रकट होने पर ही ये पाठक की स्वविषयक अनुभूति जगाने मे असमर्थ होते है। किसी की ईर्ष्या से हम ईर्ष्या अनुभव नही कर सकते, क्योकि ईर्ष्या एक स्पृहणीय उदात्त भाव-वृत्ति नही है, पर रति भाव के आश्रय जब हम नायिका को असूया करते देखते हे, तो उसकी अनुभूति हमारे लिए भी ग्राह्य बन जाती है। उस अवस्था मे असूया निर्दोष हो जाती है। अत सचारी भाव भी स्पृहणीय अलौकिक भाव होते है, और वे जितने ही उदात्त रूप मे प्रकट हो, उतने ही अधिक उदात्त रूप मे रस की सिद्धि होगी। साराश यह कि विभाव-अनुभाव की उदात्तता के साथ रस-प्रक्रिया मे सचारी भावो की उदात्तता भी होनी चाहिए। अर्थात् सचारी भाव ऐसे हो, जो हमारी मानवीय सवेदनाओ को महान् बनाये, जीवन की उच्च प्रेरणाये प्रदान करे और हमारे रागो का परिष्कार करे।

५—सचारी भावो की सख्या प्राचीन आचार्यो ने केवल ३३ बताई है, जो निश्चय ही उनकी सीमित दृष्टि की द्योतक हे। वास्तव मे सचारी भावो की कोई सीमा नही। सवेदनशील मन की न जाने कितनी तरगे होती है! वे सब सचारी भाव के रूप मे प्रकट हो सकती है। हो सकता है, आरम्भिक आचार्य के समक्ष ये ३३ सचारी ही अनुभूति-रूप मे आये हो और परवर्ती आचार्यो ने इन सचारियो को ही बताने और गिनाने की रूढ परम्परा बना ली हो। पर आशा, निराशा, शुक्ल जी का 'चकपकाहट' 'उदासीनता', पश्चात्ताप, विस्मृति, विश्वास, दया, सतोष, असतोष, अनिश्चय, क्षमा, विनय, तृष्णा, उपेक्षा, श्रद्धा, उत्कठा, निन्दा आदि कितने ही ऐसे भाव हैं, जिनपर प्राचीनो का ध्यान नही गया। आचार्य रामदहिन मिश्र ने शुक्ल जी द्वारा निर्दिष्ट उदासीनता और चकपकाहट आदि सचारियो का अन्तर्भाव 'निर्वेद' और 'आवेग' मे करना चाहा है। सचारियो के अन्तर्भाव की यह बात हमे मान्य नही है। वस्तुत भावो का मनोवैज्ञानिक सूक्ष्म अन्तर इन सब को स्वतन्त्र भाव सिद्ध करता है।

इस प्रकार रस-तत्त्वो या रस-सामग्री के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हुआ होगा कि सभी रस-तत्त्वो मे, काव्यानुभूति की सम्पूर्ण सामग्री मे उदात्त तत्त्व रहता है। कवि अपनी जिन अनुभूतियो को काव्य मे व्यक्त करता है, वे उदात्त ही तो होती है। और कोई ऐसी उदात्त अनुभूति नही हो सकती जो रसानुभूति न हो। सभी कवि-अनुभूतियाँ काव्य के रसो से सम्बन्ध रखती है। काव्य मे कवि या लेखक की उदात्त अनुभूतियाँ प्रकट होती है, यह फ्रायड आदि पाश्चात्य मनोविज्ञानिको के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त से भी पुष्ट होता है। फ्रायड आदि मनोविज्ञानिको ने मानव मन के अवचेतन-रूप का रहस्य बताया। फ्रायड ने अवचेतन मन की प्रबलता का उद्घाटन

किया। उनके अनुसार मानव मन का ३/४ अवचेतन है और यही अवचेतन हमारे अधिकाश क्रिया-कलापो का प्रेरक होता है। फ्रायड ने इस अवचेतन की सारी शक्तियो का मूलाधार मानव की दमित काम-वासना को बताया। यह काम-वासना सामाजिक और नैतिक प्रतिबन्धो के कारण अवचेतन मे दमित कुठा बन जाती है, जो निष्कासन का अवसर ढूढती रहती है। कभी-कभी इसका उदात्तीकरण भी हो जाता है, जैसे देश-प्रेम, भगवत्प्रेम, मानव-प्रेम आदि के रूप मे। साहित्य और कला इसके उदात्त रूप मे निष्कासन के ही मार्ग है। फ्रायड ने केवल काम-प्रवृत्ति को ही मूल-प्रेरक बताया, किन्तु उनके शिष्य युग ने अवचेतन की प्रवृत्तियो को व्यापक रूप दिया और उन्हे व्यक्ति-जीवन से ही नही, बल्कि समूह-जीवन से सम्बद्ध किया। उनके अनुसार, मानव के अवचेतन मन मे युग युग की सस्कार-बद्ध मानवीय प्रवृत्तियाँ दबी हुई पाई जाती है। मनोविज्ञानिको का कहना है कि इन दमित प्रवृत्तियो या भावनाओ के दबाने से काम नही चलेगा, क्योकि दबने से ये गेद की तरह अधिक उछलने, बल्कि मूल पशु-प्रवृत्तियो के ही रूप मे आवेग के साथ निकलने का अवसर ढूढती है। इन्हे मूल रूपो मे निकलने देने की बजाय, इनका उदात्तीकरण करना और उदात्त रूप मे निकलने देना ही मानवता के लिए श्रेय की बात है। उदात्त रूप मे निष्कासन का एक बहुत बडा क्षेत्र मनोविज्ञानिको ने साहित्य को माना है। साहित्य मे साहित्यकार की दमित भावनाएँ उदात्त रूप मे प्रकट होती है। अत मनोविज्ञानिको के मत से भी स्पष्ट होता है कि (१) साहित्य मे मूल भाव या मूल प्रवृत्तियाँ उदात्त रूप मे ही प्रकट होती है। (२) इनका उदात्त रूप मे निष्कासन ही मानवता के कल्याण का साधन है। (३) काव्य या साहित्य मे कवि या लेखक की अनुभूतियाँ ही उदात्त होती है, सब पात्रो के सब भाव उदात्त नही होते।

विभावादि और रसानुभूति : विभावादि रस-सामग्री का विवेचन करने के पश्चात, अब एक और प्रश्न पर विचार करना है। क्या केवल 'विभावानुभाव सचारी' सब के योग से ही रसानुभूति सभव है अथवा काव्य मे यदि इनमे से कोई अनुपस्थित हो, तो भी रसानुभूति हो सकती है। डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित ने एक-मात्र विभाव से रसानुभूति मानना अनुचित बताया है। उनका कथन है कि रस का सम्बन्ध आत्मा से है, न कि विभाव के समान किसी बाह्य वस्तु से। बाह्य वस्तुओ को ही यदि रस मान लिया जाय तो उसे सभी स्थितियो मे एक-सा रसात्मक होना चाहिए। किन्तु इसके विपरीत एक ही वस्तु, यथा व्याघ्रादि भिन्न-भिन्न समय पर भिन्न रस को व्यक्त करने मे सहायक होती है। वही कभी भय की उत्पादक है, कभी

क्रोध की। यदि आलम्बन-मात्र रस होता तो पिजडे मे पडा हुआ शेर भी भयानक रस व्यक्त करता और खुला हुआ शेर भी।[1]

इस सम्बन्ध मे निवेदन है कि डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित भी डा० राकेश गुप्त की तरह विभाव को निरपेक्ष बाह्य वस्तु मानकर अपना वक्तव्य देते है, जो उचित नहीं है। काव्य मे विभाव का अर्थ निरपेक्ष वस्तु नही होता। कवि या लेखक वस्तु-विशेष को जब अपनी किसी अनुभूति का आधार बनाता है, तभी वह उसके उस भाव का आलम्बन या विभाव बनती है। इससे पूर्व वह न आलम्बन है, न विभाव, केवल वस्तु-मात्र होती है। अत. उक्त विद्वानो ने विभाव के अन्तर्गत किसी वस्तु के अनुभूति का आधार बनकर आने की अनिवार्य शर्त की अवहेलना ही कर दी है। शकुतला शृगार रस का आलम्बन तभी बनती है, जब कवि को ऐसा अभीष्ट होता है। आलम्बन अनुभूति का आधार होता है, उसमे भी आनन्द प्रदान करने की शक्ति है। अत स्थायी भाव को अनुभवगम्य बनाने वाले विभावादि मे से किसी एक का चित्रण भी रसानुभूति अवश्य करायेगा। काव्य मे आलम्बन जब होगा, भावोद्बोधक होगा, अत यदि काव्यगत आश्रय, उसके अनुभाव तथा सचारी भाव वर्णित न भी हो, तो भी पाठक स्वय आश्रय के रूप मे रसानुभूति प्राप्त करेगा। यदि विभाव मे रसानुभूति की क्षमता न होती, तो प्रकृति का विशुद्ध आलम्बनगत चित्रण अनुभूति का विषय ही न बनता। अत कवि की अनुभूति पर आश्रित काव्यगत आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव या सचारीभाव मे से किसी एक का चित्रण भी रसानुभूति कराने की क्षमता रखता है। बहुत बार काव्य मे एक के चित्रण से दूसरो की स्वय सिद्धि हो जाती है। जैसे, यदि नायिका का केवल अनुभाव-चित्रण हो तो विभाव और सचारी भावो का आक्षेप कर लिया जाता है।

परन्तु यदि काव्य मे सब की पूर्ण योजना हो, तो सम्मिलित प्रभाव उत्पन्न करने वाली पुष्ट रसानुभूति होगी, अर्थात् विभावादि सब का पुट-पाक रसानुभूति को अधिक पुष्ट, अधिक सवेद्य और अधिक मार्मिक तथा व्यापक बना देगा। इसमे भी यदि विभावादि सब का स्वरूप पूर्ण उदात्त हो, तो सब की सम्मिलित अनुभूति उदात्त रस-अवस्था को प्रकट करेगी और यह उदात्त रस की निष्पत्ति रस की सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति मानी जायगी।

(ख) रसो का उदात्त रूप :

रस-सामग्री के उपर्युक्त अध्ययन से हमने देखा कि रस का प्रत्येक अग—विभाव-अनुभाव-सचारी-स्थायी भाव—उदात्त होता है। ऐसी उदात्त सामग्री

---

१ डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित · 'रससिद्धान्त स्वरूप-विश्लेषण', पृ० ५१।

से जो रसानुभूति या आनन्दानुभूति होती है, वह उदात्त ही होती है। यदि इस रस-सामग्री का ठीक प्रयोग न करके, कोई कवि या लेखक इसके स्थान पर लौकिक या स्थूल उपकरणो से काव्य-रचना करेगा अथवा इन अगो को सही मनोवैज्ञानिक रूप मे न अपनाकर इनमे अमनोवैज्ञानिकता का दोष उत्पन्न कर देगा, तो उसकी रचना रस-परिपाक मे समर्थ न होगी, श्रेष्ठ न होगी। साहित्य मे जहाँ-जहाँ जब रस के अगो का अनुचित और अयोग्य प्रयोग हुआ है, वही कवि की रचना श्रेष्ठ नही बन सकी। यहाँ तक कि आचार्यों ने भी जहाँ रसो के स्वरूप-निर्धारण मे सही उदात्त सामग्री के स्थान पर स्थूल लौकिक सामग्री अपनाने की भूल की है, वही उन रसो के स्वरूप-निरूपण सदोष हो गए है। हम पीछे शृगार, रौद्र, भयानक, बीभत्स आदि रसो के सम्बध मे आचार्यों की भ्रातियो का उल्लेख कर आए है। अब आगे काव्य-रसो के उदात्त स्वरूप को प्रस्तुत करते है।

शृगार रस शृगार रस का स्थायी भाव दाम्पत्य रति है। रति का स्पष्ट और सीधा अर्थ प्रेम है। पति-पत्नी या प्रेमी-प्रेमिका के प्रेम की अभिव्यजना ही शृगार रस का विषय-क्षेत्र होना चाहिए। इस प्रेम के न-जाने कितने भव्य चित्र होते है। जीवन की न-जाने कितनी गतियो से इसका सम्बध होता है। जीवन के न-जाने कितने सघर्षो और क्रिया-कलापो का यह कारण बनता है। इसका विकास पारस्परिक सुख आनन्द से लेकर मातृत्व और जीवन के नाना-विध विकास के रूप मे होता है। मनोविज्ञान की दृष्टि से प्रेम की भाव-वृत्ति अत्यन्त व्यापक, उदात्त और गहन वृत्ति होती है। इसके विस्तार की कोई सीमा नही। किन्तु यदि शृगार से अभिप्राय कामुकता लेकर काव्य की रचना की जायगी तो ऐसे काव्य मे शृगार रस का वास्तविक रूप लुप्त ही हो जायगा। खेद है कि 'शृगार' शब्द से ('शृग' का अर्थ कामोद्रेक या काम-वृद्धि और 'आर' से अभिप्राय प्राप्ति) कामवृद्धि या कामोद्रेक की प्राप्ति अर्थ अपना कर प्राचीनो ने इसकी भावना को लुप्त कर दिया। यही कारण है कि हमारे प्राचीन सस्कृत साहित्य का एक रूप ऐसा भी प्रकट हुआ जिसमे सभोग को ही रति या प्रेम मानकर कामुकता का नग्न चित्रण हुआ। कई आचार्यों पर भी ऐसे साहित्य का छुतहा प्रभाव पडा और उन्होने भी शृगार रस के सही स्वरूप के स्थान पर कामुकतापूर्ण वर्णनो को ही शृगार रस मान लिया। हम पीछे मम्मट आचार्य के उदाहरणो मे उनकी भ्रातियो पर प्रकाश डाल आए है। हमारे आचार्यों ने शृगार रस का ही सर्वाधिक विवेचन किया है, पर उनकी दृष्टि शृगार के सीमित कामुकतापूर्ण विलास और ऐकान्तिक रूप पर ही टिकी रही। इसमे सदेह नही कि इस ऐकान्तिक शृगार के अग-प्रत्यग का सूक्ष्म विवेचन उन्होने किया, पर दृष्टि कामुकता पर केंद्रित रहने के कारण उनके द्वारा विवेचित शृगार रस के अनेको रूप दूषित ही कहे जा सकते है। नायिका-भेद के अन्तर्गत नायिकाओ के अनेक रूप-स्वरूप

ऐसे है जिनमे प्रेम भाव का अश भी कही दिखाई नही देता और केवल कामुकता प्रतीत होती है । उनका सामान्या, कुलटा आदि नायिकाओ का निरूपण तो सर्वथा मानसिक व्यभिचार ही कहना पडता है। शृगार रस से इनका दूर का भी वास्ता नही। अन्य नायिकाओ के उदाहरणो मे भी कामुकता अधिक प्रतीत होती है, प्रेम का भाव बिल्कुल लु त-सा हो गया है । सच तो यह है कि समूचे नायिका-भेद का आधार ही कामुकता है। नायिका-भेद की सारी शृगार-लीला स्थूल उपभोग (सभोग) पर बाधी गई है। 'ज्ञात-यौवना' का लक्षण-उदाहरण प्रस्तुत करते हुए भानुदत्त ने यह पद्य प्रस्तुत किया है—

स्वयभू शम्भुरम्भोजलोचने ! त्वत्पयोधर ।
नखेन कस्य धन्यस्य चन्द्रचूडो भविष्यति ।।६।। — रसमजरी

अर्थात् 'अरी कमलनयनी ! शिव की भाति स्वय उत्पन्न हुआ यह तेरा पयोधर किस धन्य पुरुष के नख से चन्द्रचूड होगा, अर्थात् चन्द्रमा-जैसे टेढे नख-क्षत धारण करेगा। अर्थात् तेरा उपभोग कौन करेगा !' यह छिछली रसिकता या मानसिक व्यभिचार के सिवा क्या है ?

मध्याधीरा का लक्षण इस प्रकार प्रकट किया गया है। पर-स्त्री-गमन करके लौटे हुए अपने पति से मध्याधीरा कहती है—"रात-भर तूने रतजगा किया है और मेरी आँखो मे लाली हो गई है। मधुपान तूने किया और मन मेरा चकरा रहा है। भौरो से भरे घने निकुज मे तूने श्रीफल (फल-विशेष व कुच-निधि) पाया और कामदेव अपने अग्नि के समान क्रूर बाणो से मुझे बीध रहा है।"

निश्चय ही ऐसे काम-चित्र प्रेम-भाव का कोई स्वरूप प्रकट नही करते । यहाँ पति तो व्यभिचारी है ही, पर नारी भी पति के व्यभिचार को सहने वाली है—सहने वाली ही नही, अपितु उसके व्यभिचार की कथा जानकर जिसकी कामुकता बढ जाती है, ऐसी धीरा है। ऐसे चित्र पुरुष-प्रधान सामतीय सस्कृति की ही देन है। उपर्युक्त उदाहरण मे अलकरण की प्रवृत्ति भी उस सामतीय वातावरण की परिचायक है।

परकीया और परकीयाभास आदि रूपो की कल्पना सर्वथा भोग-उपभोग पर आधारित है। विदग्धा परकीया का यह प्रसिद्ध (?) उदाहरण दिया गया है—

नबिडतमतमाल वल्लिवल्ली—विचकिलराजि विराजितोपकण्ठे ।
पथिक ! समुचितस्तवाद्य तीव्रे, सवितरि तत्र सरित्तटे निवास ।।२३।।
—रस मजरी

अर्थात् मध्याह्न मे ठहरने के लिए स्थान पूछने वाले किसी पथिक को कोई विदग्धा उसे निवासार्थ स्थान बताने के बहाने उसे आमत्रित करती हुई कहती है—हे पथिक ! मध्याह्न मे सूर्यातप के प्रखर हो जाने पर आज तुम्हे नदी के तट पर ही डेरा डालना चाहिए, क्योकि उसके समीप ही लताएँ तमाल वन के चारो ओर घिरी

हुई है और मल्लीलताओ की शोभा वाला स्थान (विहार का निकुज) है । इस उदाहरण मे मभोग का स्पष्ट चित्रण तो नही है, पर उदाहरणो की परम्परा से यही लगता है कि नायिका सभोग के लिए ही आमत्रित कर रही है ।

परकीया से भी मानसिक व्यभिचार तुष्ट न हुआ तो कुलटा की कल्पना की गई ! कहाँ ? शृगार रस के अन्तर्गत ! शृगार रस (?) की इस नायिका का हाल देखिए—

एते वारिकणान् किरन्ति पुरुषान् वर्षन्ति नाम्भोधरा
शैला शाद्वलमुद्भवन्ति न सृजन्त्येते पुनर्नायिकान् ।
त्रैलोक्ये तरव फलानि सुवते नैवारभन्ते जनान्
धात ! कातरमालपामि कुलटा हेतोस्त्वया कि कृतम् ।।२८।।

—रस मजरी

किसी कुटला का विधाता को उलाहना है—"हे विधाता! मै कातर शब्दो मे पुकारती हूँ, तूने मेरे लिये क्या किया ? ये बादल जलकण बरसाते हे, मेरे लिए पुरुषो को नही (मै जलकणो की प्यासी नही, मुझे तो पुरुष चाहिएँ) । ये पहाड नये-नये घास उगाते है, मेरे लिए नायको को उत्पन्न नही करते । तीनो लोको मे वृक्ष फल ही पैदा करते है, लोगो को नही ।"

जरा भी विचार किया जाय तो इस कथन मे बदमाशी (व्यभिचार) के सिवा कोई बात नही है । शृगार रस का इससे दूर का वास्ता भी नही है । यह शृगार रस की नायिका तो नही, हाँ बीभत्स रस की नायिका अवश्य है । रस यदि इसमे कोई हो सकता है तो ऐसी कुलटा, व्यभिचारिणी के प्रति घृणा के कारण बीभत्स रस ही हो सकता है ।

आमोदकार की कुलटा अपनी सखी से कहती है—

सखि रतिसुखलालसया सकलयुवान परीक्षिता हि मया ।
हृदयानुरजनविधो मधुरिपुणा क समो भविता ।।

"हे सखी ! मैने रति (सुरत) के सुख की लालसा से, कि कौन पुरुप सुरत करने मे कितना आनन्द देता है, समस्त युवको की परीक्षा ले ली । मधुरिपु के सदृश सुख के द्वारा हृदय का अनुरजन करने वाला कौन होगा ?"

व्यभिचार की इससे नगी बात और क्या हो सकती है ? यहाँ 'रति-सुख' शब्द पर ध्यान देना चाहिए । इन आचार्यो ने रति (प्रेम) को रति (सुरत) ही बना दिया ।

सामान्या के बारे मे नायिका-भेद के ग्रथो मे स्पष्ट शब्दो मे कहा गया है कि सामान्या तो वही अनुराग का प्रदर्शन करती है, जो उसे धन देकर सतुष्ट करता है—'वित्तमात्रोपाधिकसकल पुरुषानुरागा सामान्यवनिता ।' इस कथन से भी स्पष्ट है कि भोग को ही 'अनुराग' या 'राग' कहा गया है। यह सामान्या नाना प्रकार की चेष्टाओ

से नायको मे अनुराग बढाती है। धन के लोभ से वेश्या धनी कुष्ठ-रोगी और बूढे को भी कामदेव के सदृश समझती है और कामदेव जैसे सुन्दर किन्तु धनहीन नायक को कोढी और जरा-जीर्ण मानती है—

वित्तेन वेत्ति वेश्या स्मरसदृश कुष्ठिन जराजीर्णम् ।
वित्त विनाऽपि वेत्ति स्मरसदृश कुष्ठिन जराजीर्णम् ।।

आश्चर्य है कि सामान्या को भी 'प्रोषितभर्तृका' बाताया गया है। उसकी कपट-लीला का इस प्रकार वर्णन किया गया है कि वह अपने द्वार पर बैठकर परदेश से लौटने वाले अपने कामुक की प्रतीक्षा मे, आँखो मे मिरचे लगा कर बैठती है कि जब कामुक आए और उसे द्वार पर बैठी रोते देखेगा तो अपने वियोग मे विरहिणी समझकर पहले की भाँति बहुत धन देगा।

ऐसी कुलटा और सामान्या व्यभिचारिणी नायिकाओ को घृणा का विषय मानकर हम बीभत्स रस मे ही लेना उचित समझते है, श्रृगार रस मे नही।

अन्य-सभोग-दुखिता, खण्डिता आदि नायिकाओ के अनेक भेद भोग पर ही आधारित है। मान आदि के कारण भी पर-स्त्री-सभोग बताए गये है। नायिकाओ के कोटि-विभाजन मे उत्तमा नायिका उसे कहा गया है जो पति के पर-स्त्री-गमन से भी रुष्ट नही होती और उसे उसी तरह भरपूर अनुराग देती है (सभोग करती है)।

पतिश्शयनमागत कुच विचित्रितोरस्थल
प्रसन्नवचनामृतैरपयति वाम भ्रुवा ।
अर्चचि सुभगस्मित द्युतिपटीरपकद्रवै—
रपूजि विलसद्विलोचन चरत्कृतैरम्बुजै ।।८६।। —रस मजरी

अर्थात् "पर-स्त्री के गाढ आलिगन द्वारा चित्रित वक्ष वाला प्रिय जब शयन के लिए आया तो पत्नी ने प्रसन्न होकर अपने प्रिय वचनो के अमृत से उसे तृप्त किया। उसने शोभन स्मित की कानि के चन्दन से उसे चर्चित किया तथा अपने खिले हुए नेत्र-विभ्रमो के कमलो से उसकी अर्चना की।"

पति के वक्ष पर पर स्त्री-गमन-चिन्ह देखकर भी तनिक रुष्ट न होने वाली और सब प्रकार से उसका स्वागत-पूजन करने वाली यह नायिका पुरुष-प्रधान सस्कृति मे ही उत्तमा मानी जा मकती थी। यह उत्तमा प्रेम मे उत्तमा नही है, सभोग मे ही उत्तमा है।

भानुदत्त ने श्रृगार के दूसरे आलम्बन नायक के भेद भी नायिका के स्वकीया, परकीया, सामान्या की तरह पति, उपपति और वैशिक बताए हैं। इनके भेदोपभेद

भी कामुकता के आधार पर नायिका-भेद की तरह किये गए है। काम-सकेतो को न समझने वाले को नायकाभास कहा गया है।

शृगार रस के बारे मे ऐसी प्रवृत्ति का कारण सस्कृत की शृगार-प्रधान मुक्तक रचनाएँ और चतुर्भाणी-जैसी नाट्य रचनाएँ है। चतुर्भाणी—'धूर्तविट-सवाद' (ईश्वरदत्त विरचित), 'पद्मप्राभृतकम्' (शूद्रक विरचित), 'उभयाभिसारिका' (वररुचिकृत), तथा 'पादताडितकम्' (श्यामिलक प्रणीत)—चार भाणो का सग्रह वैशिक वृत्त का भण्डार ही है। इन भाणो मे 'काम-शास्त्र' के आधार पर कामुकता की बातें बताई गई है। वेश्याओ का नग्न चित्रण है। इनमे विट वेश्यागमन और व्यभिचार की खुली प्रशसा करता है। सुरत-चिन्हा वेश्याओ का खुला चित्रण किया गया है। शूद्रक-प्रणीत 'पद्मप्राभृतकम्' मे विट एक स्थान पर उसकी नजर से छिपे हुए शैषिलक को देखता है। विट तुरन्त बात भाँप जाता है और उसके पास जाकर सम्बोधित करता हुआ कहता है—"सुरत के टुकडे खोर! मुझ से ऐसा मत कर! सबको पता है कि शैषिलक के पडौस मे बौद्ध भिक्षुणी बसती है। काम-भाव उत्पन्न होने से मालिन की छोकरी मालतिका ने उसे तेरे पास दूति बनाकर भेजा था। उस दूति के शृगार-विहीन रूप, यौवन और लावण्यमय शरीर पर मास की तरह ललक कर तूने तुरन्त उस पर ही आँख गडा दी, भविष्य मे मिलने वाली के लिए नही ठहरा। क्या कहा—"मित्र! यह सच है कि अनागत सुख की आशा से आए हुए सुख को छोडना पुरषार्थ नही, इसलिए मैने वैसा किया।" अरे, तूने ठीक किया। अगर तूने इसे विस्तार से न बताया तो रहस्य बेमजा रहेगा।"[१]

ईश्वरदत्त-प्रणीत 'धूर्तविट सवाद' मे विट वेश्याओ की प्रशसा करता है और माधवसेना नामक वेश्या के घर से रतियुद्ध से थक कर आते हुए कृष्णिलक का अभिवादन करता है। जब कृष्णिलक कहता है कि मेरा पिता मुझे वेश (चकले) मे जाने से रोकता है, और मेरी शादी करना चाहता है, तो विट उसके पिता की भर्त्सना करता है और कुल-बधुओ का मजाक उडाते हुए कृष्णिलक को सलाह देता है कि वह शादी के फेर मे न पडे।

इस रचना मे विट काम की अनेक युक्तियो और अनेक प्रश्नो का उत्तर देता है। काम को ही प्रेम मानने की प्रवृत्ति का इसमे स्पष्ट आभास मिलता है। विश्वलक पूछता है कि यदि स्त्री का राग कम हो जाय तो क्या उपाय करना चाहिये। उत्तर मे विट कहता है—"अन्य स्त्री का सेवन, रति मे शिथिलता, धीर बनकर बैठ जाना, झगडा कर लेना आदि।" विश्वलक ने फिर पूछा—प्रेम चार तरह के होते

---

१ चतुर्भाणी, शृङ्गार हाट (स० एव व्याख्याकार डा० मोतीचन्द्र तथा डा० वसुदेवशरण अग्रवाल), पृ० ३०।

है—यथा प्रथम समागम का प्रेम, क्रोध के बाद का प्रेम, प्रवास के समय का प्रेम, और प्रवास से लौटने के बाद का प्रेम—इनमे कौन-सा प्रेम अधिक महत्त्व का है ? विट जवाब देता है—"प्रथम समागम का प्रेम स्त्री के अनजानी होने से खतरे से भरा रहता है, प्रवास काल का प्रेम करुणामय होने से ठीक नही, क्योकि आसू मे सुरत का मजा नही, प्रवास काल के बाद की रति शृगार-विहीन और लज्जा-विहीन होने से स्त्री का प्रेम कम करने वाली होती है, पर क्रोध के बाद समरसता मे रति प्रशसनीय है।"

इस प्रकार इन भाणो मे कामुकता को ही अनुराग कहा गया है। कामुकता की यह शृगारहाट ही शृगार रस का विषय समझ ली गई और परिणामस्वरूप शृगार रस का वास्तविक स्वरूप स्थूल कामुकता से आच्छादित हो गया। हम शृगार रस मे काम-प्रवृत्ति के सर्वथा निषेध की बात नही कह रहे है। परन्तु वही काम इसमे उचित माना जायगा, जो प्रेम के मानसिक भाव पर आधारित होगा।

अब प्रश्न है कि शृगार रस का उदात्त रूप कैसा है ? हम आरम्भिक अध्याय मे भी निवेदन कर चुके है कि 'विभावानुभाव सचारी सयोगाद्रस निष्पत्ति' की दृष्टि से तो बिहारी आदि रीति-कवियो का शृगार चित्रण भी शृगार रस है, पर उसमे वैसी उदात्तता नही है जो प्रेम भाव मे होनी चाहिए। इसका एक-मात्र कारण यह है कि उनके शृगार-चित्रण मे प्रेम-चित्रण की अपेक्षा बाह्य शारीरिक चित्रण अधिक है। शृगार रस का स्थायी भाव प्रेम है और यह प्रेम जितना ही अधिक प्रगाढ होगा, जितना अधिक नि स्वार्थ, मानसिक गूढता से ओतप्रोत, निश्छल, पवित्र, अडिग, कष्टो मे भी बढने वाला, सुखो मे सजने वाला व्यापक प्रेम होगा, उतना ही अधिक शृगार रस उदात्त होगा। स्थायीभाव प्रेम की यह प्रगाढता विभावादि के औदात्त्य पर निर्भर है। विभावादि जितने अधिक उदात्त होगे, जितने अधिक उदात्त सचारी भावो से यह पुष्ट होगा, उतना ही अधिक उदात्त होगा।

बिहारी के शृगार-सम्बधी ऊँचे दोहो मे से दो-चार उदाहरण प्रस्तुत करे—

रही दहेडी ढिग धरी, भरी मथनिया वारि।
फेरति करि उलटी रई, नई बिलोवनिहारी।।

नई-नवेली (नवौढा) दूध बिलोने वाली के प्रिय-अनुराग मे विभ्रम हाव का यह सुन्दर चित्र है। बिलोवे क्या खाक ? ध्यान तो कही और है। सुध बुध ही नही है। दही पास धरी रह गई, पानी से मटकी भर ली, और रई के उल्टे-सीधे होने का भी कोई ध्यान नही ! वाह री विभ्रात नायिका ! यहाँ मोह सचारी भी है। किन्तु अनुभाव-विधान से ही 'विभावानुभाव सचारी' आदि रस के सम्पूर्ण अवयव लक्षित हो गए हैं। इस प्रकार यह शृगार रस का उदाहरण है, क्योकि मूल मे प्रिय-प्रेम ही है।

इसी प्रकार प्रिय-समागम की आन्तरिक अभिलाषा, उत्साह, हर्ष और उमग का एक अत्यन्त सुन्दर चित्र निम्न दोहे मे देखिए—

ज्यौ ज्यौ आवति निकट निसि, त्यो त्यौ खरी उताल ।
झमकि झमकि टहलै करै, लगी रहचटै बाल ।।

सामान्य गार्हस्थ्य जीवन की सुन्दर मनोवैज्ञानिक परिस्थिति का इसमे चित्रण हुआ है । शैली और भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से भी यह अनूठा दोहा है । सब-कुछ सकेत और ध्वनि के रूप मे व्यक्त किया गया है । 'ज्यौ-ज्यौ आवत निकट निसि' से शीघ्र ही रात्रि के समय प्रिय से मिलने का सकेत है । बडी उतावली से झूम झूम कर घर का काम समेटना रसचटी बाला की आन्तरिक हलचल को स्पष्ट करता है ।

बिहारी के दोहो मे से एक और बढिया दोहा प्रस्तुत किया जाता है—

उन हरकी हँसी कै इतै, इन सौपी मुसकाइ ।
नैन मिलै मन मिलि गये, दोउ मिलवत गाइ ।।

नायिका राधा नायक कृष्ण—ध्यान रहे रीतिकाल का प्रत्येक नायक कृष्ण है, प्रत्येक नायिका राधा—के पास अपनी गाय, जगल मे चरने के लिए, छोडने गई । नायक को ठठोली का इससे अच्छा अवसर और कौनसा मिलता ? हँसकर नायिका की गाय हरक दी—भगा दी, जाओ हम नही मिलाते । नायिका भी समझ गई, उसने मुस्का कर फिर गाय सौप दी । दोनो के मुस्कराते नयन मिले, दिल मिले, गाय मिलने-मिलाने से ही दोनो मन-प्राण से मिल गए । यहाँ शृगार रस की पूरी व्यजना हुई है । नायक-नायिका आलम्बन है । एकात प्राकृतिक वातावरण, अनुभाव पक्ष तथा हर्ष, हास आदि सचारी भाव सब है ।

हमने ये उदाहरण बिहारी के छटे हुए श्रेष्ठ शृगारी दोहो मे से दिये हैं, बिहारी के अनेक दोहो मे जो छिछली रसिकता, कामुकता और भद्दापन है, वह छोड दिया है । परन्तु हमारा निवेदन है कि बिहारी के इन श्रेष्ठ दोहो मे शृगार रस तो है, और वह हृदय की स्पृहणीय भाव-वृत्ति के रूप मे है, पर वह वैसा उदात्त नही है जो होना चाहिए या हो सकता है । कारण स्पष्ट है कि इन तीनो चित्रो मे भिन्न-भिन्न उदात्त सचारियो से युक्त प्रेम-भाव की प्रगाढता का विशेष चित्रण नही हो पाया । पहले चित्र मे नवोढा नायिका का मोह व्यक्त हुआ है, जो दाम्पत्य जीवन का आरभिक ऐकान्तिक मोह होता है । यह जीवन की उदात्त वृत्तियो से पुष्ट प्रेम की दशा नही कही जा सकती । यही बात अन्य दोनो दोहो के बारे मे कही जा सकती है । प्रेम-अन्तर्गत विश्वास, अडिगता, प्रगाढ, व्यापक उदात्त भावानुभूतियो से युक्त जीवन के उदात्त तत्त्व आदि यहाँ नही है । इस शृगार-चित्रण से जीवन की ऐसी उदात्त अनुभूतियाँ प्राप्त नही होती जो महान् जीवन-

निर्माण से सम्बन्ध रखती है। अत प्रेम का यह ऐकान्तिक प्रकाशन यद्यपि स्पृहणीय है, पर बहुत उदात्त नही माना जा सकता।

अब शृगार का एक और चित्र देखिए। 'गोदान' का आरभ प्रेमचन्द ने इस चित्र से किया है—

होरी राम ने दोनो बैलो को सानी-पानी देकर अपनी स्त्री धनिया से कहा—गोबर को ऊख गोडने भेज देना। मै न जाने कब लौटूँ। जरा मेरी लाठी दे दे।

धनिया के दोनो हाथ गोबर मे भरे थे। उपले पाथकर आई थी। बोली—अरे, कुछ रस-पानी तो कर लो। ऐसी जल्दी क्या है ?

'तुझे रस-पानी की पडी है, मुझे यह चिंता है कि कही अबेर हो गई तो मालिक से भेट न होगी। असनान-पूजा करने लगेंगे, तो घटो बैठे बीत जायगा।'

'इसी से तो कहती हूँ, कुछ जलपान कर लो। और आज न जाओगे, तो कौन हरज होगा ? अभी तो परसो गए थे।'

'तू जो बात नही समझती, उसमे टॉग क्यो अडाती है भाई ! जब दूसरो के पाँवो-तले अपनी गर्दन दबी हुई है, तो उन पाँवो को सहलाने मे ही कुशल है।'

धनिया व्यवहार-कुशल न थी। उसका विचार था जिस गृहस्थी मे पेट की रोटियाँ भी न मिले, उसके लिए इतनी खुशामद क्यो ?

उसने परास्त होकर होरी की लाठी, मिरजई, पगडी, जूते और तमाखू का बटुआ लाकर सामने पटक दिये।

होरी ने उसकी ओर आँखे तरेर कर कहा—क्या ससुराल जाना है, जो पाँचो पोसाक लाई है ? ससुराल मे भी तो कोई जवान साली-सलहज नही बैठी है, जिसे जाकर दिखाऊँ ?

'ऐसे ही तो बडे सजीले जवान हो कि साली-सलहजें तुम्हे देखकर रीझ जायेगी !'

'तो क्या तू समझती है कि मै बूढा हो गया ? अभी तो चालीस भी नही हुए। मर्द साठे पर पाठे होते हैं।'

'जाकर सीसे मे मुँह देखो। तुम जैसे मर्द साठे पर पाठे नही होते। दूध-घी अजन लगाने तक को तो मिलता ही नही, पाठे होगे। तुम्हारी दशा देख देख कर तो मैं और भी सूखी जाती हूँ कि भगवान्, यह बुढापा कैसे कटेगा। किसके द्वार भीख माँगेंगे ?'

होरी की वह क्षणिक मृदुता यथार्थ की इस आच मे जैसे झुलस गयी। लकडी सभालता बोला—साठे तक पहुँचने की नौबत ही न आने पायगी धनिया ! इसके पहले ही चल देगे।'

धनिया ने तिरस्कार किया—अच्छा रहने दो, मत असुभ मुँह से निकालो। तुमसे कोई अच्छी बात भी कहे तो लगते हो कोसने।'

होरी लाठी कधे पर रखकर घर से निकला, तो धनिया द्वार पर खडी उसे देर तक देखती रही। उसके इन निराशा-भरे शब्दो ने धनिया के चोट खाये हुए हृदय मे आतकमय कपन-सा डाल दिया था। वह जैसे अपने नारीत्व के सम्पूर्ण तप और व्रत से अपने पति को अभयदान दे रही थी। उसके अन्त करण से जैसे आशीर्वादो का व्यूह-सा निकलकर होरी को अपने अन्दर छिपाये लेता था।"

उदात्त शृगार रस (दाम्पत्य प्रेम) का कैसा भव्य चित्र है! धनिया के प्रेम-पगे-हृदय की ऐसी सजीव झाँकी प्राचीन रीतिवादी शृगारी कवियो मे ढूढे से भी शायद ही मिले। ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ 'सुन्दर युवा नायक-नायिका' वाला परम्परागत आलम्बनत्व भी नही है। उसके अभाव मे भी पति-पत्नी का यह आलम्बन कितना स्पृहणीय है, कितना उदात्त और पवित्र है! जीवन के सघर्ष मे, कष्टो मे भी बढता हुआ यह अटूट प्रेम, जिसमे प्रिय की शत-शत मगल कामनाएँ हैं, नारीत्व का सम्पूर्ण तप और व्रत है, निश्चय ही उदात्त है। यह हृदय मे एक उदात्त प्रेरणा भरता है। हास, शोक, चिन्ता, आशका, आशीर्वाद (मगल-कामना), क्षोभ आदि कितने ही उदात्त सचारी भावो से पुष्ट यह शृगार रस का भव्य उदात्त चित्र है। रीतिकाल के सुन्दर नायक-नायिकाओ के हजारो चित्र इसके आगे पानी भरते हैं।

हमने कई बार इस सम्बन्ध मे विचार किया है, और ईमानदारी की बात है कि शृगार के ऐसे चित्रो के मुकाबिले मे हमे रीतिकाल के ऐकान्तिक, जीवन-औदात्त्य से रहित शृगारिक चित्र—चाहे उनमे अभिव्यक्ति-कला की कितनी ही उच्चता क्यो न हो—फीके लगे है। कामातुरतापूर्ण वर्णनो से जो ऐन्द्रिक उद्वेलन होता है, उसमे ही मजा लेने वालो और उसे शृगार का श्रेष्ठ रूप मानने वालो की बात और है, पर सच्चे अनुभूतिशील प्राणी को हमारे कथन मे पूर्ण सत्य प्रतीत होगा। ऐसे उदात्त जीवन-चित्रो मे यदि बाह्य सौन्दर्य और कलात्मक सौन्दर्य भी मिल जाय तो कहना ही क्या!

बीभत्स रस[1] आकर्षण और विकर्षण, रुचि और अरुचि तथा प्रेम और घृणा मानव की मूल व्यापक प्रवृत्तियाँ है। दृश्यमान् जगत् की जो वस्तुएँ या प्राणी हमारे सम्पर्क मे आते हैं, उनके प्रति हमारा राग पैदा होता है, अर्थात् हमे वे अच्छे लगते है या हमे उनसे अरुचि या घृणा होती है, अर्थात् वे हमे बुरे लगते है। प्रेम या राग से हम किसी वस्तु या प्राणी के प्रति आकृष्ट होते है, रीझते है, उसमे गुण ढूढते

१ इस रस के विस्तृत और सही मनोवैज्ञानिक अध्ययन के लिए हमारा ग्रथ 'बीभत्स रस और हिन्दी साहित्य' देखें।

है, उसकी प्रशसा करते है, उसे अपनाने का—पाने का प्रयत्न करते है, एडी-चोटी का जोर लगाते है और न मिलने पर व्याकुल होते है। इसके विपरीत, घृणा के कारण हम किसी व्यक्ति या वस्तु से दूर हटते है, उसे देखने पर खीझते हैं, उसमे दोष ढूढते है, उसे दूर रखने का प्रयत्न करते है, धिक्कारते है, फटकारते है और यहाँ तक कि उसके विनाश से प्रसन्न होते है। मानव-जीवन-सरसी मे राग-विराग अथवा प्रेम-घृणा की ये दो विरोधी तथापि समजमित तरगे बराबर चलती रहती है। हमारी सामाजिक, नैतिक या धार्मिक धारणाओ तथा आदर्शों के अनुकूल आचरण करने वाले व्यक्ति हमे अच्छे लगते है, किन्तु उन आदर्शों को तोडने वाले, नीति-विरोधी, अत्याचारी-दुराचारी व्यक्ति हमारी घृणा के पात्र बनते है। वास्तव मे प्रेम और घृणा की अनुभूतियाँ हमारे दैनदिन जीवन की सर्वप्रमुख अनुभूतियाँ है। प्रेम की तरह घृणा या जुगुप्सा की भावना भी अत्यन्त प्रबल भाव-वृत्ति है। घृणा मे वह शक्ति है कि जिससे जीवन की दिशा ही बदल जाती है। ससार का माया-जाल, इसमे व्याप्त धूर्त्तता, आडम्बर, झूठ-फरेब, अनाचार-व्यभिचार, भ्रष्टाचार, स्वार्थ, उत्कोच, अन्याय, शोषण आदि बुराइयाँ उदात्त घृणा को ही जगाती है और इससे बहुत बार व्यक्ति का जीवन-क्रम ही बदल जाता है। वस्तुत घृणा का भाव प्रेम या रति के बिल्कुल समकक्ष का भाव है। उसमे प्रेम-जितनी ही तीव्रता है, सभवत उतनी ही व्यापकता है। उसमे अन्य-अन्य भावो को अपने मे सम्मिलित कर लेने की तथा विभावपक्ष की उतनी ही व्यापकता और उदात्तता है जितनी प्रेम मे। जिस प्रकार प्रेम के अनेक आलम्बन होते है, भाई-भाई का प्रेम, मित्र-मित्र का प्रेम, माता-पुत्र व पिता-पुत्र का प्रेम, पति-पत्नी का प्रेम, प्रकृति-प्रेम, देश-प्रेम, और यहाँ तक कि मानव-मानव का प्रेम, उसी प्रकार घृणा-पात्रो (आलम्बनो) की भी कोई सीमा नही। बल्कि घृणा का आलम्बन-प्रसार प्रेम से भी अधिक दिखाई देता है—व्यक्ति-चरित्र के प्रति घृणा, सामाजिक बुराइयो के प्रति घृणा, धार्मिक पाखड, भ्रष्टाचार, अन्याय, अनेक प्रकार के नैतिक पतन और पाप-कर्मो के प्रति घृणा उत्पन्न होती है। यहाँ तक कि कभी-कभी समस्त समाज और सारे जगत् से घृणा प्रकट हो जाती है। मानव-जीवन और यहाँ तक कि स्वीय जीवन से घृणा भी सभव होती है।

किन्तु घृणा या बीभत्सरस का इतना प्राबल्य और महत्व होते हुए भी आश्चर्य है कि प्राचीन आचार्यों ने बीभत्स रस के जीवन-व्यापी रूप पर कुछ विचार नही किया। शृगार रस के सागोपाग विवेचन मे उन्होने जितना अपनी प्रतिभा को लगाया हैं, उसका सहस्राश भी बीभत्स रस को नही मिला। शृगारेतर प्राय सभी रसो का अत्यल्प विवेचन ही आचार्यों ने किया है। बीभत्स रस का तो न वे स्वरूप ही ठीक प्रकार निरूपित कर सके और न लक्षण और उदाहरण ही सही प्रस्तुत कर पाये। उनके द्वारा निरूपित लक्षण और उदाहरण अत्यन्त भ्रातिपूर्ण

हैं। उन लक्षणो और उदाहरणो से बीभत्स रस की कोई स्वतत्र सत्ता रस-रूप मे प्रतीत ही नही होती। प्राय सब आचार्यो का 'विभावानुभाव'-सम्बन्धी लक्षण-निरूपण भरत-अनुसार ही है—उन्ही शब्दो मे नपा-तुला। 'नाट्यशास्त्र' के ही आधार पर आचार्य विश्वनाथ की निम्न पक्तियाँ ही आज तक बीभत्स रस का स्वरूप या लक्षण बताने मे प्रयुक्त होती रही है—

जुगुप्सास्थायी भावस्तु बीभत्स कथ्यते रस ।
नीलवर्णमहाकालदैवतोऽयमुदाहृत ॥ २३९ ॥
दुर्गंधमासरुधिरमेदास्यालम्बन मतम् ।
तत्रैव कृमिपाताद्यमुद्दीपनमुदाहृतम् ॥ २४० ॥
निष्ठीवनास्यवलननेत्रसकोचनादय ।
अनुभावास्तत्र मतास्तथा स्युर्व्यभिचारिण ॥ २४१ ॥
मोहोऽपस्मार आवेगो व्याधिश्च मरणादय । —साहित्यदर्पण

अर्थात् "बीभत्स रस उसे कहते है जिसका स्थायी भाव जुगुप्सा है, वर्ण नील तथा जिसके देवता महाकाल है। इसके आलम्बन दुर्गंधमय मास, रक्त, मेद (चर्बी) है। उनमे कीडे पडना आदि ही इसका उद्दीपन माना जाता है। निष्ठीवन (थूकना), आस्यवलन (मुँह फेरना), नेत्र सकोच (आँखे मूँदना) आदि-आदि इसके अनुभाव है और मोह, अपस्मार, आवेग, व्याधि तथा मरण आदि इसके व्यभिचारी भाव है।"

बीभत्स रस की प्राय यही व्याख्या आज तक विद्वान् करते आ रहे है। प्राय सभी आधुनिक हिन्दी समीक्षको और रस-व्याख्याताओ ने भी इसी प्राचीन परम्परा का अध-अनुकरण किया है। रीतिकाल के लक्षण-ग्रथो मे ही नही, आधुनिक युग के 'रसकलश,' 'साहित्यालोचन', 'नवरस' आदि ग्रथो मे भी बीभत्स रस का यही स्वरूप बताया गया है—प्राय इन्ही शब्दो मे। इस रस का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अब तक अध्ययन नही किया गया था। हमने यह प्रथम प्रयास अपने शोध-प्रबध 'बीभत्स रस और हिन्दी साहित्य' मे किया है।

रस प्रवृत्त्यात्मक होता है, अर्थात् रस-युक्त वर्णन पढने-सुनने या देखने मे हमारी बार-बार प्रवृत्ति होती है। क्या हम रक्त-मास-मज्जा आदि दुर्गंधयुक्त वस्तुओ को देखने के लिए प्रेक्षागृह मे जाना पसद करेगे? खेद है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे रस सिद्ध आचार्य ने भी बीभत्स रस का अवलोकन युद्ध-भूमि अथवा श्मशान मे पडे हुए शवो, कटे हुए कबधो आदि मे ही किया है। जायसी के 'पद्मावत' का अध्ययन करते हुए उन्होने भी युद्धभूमि मे मृत शरीरो को नोचने वाले गीधो-गीदडो आदि के मास-भक्षण मे ही बीभत्स रस का उदाहरण ढूँढा है। आश्चर्य है कि राजा कुभलनेर और उसकी कुटनी तथा अलाउद्दीन के घृणित कृत्यो और चरित्रो मे उन्हे

बीभत्स रस का अनुभव नही हुआ। यही बात बीभत्स रस पर विचार करने वाले हिन्दी के अन्य सब आलोचको के बारे मे कही जा सकती है।

अब तक विद्वान् जुगुप्सा के स्वरूप को केवल वस्तुगत ग्लानि के रूप मे ही ग्रहण करते रहे है। वस्तुगत ग्लानि का सम्बन्ध शारीरिक अनुभूति तक ही सीमित रहता है। जैसे, मास-मज्जा-रुधिर को देखकर घ्राण आदि इन्द्रियाँ विकल हो जाती है। किसी वैष्णव को लहसुन-मास आदि खाना तो दूर, देखने-मात्र से मतली होने लगती है। खाना खाते हुए यदि हमारे सामने गदे-मैले की मोटर आ जाय, तो उसकी बदबू से इन्द्रिय विकलता का अनुभव करते हुए हम खाना छोडने को तैयार हो जाते है। घ्राण-नेत्र आदि पर आधारित यह ग्लानि काव्यगत स्थायी भाव नही मानी जा सकती। हमने पहले ही निवेदन किया है, स्थायी भाव उदात्त स्पृहणीय वृत्ति है। इन स्थूल दुर्गंधयुक्त वस्तुओ मे आस्वाद्यता का नितान्त अभाव है। जैसे गली-सडी बदबूदार वस्तुओ को हम प्रत्यक्ष देखना या सूघना नही चाहते, वैसे ही काव्य मे उनका वस्तुगत स्थूल चित्रण पढने या देखने मे आनन्द अनुभव नही कर सकते।

काव्यानन्द लौकिक अनुभूति नही है। वस्तुगत ग्लानि का अनुभव शारीरिक होने से लौकिक ही है। अत स्थूल वस्तुगत ग्लानि बीभत्स रस का स्थायी भाव नही हो सकती। मानसिक घृणा ही स्थायी भाव है। वस्तुगत ग्लानि या जुगुप्सा तभी रसदशा को प्राप्त होगी जबकि वह मानसिक घृणा से सम्बद्ध होगी। कोई व्यक्ति मैले-कुचैले कपडे पहने हो, तो उसके प्रति अधिक-से-अधिक शारीरिक ग्लानि ही उत्पन्न होगी। अब यदि हमे पता चला कि वह अत्यन्त कजूस है, लाखो रुपये जमीन मे गाडे रखता है, न आप खाता-पहनता है, न घर वालो को खाने-पहनने को देता है, तो वह हमारी मानसिक घृणा का पात्र होगा। उसका इस रूप मे चित्रण ही रसानुभूति का विषय होगा। शारीरिक ग्लानि इस मानसिक घृणा के साथ सचारी बन जायगी। अत मानसिक घृणा ही बीभत्स रस का स्थायी भाव मानना चाहिए, क्योंकि इसमे ही उदात्तता है, यही स्पृहणीय और आस्वाद्य है। शारीरिक ग्लानि केवल सचारी भाव है। आचार्यो ने इस शारीरिक ग्लानि को ही स्थायी भाव मानने की भूल की है।

विद्वानो को काव्य मे जहाँ-कही मास-मज्जा-रक्त-कबन्ध आदि का वर्णन मिला है, वही बीभत्स रस का उदाहरण मानने की उन्होने भूल की है। बीभत्सता को ही बीभत्स रस मानने की बहुत भूल हुई है। कोई दृश्य बीभत्स अर्थात् बुरा-भद्दा या सडाधयुक्त हो सकता है, पर यह आवश्यक नही कि वह बीभत्स रस की अनुभूति कराये। रक्त और मास मे बीभत्सता ही नही बल्कि बीभत्स रस बताने की प्रवृत्ति से ही प्रभावित होकर डा० रामकुमार वर्मा ने सूफी प्रेम-काव्य मे रस पर विचार करते हुए कहा है—"प्रेम-काव्य के वियोग-शृगार मे कही-कही बीभत्स

चित्रावली के भी दर्शन हो जाते है। मास और रक्त का वर्णन तो विरह-वर्णन मे अवश्य ही रहता है। हिन्दू-दृष्टिकोण मे शृगार रस के स्थायी भाव रति से मास और रक्त की भावना का सामजस्य हो ही नही सकता। अत शास्त्रीय दृष्टिकोण से प्रेम-काव्य मे रस-दोष आ जाता है। **शत्रु और मित्र रस समान रूप से साथ प्रस्तुत किये जाते है।**"[1]

सूफी वियोग-वर्णन मे रक्त-मास के उल्लेख से बीभत्स रस कैसे प्रकट हो गया, यह बहुत सोचने पर भी हमारी समझ मे नही आ सका। बीभत्सता तक ही बात रहती तो भी था, पर बीभत्स रस मानना सर्वथा अयुक्त है।

आचार्यों के बीभत्स रस-सम्बन्धी आलम्बन सर्वथा अमनोवैज्ञानिक है। इन प्राचीन आलम्बनो को स्वीकार करने मे एक और कठिनाई यह है कि आज के युग मे हम जीवन की यथार्थता अर्थात् जीवन के यथार्थ रूप को ही अपनी अनुभूति का विषय बना सकते है। रक्त-मासादि का भक्षण करने वाले पिशाच और पिशाचिनियो का आज के जीवन मे अस्तित्व ही नही है। आज भी समाज मे पिशाच है—खून चूसने वाले पिशाच, मास नोचने वाले गीध है, पर निश्चय ही वे उन पुराने पिशाचो से भिन्न रूप मे अपना आलम्बनत्व सिद्ध करते है। ये शोषक-पिशाच वास्तविक मानसिक घृणा जगाते है। उनका आलम्बनत्व उदात्त भावानुभूति का विषय बनता है। अत प्राचीन स्थूल आलम्बनो के स्थान पर इन मानसिक आलम्बनो को ही बीभत्स रस के आलम्बन समझना चाहिए। बीभत्स रस के आलम्बनो की कोई इयत्ता नही। घृणित आचरण वाला कोई व्यक्ति, कोई भी घृणित कर्म अथवा घृणित सामाजिक, धार्मिक रूढ परम्पराये या रीति-रिवाज आदि बीभत्स रस के आलम्बन हो सकते है। व्यक्ति की दृष्टि से जैसे देश-सेवक, राष्ट्रनायक, सुधारक, सदाचारी, परोपकारी आदि सद्गुणी व्यक्ति हमारी श्रद्धा, प्रेम अथवा प्रशसा के भाजन बनते है, उसी प्रकार देश द्रोही, दुराचारी, दुष्ट, लम्पट, झूठे, पाखण्डी, विलासी, वेश्यागामी, मानव-शोषक, पुरातनपथी, रिश्वतखोर, स्वार्थी, क्रोधी, व्यभिचारी आदि अनेक प्रकार के दुर्गुणी व्यक्ति हमारी घृणा और निन्दा के पात्र होते है। मुझे लगता है कि बीभत्स रस का आलम्बन-पक्ष शृगार, करुण आदि किसी भी रस से कम व्यापक नही है, अधिक विस्तृत चाहे हो।

प्राचीन आचार्यो ने अपनी स्थूल रक्त-मास वाली सीमित धारणा के कारण ही दुर्गंधयुक्त मासादि मे कीडे पडने आदि को ही बीभत्स रस का उद्दीपन-विभाव कहा है। परन्तु हमे आचार्यों की यह धारणा अमान्य है। बीभत्स रस के मानसिक

---

१ **डा० रामकुमार वर्मा हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ४७५ (द्वि० स०)**

स्थायी भाव का उद्दीपन भी केवल स्थूल नही माना जा सकता। कीडे-पडी वस्तुएँ लौकिक घिन का ही विषय होती हैं। वास्तव मे बीभत्स रस के आलम्बन अर्थात् दुराचारी, दुष्ट दुर्गुणी व्यक्तियो के अनेकानेक दुर्गुण, दुराचरण और बीभत्स चेष्टाएँ ही उसके अन्तरग उद्दीपन होगे। बीभत्स रस मे जो कारण आलम्बनत्व बनाते हैं, उन्ही की अधिक मात्रा उद्दीपन सिद्ध होती है। जैसे, यदि कोई व्यभिचारी किसी अबला पर बलात्कार करता है तो उसका आलम्बनत्व यद्यपि पुष्ट है, तो भी यदि वह अपनी कामवासना की पूर्ति मे इतना निर्दय हो जाता है कि वह उसे जान से ही मार डालता है, तो उसके इस और दुष्कृत्य मे हमारी घृणा और भी उद्दीप्त होगी। दुष्कृत्यो की जितनी मात्रा बढती जायगी, हमारी घृणा भी उतनी ही उद्दीपित होती जायगी। इस अन्तरग उद्दीपन-विभाव के अतिरिक्त बाह्य उद्दीपन, अन्तरग विभाव के आधार बिना, अपने मे स्वय घृणा का विषय या उद्दीपन नही बन सकते। ये बाह्य उद्दीपन भी कई रूपो मे प्रकट होते है—आलम्बन की विद्रूपता, विद्रूप चेष्टा, गन्दे कपडे आदि, बाह्य वातावरण, जैसे चकले की गन्दी गली या वेश्या या मद्यप का दुर्गंधपूर्ण कमरा या अन्य वस्तु आदि। एक उदाहरण से स्पष्ट करे। एक विलासी-व्यभिचारी व्यक्ति के कमरे मे एक कवि जाता है। वहाँ वह उक्त व्यक्ति का शराब मे धुत तथा विलासिता मे मग्न देखता है। कवि की उसके प्रति घृणा उद्दीप्त होती है। यदि कवि को पता चलता है कि उस पिशाच ने एक भोली-भाली लडकी को कैद कर रखा है, तो कवि की घृणा इस अन्तरग उद्दीपन-विभाव से और भी उद्दीप्त होगी। उस कमरे मे टगे नारियो के नगे चित्र, उस विलासी की विकृत आकृति, तथा शराब आदि की बदबू बाह्य उद्दीपन-विभाव होगे और ये भी उसके प्रति कवि की घृणा को बढायेगे। इन नगे चित्रो तथा विकृत आकृति आदि का सम्बन्ध भी अन्तरग उद्दीपन-विभाव से स्पष्ट है।

जिस प्रकार आह्लादक-सुन्दर प्राकृतिक दृश्य तटस्थ रूप मे आलम्बन बन जाते है, और प्रकृति का तटस्थ आलम्बनगत चित्रण आह्लादक होने से रसानुभूति का विषय बन जाता है, उसमे आकर्षण रहता है, उस प्रकार विकृत, भोडे दुर्गंधयुक्त बीभत्स दृश्य अपने तटस्थ रूप मे आह्लादक नही हो सकते, क्योकि इनमे हमारा मन नही रम सकता।

बीभत्स रस मे अनुभावो की भी सीमा नही। वाचिक अनुभावो के रूप मे वाणी से फटकार, धिक्कार, 'शी शी,' 'छि छि' की ध्वनि, अपशब्द (गाली देना), अभिशप्त करना, व्याज-स्तुति, व्यग्योक्ति, निन्दा करना आदि अनेक रूपो मे वाचिक अनुभाव के रूप मे तथा दूर हटना, भागना, घृणित कार्य से रोकने के लिए हाथ उठाना, नाक-भौ चढाना, नाक बन्द करना, थूकना, कान पर हाथ रखना, आँखे मूँदना, आँखें फेर लेना, ठोकर मारना, धकेलना, घृणित वस्तुओ को नष्ट करना (जैसे, शराब के घडे फोड देना), सामाजिक बुराइयो को समाप्त करने के लिए भाग-दौड

आदि अनेक रूपो मे बीभत्स रस के शारीरिक अनुभाव प्रकट हो सकते है । इसी प्रकार प्राय सभी सात्त्विक अनुभाव भी बीभत्स रस मे प्रकट हो सकते हैं, जैसे आश्चर्य-मिश्रित घृणा से स्तभ, भयमिश्रित घृणा से कप, रोमाच, घृणा के आलम्बन की समाप्ति पर हर्ष उत्पन्न होने से भी रोमाच हो सकता है, घृणा-पात्र को फटकारने मे आवेश के कारण स्वर-भग, कप आदि, आत्मग्लानि (अपने कुकर्म पर आत्मग्लानि को हमने घृणा का ही विषय माना है) मे लज्जा के कारण विवर्णता, आत्मावमानना और पश्चात्ताप की रुलाई मे अश्रु आदि सात्त्विक अनुभाव सहज सभव है । इनके अतिरिक्त किसी व्यक्ति की घृणित बातो के सुनने मे अरुचि के कारण ऊबाहट से जभाई लेना, घृणा से भरकर जी मतलाना, उबकाई आना आदि अन्य मानसिक अनुभाव भी प्रकट होते है ।

बीभत्स रस मे सचारी भावो की भी कोई सीमा नही । मोह, प्रेम आदि एकाध सचारी को छोडकर प्राचीन आचार्यो के सभी सचारी भाव बीभत्स रस मे प्रकट हो सकते है । प्राचीन आचार्यो ने मोह का अभिप्राय 'चित्त की विकलता' लेकर उसे बीभत्स रस का सचारी बताया था, परन्तु हमे मोह का परम्परागत लक्षण अमान्य है । मोह से अभिप्राय है अध-आकर्षण या अध-अनुराग । अनुराग का घृणा से विरोध होने के कारण, मुझे मोह सचारी की उपस्थिति बीभत्स रस मे सभव प्रतीत नही होती । शेष सब सचारी बीभत्स रस मे प्रकट हो सकते है । बीभत्स रस की व्यापकता मे क्या सदेह हो सकता है ? इतने सचारी भाव शृगार को छोडकर शायद ही अन्य किसी रस मे प्रकट हो सकते हो ।

बीभत्स रस के बारे मे एक यह भ्राति भी प्रचलित है कि इसका चित्रण साहित्य मे कम होता है । इस भ्राति का कारण भी इस रस के बारे मे वही परम्परागत दृष्टिकोण ही है । वास्तव मे बीभत्स रस का प्रकाशन साहित्य मे प्रचुर मात्रा मे मिलता है । आधुनिक युग मे तो जीवन के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण होने के कारण, समाज और जीवन की अनेक समस्याओ का चित्रण साहित्य मे हुआ है, हो रहा है । अत सामाजिक विकृतियो के रूप मे घृणा का प्रसार आधुनिक साहित्य की विशेषता ही है । हमारे लेखको ने समाज की गली-सडी रूढियो, दूषित परम्पराओ तथा भिन्न-भिन्न सामाजिक, धार्मिक तथा सास्कृतिक बुराइयो एव वैयक्तिक दूषित मनोवृत्तियो को आधुनिक साहित्य मे उभार कर रख दिया है । समाज और जीवन की समस्त बुराइयो के प्रति उनकी घृणा फूट निकली । अत हमारे आधुनिक साहित्य मे बीभत्स रस का खूब चित्रण हुआ है । समाज के भिन्न-भिन्न पहलुओ, अनेक अगो तथा जीवन की अनेक समस्याओ का अध्ययन बीभत्स रस के अध्ययन से हो जाता है । प्रेमचन्द-जैसे सामाजिक कथाकारो का बीज भाव घृणा ही है । उन्होने जीवन की सैकडो समस्याएँ और उनके भिन्न-भिन्न रूप इस घृणा भाव के आश्रय ही प्रकाशित किये है । हमारे प्राचीन आचार्य जीवन की भिन्न-भिन्न परिस्थितियो

मे बीभत्स रस का अवलोकन नही कर सके थे। मानवता-शोषी बुराइयो के प्रति पाठक के मन मे घृणा जगाकर उनके उन्मूलन की प्रेरणा देना ही यथार्थवादी साहित्य का उद्देश्य बनता है। इससे स्पष्ट है कि बीभत्स रस जीवन-निर्माण की अद्भुत उपयोगी शक्ति रखता है। रस-सिद्धात के विरोधियो को हम बता देना चाहते है कि आज के साहित्य की परख के लिए—उसमे व्यक्त जीवन की अनेक धाराओ को परखने के लिए उदात्त रस का मानदण्ड पूर्ण समर्थ है।

अब बीभत्स रस के उदात्त रूप के एक-दो उदाहरण केवल प्रेमचन्द के 'गोदान' से ही देकर हम इस विषय को समाप्त करेगे। प्रेमचन्द की अतिम और सर्वश्रेष्ठ रचना 'गोदान' महाजनी शोषण, जमीदारी शोषण, धार्मिक शोषण और वर्ग-विषमता की मुँह-बोलती तस्वीर है। 'गोदान' कृषक-जीवन की अत्यन्त करुण कहानी है। करुण परिस्थितियाँ अधिकतर शोषण, अत्याचार और अन्याय का परिणाम है। अत इस उपन्यास मे यद्यपि प्रधान रस करुण ही है, किन्तु उसके साथ-साथ बीभत्स रस की व्याप्ति भी आद्योपात है। इसमे अनेक प्रकार के अनेक आलम्बन है। गरीबो का शोषण करने वाले, बेगार लेने वाले तथा अपने धनुष-यज्ञ आदि धार्मिक या सामाजिक विनोद के लिए गरीबो से जबरदस्ती चन्दा लेने वाले रायसाहब अमरपाल सिह, उनके बेईमान, आचार-भ्रष्ट और गरीबो पर अत्याचार करने वाले, लगान-वसूली की रसीद न देकर दोबारा वसूली चाहने वाले, गरीबो से बेगार लेने और दरपर्दा व्यभिचार करने वाले नोखेराम-जैसे कारिन्दे, मगरू शाह, पडित दातादीन तथा झिगुरी सिह जैसे निदयी सूदखोर, पटेश्वरी-जैसे स्वार्थी और लोभी पटवारी, परम्परापथी अन्यायी और स्वार्थी पच, रिश्वतखोर, स्वार्थी और अन्यायी पुलिस दारोगा, धर्म की ओट मे शोषण करने वाले, चालबाज तथा छुआ-छूत और ऊँच-नीच मानने वाले स्वार्थी पडित दातादीन और उनके लम्पट पुत्र मातादीन, किसानो की ऊख कम तोलने वाले, मजदूरो का शोषण करने वाले और रसिक-लम्पट बेईमान मिल मालिक खन्ना, तिलकधारी ढोगी और लम्पट ब्राह्मण, काश्मीरी गपडू की स्वच्छन्द लडकियाँ, स्वार्थी और दुर्बल-प्रकृति पत्रकार ओकारनाथ आदि अनेक पात्र घृणा के पूर्ण आलम्बन है। इन विविध आलम्बनो से इस उपन्यास का दूसरा प्रमुख रस बीभत्स रस ही ठहरता है। जबरदस्ती बेगार लेने वाले राय-साहब का एक बीभत्स रूप देखिए। एक चपरासी रायसाहब से आकर कहता है कि "बेगारो ने काम करने से इनकार कर दिया है, कहते है, जब तक हमे खाने को न मिलेगा, हम काम न करेगे"।

"राय साहब के माथे पर बल पड गए। आँखे निकाल कर बोले—चलो, मैं उन दुष्टो को ठीक करता हूँ। जब कभी खाने को नही दिया गया, तो आज यह नई

बात क्यो ? एक आने रोज के हिसाब से मजूरी मिलेगी, जो हमेशा मिलती रही है, और इस मजूरी पर उन्हे काम करना होगा, सीधे करे या टेढ़े"[1] ।

हीरा ने ईर्ष्यावश होरी की गाय को जहर दे दिया और स्वय भाग निकला । पुलिस दारोगा तो ऐसे अवसरो की तलाश मे ही होते है, खबर पाते ही आ धमके ! उन्हे तहकीकात से क्या गरज, अपना हलुआ-मादा बनाने से ही मतलब है । होरी से पैसा ऐंठने के लिए दारोगाजी तलाशी लेने की बात चलाते है । दब्बू होरी अपनी मरजाद रखना चाहता है । गाँव के पच भी लूट-खसूट मे दारोगा के साथ लग जाते है । वे होरी को कहते है कि निकालो जो कुछ देना हो, यो गला न छूटेगा । पर बेचारा होरी दे तो कहाँ से ? जहर खाने को भी उसके पास एक पैसा नही । पचो मे सलाह होती है, और दारोगा को देने के लिए तीस रुपये होरी को उधार दे दिए जाते है । इनमे आधा हिस्सा चार पचो का ठहरा । होरी ने रुपये लिए और अगौछे के कोने मे बाँध, प्रसन्न-मुख आकर दारोगा जी की ओर चला ।

'सहसा धनिया झपटकर आगे आई और अगोछी एक झटके के हाथ उसके हाथ से छीन ली । सारे रुपये जमीन पर बिखर गए । नागिन की तरह फुकार कर बोली—ये रुपये कहाँ लिये जा रहा है, बता । भला चाहता है, तो सब रुपये लौटा दे, नही कहे देती हूँ । घर के परानी रात-दिन मरे और दाने-दाने को तरसे, लत्ता भी पहनने को न मयस्सर हो और अँजुली भर रुपये लेकर चला है इज्जत बचाने । दारोगा तलासी ही तो लेगा । ले-ले जहाँ चाहे तलासी । एक तो सौ रुपये की गाय गयी, उस पर यह पलेथन ! वाहरी तेरी इज्जत !"

"होरी खून का घूँट पीकर रह गया । सारा समूह थर्रा उठा । नेताओ के सिर झुक गए और दारोगा का मुँह जरा-सा निकल आया । अपने जीवन मे उसे ऐसी लताड न मिली थी । मगर दारोगा जी इतनी जल्द हार मानने वाले न थे । खिसियाकर बोले—मुझे ऐसा मालूम होता है, कि इस शैतान की खाला ने हीरा को फँसाने के लिए खुद गाय को जहर दे दिया ।

"धनिया हाथ मटकाकर बोली—हाँ, दे दिया । अपनी गाय थी, मार डाली, फिर ? तुम्हारे तहकियात मे यही निकलता है, तो यही लिखो । पहना दो मेरे हाथो मे हथकडियाँ । देख लिया तुम्हारा न्याव और तुम्हारे अक्कल की दौड । गरीबो का गला काटना दूसरी बात है, दूध का दूध और पानी का पानी करना दूसरी बात ।"

"नेताओ ने रुपये चुनकर उठा लिये थे और दारोगा जी को वहाँ से चलने का इशारा कर रहे थे । धनिया ने एक ठोकर और जमाई—जिसके रुपये हो ले जाकर उसे दे दो । हमे किसी से उधार नही लेना है । और जो देना है तो उसी से लेना । मै दमडी भी न दूगी, चाहे मुझे हाकिम के इजलास तक ही चढना पडे । हम

---

१ गोदान पृ० १८ (दसवा सस्करण १९४९ ई०) ।

बाकी चुकाने को पचीस रुपये माँगते थे, किसी ने न दिया। आज अजुन भर रुपये ठनाठन निकाल दे दिये। मैं सब जानती हूँ। यहाँ तो बाँट-बखरा होने वाला था। सभी के मुँह मीठे होते। ये हत्यारे गाव के मुखिया है, गरीबो का खून चूसने वाले। सूद-बयाज, डेढी सवाई, नजर-नजराना, घूस-घास जैसे भी हो, गरीबो को लूटो।"[१]

इस उद्धरण मे रिश्वतखोर बेईमान दारोगा और गाँव के पचो की काली करतूतो का सजीव चित्र उपस्थित हुआ है और बीभत्स रस की पूण व्यजना होती है। होरी की पत्नी धनिया आश्रय है, दारोगा और पच आलम्बन। दारोगा और पचो की गाँठ साँठ, दारोगा-द्वारा धनिया को धमकाना आदि उद्दीपक कार्य है। धनिया का झपटना, हाथ मटका कर फटकारना आदि शारीरिक तथा धिक्कारपूर्ण कथन वाचिक अनुभाव है। अमर्ष, क्रोध, व्यग्य, धीरता, साहस आदि सचारी भी स्पष्ट है।

उपर्युक्त सभी आलम्बनो से बीभत्स रस की पूर्ण व्यजना इस उपन्यास मे स्थान-स्थान पर पाई जाती है। घृणा के अनेक रूप—व्यग्य-मिश्रित घृणा, जैसे झुनिया-द्वारा एक पण्डित जी के साथ आपबीती सुनाने का प्रसग, हास्यपूर्ण घृणा, जैसे गोबर और गाँव के अन्य युवको द्वारा नोखेराम आदि की नकले रचकर खिल्ली उडाना, गोबर और धनिया की अनेक उक्तियो मे क्षोभपूर्ण घृणा आदि—'गोदान' मे चित्रित हुए है।

आदि कवि बाल्मीकि का आदि श्लोक शोक का नही, घृणा का उदाहरण है। आदि कवि का निम्न श्लोक आज तक विद्वानो द्वारा शोक या करुण रस का उदाहरण माना जाता है—

'मा निषाद प्रतिष्ठा त्वमगम शाश्वती समा।
यत् क्रौचमिथुनादेकमवधी काममोहितम्।।"

अर्थात् रे व्याध, तुझे अनन्तकाल तक कभी भी ससार मे प्रतिष्ठा न मिले, तूने काममोहित क्रौच पक्षी के जोडे मे से एक के बध का जघन्य कार्य किया है। इस श्लोक को करुण रस का उदाहरण मानना भ्राति ही है। वास्तव मे इस श्लोक मे ऋषि-द्वारा व्याध की भर्त्सना ही व्यजित हुई है। यहाँ आलम्बन व्याध है। करुण रस का उदाहरण तभी होता, यदि आदि कवि की दृष्टि क्रौंच-बध पर केन्द्रित होती। अत यद्यपि करुणा भी साथ मे है, पर श्लोकगत अभिव्यक्ति घृणा की ही हुई है। यदि कोई यह समझे कि करुणा ही भर्त्सना का आधार है, इसलिए करुण रस माना गया है, तो भी ठीक नही। प्रश्न उठता है कि यदि व्याध का तीर क्रौच पक्षी को न लगता, निशाना चूक जाता और पक्षी का बध न होता तो क्या ऋषि की अनुभूति न जगती? क्या उस सूरत मे श्लोक न फूटता? क्या करुणा के

---

१ वही, पृ० १५३।

कारण ही श्लोक फूट निकला है ? हमारा निश्चित मत है, क्रौंच-वध के अभाव मे करुणा न जगने पर भी सहृदय ऋषि की फटकार अवश्य ही व्यजित होती । व्याध को नशाना लगाते देखना—बध का जघन्य काय करते देखना, कार्य का उपक्रम देखना ही घृणा व्यजित करने के लिए पर्याप्त अवसर था, अत ऋषि की यह फटकार अवश्य ही श्लोक बनकर फूट निकलती । हाँ, अवश्य फूट निकलती, क्योकि निश्चय ही ऋषि सहृदय है और उनकी दृष्टि मे पक्षी को मारना भी बुरा है और मारने का प्रयत्न करना भी जघन्य है । अत कारुणिक परिणाम के अभाव मे ऋषि का घृणा भाव ही व्यजित होता । ऋषि ने इस श्लोक मे व्याध को अभिशप्त किया है । अत यहाँ उनकी घृणा क्षोभयुक्त है । क्रोध का उग्र रूप उसमे नही, क्योकि ऋषि ने क्षुब्ध होकर ही शाप दिया है ।

इस प्रकार बीभत्स रस के उदात्त स्वरूप का स्पष्ट परिचय हुआ होगा । इस रस के चित्रण से काव्य साहित्य मे स्वत ही उदात्तता आती है, क्योकि मानसिक घृणा का सम्बन्ध अनिवार्य रूप से हमारे नैतिक आदर्शो से होता है । इस रस का महत्व कौन झुठला सकता है ?

वीर रस—वीर रस की उदात्तता मे किसे सदेह हो सकता है ? इसका उदात्त रूप स्पष्ट ही है । इसका आलम्बन-पक्ष और आश्रय-पक्ष दोनो ही उदात्त होते है । वीर रस आश्रय-प्रधान होता है, क्योकि इसमे काव्यगत आश्रय की स्थिति आवश्यक होती है और आलम्बन की अपेक्षा सहृदय का ध्यान अधिकतर आश्रय के कर्मो पर रहता है । काव्यगत आश्रय से हमारा तादात्म्य रहता है । वीर रस के स्थायी भाव मे उदात्तता स्पष्ट ही रहती है । किसी असाधारण सत्कम मे साहसपूर्ण उत्साह ही वीर रस का स्थायी भाव है । इसमे कर्म की असाधारणता और उच्चता आवश्यक है । प्राचीन आचार्यो ने केवल उत्साह को ही वीर रस का स्थायी भाव बताया था, उसके साथ साहस की बात स्पष्ट शब्दो मे नही कही थी, परन्तु उनके उत्साह का स्वरूप साहसपूर्ण उत्साह ही है । अत केवल उत्साह स्थायी भाव नही है, साहस के मिश्रण से ही वह स्थायी भाव बनता है । डाकुओ और चोरो के साहसपूर्ण कर्म वीरता का विषय नही कहला सकते, क्योकि वीरता सदा सत्कर्म-सापेक्ष होती है । मामूली-मामूली बातो पर तलवार खीच लेने वाले, आपस मे यो ही झगडते रहने वाले राजपूतो की वीरता का यह रूप कदापि प्रशसनीय नही हो सकता । 'पृथ्वीराज-रासो' मे पृथ्वीराज के चाचा जब अन्य वश के व्यक्ति को अपने सामने मूछो पर ताव देते देखते है तो उसका सिर ही धड से उडा देते है । यह कहाँ की वीरता है ? किसी अबला या निर्बल प्राणी पर प्रदर्शित की गई वीरता भी प्रशसनीय नही । इसीसे हमारी प्राचीन युद्ध-नीति मे स्त्री, ब्राह्मण, सोये हुए या निहत्थे प्राणी पर प्रहार या उन से युद्ध करना वर्जित था । शत्रु-पक्ष को चुनौती देकर युद्ध करना ही

उत्तम वीरता का लक्षण माना जाता था। साराश यह कि स्थायी भाव साहसिक उत्माह का उदात्त रूप सत्कर्मो के प्रति ही प्रकट हो सकता है।

इस उत्साह का आलम्बन मुख्य रूप से कर्म है। उस कर्म से सम्बन्धित व्यक्ति भी आलम्बन होता है, और कर्म भी। जैसे, युद्ध-वीर मे आक्रमणकारी शत्रु और उसके आक्रमण का प्रतिकार-रूप कर्म दोनो ही आलम्बन रहेगे। असाधारण कर्मो की कोई सीमा नही है। इन कर्मो के आलम्बन की विविधता के ही कारण वीर रस के भी कई रूप हो सकते है। प्राचीन आचार्यो ने युद्ध-वीर, दया-वीर, दान-वीर और धर्म-वीर ये चार भेद किये है। दया वीर और दान वीर प्राय समानता लिये हुए है। कर्म वीर यद्यपि ये सब होते है, पर कर्म पर अधिक बल होने से कर्म वीर अलग भेद माना जा सकता है। युद्ध-वीरता मे प्रतिनायक और उससे प्रतिकार का कर्म आलम्बन होता है, दया वीर मे दुखी असहाय प्राणी तथा उनकी सहायता और सेवा का कर्म आलम्बन बनता है, धर्म की रक्षा के लिए जो वीर अपना बलिदान तक दे देते है, उन्हे धर्म-वीर कहा जा सकता है। ऐसे वीरो के सामने धर्म की रक्षा का गुरुतर कर्म ही आलम्बन होता है। किसी असाधारण कर्म की सिद्धि मे जो प्राणी अपनी जान जोखम मे डालकर सतत लगा रहता है, वह कर्मवीर कहा जाता है, जैसे ऊँची-ऊँची पर्वत-चोटियो पर चढना, भयानक अज्ञात स्थानो की खोज के लिए निकलना आदि। वीर रस के ये सब आलम्बन उदात्त होते हैं, अर्थात् हमारी उदात्त उत्साह-वृत्ति को जगाते हैं, हम मे कठिनाइयो, सकटो तथा अन्याय-अत्याचारो का सामना करने का उत्साह एव साहस भरते हैं। जो कार्य हमारे पुरुषत्व को चुनौती देते है, वे सब वीर रस के आलम्बन बनते हैं। उच्च स्वाभिमान की रक्षा का प्रयत्न भी वीरता के अन्तर्गत आयगा।

सचारियो मे गर्व एक प्रबल भाव है। वीर रस के सचारी-रूप मे इसका बहुत सुन्दर आगमन होता है। इसके कुछ उदाहरण प्रस्तुत करता हूँ। उर्दू के प्रसिद्ध कवि गालिब के बारे मे कहा जाता है कि उनमे गर्व या स्वाभिमान की भावना खूब थी। सन् १८४२ की बात है, दिल्ली कॉलेज, दिल्ली मे फारसी के प्रोफेसर की नियुक्ति होनी थी। इस स्थान के लिए मिर्जा गालिब को बुलाया गया। गालिब पालकी मे सवार होकर सेक्रेट्री मि० टॉमसन की कोठी पर पहुँचे और अपने आने की सूचना दी। साहब ने तुरन्त बुला लिया, मगर मिर्जा गालिब पालकी से उतर कर इसी इन्तजार मे ठहरे रहे कि सेक्रेटरी साहब खुद स्वागत करते हुए लेने आयेगे। मगर साहब न लेने आए और न ही मुलाकात के बाद पालकी तक छोडने आये। गालिब के स्वाभिमान को ठेस पहुँची और इसी कारण उन्होने नौकरी से जवाब दे दिया।

श्री पृथ्वीनाथ शर्मा की कहानी 'उदय-अस्त' का एक उदाहरण और लीजिए। इस कथा मे कलाकार के स्वाभिमान का बहुत भव्य चित्रण हुआ है। कलाकार कमलेश्वर बीमारी और दरिद्रता की अत्यन्त दारुण अवस्था मे मृत्यु-शय्या पर पडा

है। फिर भी वह अपनी कला के प्रशसको या किसी अन्य व्यक्ति से सहायता-स्वरूप एक पैसा भी स्वीकार नही करता। इच्छा न होते हुए भी, वह अपने प्राणो से भी प्रिय दो चित्रो को बेचने पर विवश होता है, सहायता-रूप मे कुछ नही लेता। इस कथा को पढने पर मेरे मन मे प्रश्न उठा कि कलाकार का यह स्वाभिमान, जो इतनी रसदशा तक पहुँचा हुआ है, क्या स्वतन्त्र रूप से रस नही माना जा सकता ? इस गर्व या स्वाभिमान का आलम्बन बनता है कोई ऐसा विषय या प्रसग, जिसमे हमारी दूसरो के सामने हेठी होने की सभावना हो, जैसे गालिब के मन मे यह विचार कि लाट साहब ने हमारा आवश्यक स्वागत नही किया, क्या वह हमे अपना नौकर समझने की भूल मे है ? पालकी तक छोडने भी न आना उद्दीपन का कार्य करता है। हम किसी के गुलाम नही, लाट होगा अपने घर का, हम अपने राजा आप हैं। ऐसी नौकरी पर लानत है जो दूसरो की नजर मे हमे हेठा बना दे। इस मानसिक स्थिति मे गालिब नौकरी ठुकरा देते है। सचारी के रूप मे ग्लानि, मति, सन्देह, शोक आदि भाव भी इस प्रसग मे आ सकते है। इस प्रकार स्वाभिमान या गर्व का यह रूप स्वतत्र रस-सा प्रतीत होता है। परन्तु जरा विचारपूर्वक देखे तो स्वाभिमान या गर्व का यह भाव वीररस का ही विषय है। गालिब बडे साहस के साथ स्वाभिमान की रक्षा करते है और नौकरी स्वीकार करने से जवाब दे देते है। यद्यपि कलाकारो का यह स्वाभिमान स्वतत्र-सा प्रतीत होता है, क्योकि यही स्पष्ट रूप मे सामने आता है, किन्तु उनका स्वाभिमान उनकी वीर मनस्वी आत्मा का ही द्योतक है, जो उन्हे वीर सिद्ध करता है। अत उक्त स्वाभिमान को वीर रस का ही विषय मानना चाहिए। इस प्रकार का गर्व और स्वाभिमान वीरो मे खूब पाया जाता है। वे आत्महानि की परवा न करके अपनी आन-बान को रखते है। उस पर आँच नही आने देते।

वीर रस के स्थायी भाव उत्साह की व्याख्या आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'उत्साह' नामक निबध मे बहुत सुन्दर की है। उत्साह के उदात्त रूप का उससे पूर्ण स्पष्टीकरण हो जाता है। वीर रस मे कर्म-सौन्दर्य की उदात्तता को शुक्ल जी ने खूब अनुभव किया है। वीर रस सत्कम-प्रधान होने से समाज-पोषी है। लोक-मगल का विधान इसमे सर्वत्र रहता है। यह न केवल युद्ध-भूमि मे अपना भव्य रूप प्रकट करता है अपितु जीवन की नाना गतियो मे इसका भव्य खेल चलता है। फ्लोरेंस नाइटिगेल जब रोगियो और दुखियो के उपचार मे अपना जीवन होम करती देखी जाती है, स्वय कष्ट झेल कर, अपने प्राणो की परवा न करके, जब वह दुखियो का दर्द स्वय पी लेती है, तो उसके वीर हृदय की भव्य झाँकी किसी युद्ध-वीर की झाँकी से कम उदात्त नही। जब ब्रिटिश सरकार के पुलिस कर्मचारी सत्याग्रहियो पर लाठियाँ बरसाते हो, और वीर सत्याग्रही उनकी लाठियो को झेलते, सगीनो की चोटे सहते, 'वन्देमातरम्' और 'भारत माता की जय' का उद्घोष करते रहते हो तो उनके साहसपूण उत्साह

की उदात्तता किसके हृदय को ऊचा नही बनाती । वीरता सहार के रूप मे ही प्रकट नही होती, आत्मबलिदान के रूप मे भी प्रकट होती है । वीरता का यह कोमल रूप भी अत्यन्त तेजस्विता से ओतप्रोत होता है । जीवन की नाना परिस्थितियो के बीच होकर वीर अपना कर्त्तव्य, अपना आदर्श, अपनी टेक निभाता है । अत वीर रस भी एक व्यापक, उदात्त, अत्यन्त प्रभावशाली भावानुभूति है । वीरता या वीर के जो केवल चार रूप आचार्यो की दृष्टि मे आये और नायिकाओ की सख्या हजार तक पहुचा दी, तो यह सब सामतीय वातावरण और सामतीय प्रभाव का ही प्रतिफल है । सामत युद्ध मे लडता था, दान देता था, दया दिखाता था और धर्म की रक्षा करता था, इसी से उसके चार रूप बने, पर वास्तव मे वीरो के और भी अनेक-अनेक रूप जीवन की भिन्न-भिन्न परिस्थितियो मे सभव होते हे । वीरता के असाधारण कर्म मे महत्प्रयत्न और महत्कर्म दोनो की आवश्यकता है । इन दोनो के साथ महत्प्रयोजन जुड जाता है । वीर का साहस महत्प्रयत्न का द्योतक होता है और उत्साह महत्कर्म का । यदि प्रयत्न महान नही होगा तो साहस मे तीव्रता नही आयगी और यदि प्रयोजन महान नही होगा तो उत्साह मे उदात्तता नही रहेगी । जितना ही अधिक महत्प्रयोजन और महत्प्रयत्न होगा, वीर रस उतना ही अधिक उदात्त होगा ।

करुण रस

करुण रस का स्थायीभाव शोक है । यह शोक भी उदात्त रूप मे ही स्थायीभाव बनता है । शोक के लौकिक व्यक्तिगत रूप को स्थायीभाव नही माना जा सकता । ऐसा शोक जो सहृदय-मात्र की सवेदना जगा देता है, सब मे सम्प्रेष्य उदात्त भाव होता है, वही करुण रस का स्थायीभाव शोक है । कुछ विचारको ने शोक सामान्य और स्थायीभाव शोक का यह अतर न समझ कर करुण रस का स्थायीभाव शोक मानना अनुचित ठहराया है । उनका तर्क है कि शोक तो लौकिक दु खात्मक और असात्विक होता है । अत शोक के स्थान पर करुणा को ही वे करुण रस का स्थायीभाव घोषित करना चाहते है । हमारा निवेदन है कि यदि स्थायीभावो को लौकिक भावो से पृथक् उदात्त भाव-रूप मे हृदयगम न किया जायगा तो यह समस्या क्रोध, घृणा, भय आदि अन्य स्थायीभावो के सम्बन्ध मे भी उत्पन्न होगी और तब तो हमे घृणा, क्रोध आदि के स्थान पर उनके स्थायीभावो के भी और नाम ढूँढने होगे । सीधी-सी बात यही है कि ये शोक, क्रोध, घृणा आदि सामान्य लौकिक भाव नही है, अपितु उदात्त सम्प्रेष्य, स्पृहणीय भाव है । शोक स्थायीभाव भी उदात्त स्पृहणीय भाव है । अत करुण रस का स्थायीभाव शोक के स्थान पर करुणा को ही कहने की कोई आवश्यकता नही है, शोक स्थायीभाव के ही उदात्त रूप को हृदयगम करने की आवश्यकता है । शुक्ल जी ने जिस करुणा भाव पर अपने 'करुणा' नामक निबध मे विचार किया है, वह शोक स्थायीभाव ही है, जो विभावादि से पुष्ट होने पर करुण

रसानुभूति कराता है। जो बात शुक्ल जी ने करुणा के बारे मे कही है, वह शोक स्थायीभाव के बारे मे भी कही जा सकती हैं। दूसरो के दुख से दुखी होने मे हमारा रागात्मक प्रसार होता है, इसमे हमारी सात्त्विक वृत्ति जागृत होती है। शोक स्थायीभाव या करुणा को 'मनुष्य की प्रकृति मे शील और सात्त्विकता का आदि संस्थापक मनोविकार" मानना उचित ही है। "सामाजिक जीवन की स्थिति और पुष्टि के लिए करुणा का प्रसार आवश्यक है"—शुक्ल जी के इस कथन से भी कोई असहमत नही हो सकता। यद्यपि मनोविज्ञानिको ने प्रजातन्त्र शासन-व्यवस्था तथा सामाजिक जीवन की समानता के आधार पर प्रतिष्ठा करने मे दया या करुणा को आधार बनाने का निषेध किया है। उनका कहना है कि किसी गरीब को यदि हम दया या करुणा के कारण सहायता देगे, या सरकार उसकी कुछ आवश्यकताओ की पूर्ति करके उसके प्रति दया या करुणा जतायगी, तो इससे समाज मे समानता का भाव नही पनप सकता। दया और करुणा के प्रसार की बाते सामतीय युग की बाते थी जबकि कुछ धनी-मानी लोग दीन-दरिद्रो पर दया या करुणा दिखाकर अपने प्रभुत्व का जयघोष किया करते थे। सच्चे प्रजातन्त्रात्मक अभेदवादी राज्य की मनोवैज्ञानिक स्थापना (Psychological Foundation Of A Welfare State) करुणा या दया के आधार पर नही होनी चाहिए, समता के भाव पर स्थापित होनी चाहिए। ऐसे विचारको को भी यह अवश्य मानना पडेगा कि समाज की वर्ग-भावना से विरहित समान व्यवस्था होने पर भी जीवन मे मानव को दुखो का तो अनुभव होगा ही। दुख केवल धन-अभाव से ही उत्पन्न नही होते। और धन का भी एकबार समान बटवारा होने पर उसमे अपनी योग्यता, बल आदि के आधार पर हेर फेर होगा ही। अत जीवन मे दुखो की संभावना को नष्ट नही किया जा सकता। करुणा या स्थायीभाव शोक सामाजिक जीवन की आवश्यकता सदा बने रहेगे। एक लोकहितकारी शासन-व्यवस्था या राज्य की आधार-शिला चाहे करुणा या दया के स्थान पर समानता पर रखी जाय, किन्तु मानव की मानसिक संस्थापना मे करुणा का होना अत्यावश्यक है। सच तो यह है कि मानवीय करुणा ने ही मानवीय समानता का भाव जगाया है। इसमे जरा भी सदेह नही किया जा सकता कि भगवान् बुद्ध, ईसा आदि ही नही, महात्मा गाधी, कार्ल-मार्क्स, स्वामीविवेकानन्द आदि सभी समाज-सुधारको और समाज-शास्त्रियो का बीज भाव भी करुणा ही रहा है। अत शोक स्थायीभाव या करुणा एक उदात्त प्रवृत्ति है। करुण रस की उदात्तता मे किसे सदेह हो सकता है?

करुण रस मे मानवीय सहानुभूति का प्रसार सर्वाधिक होता है। भाव-तादात्म्य की भी इसमे पराकाष्ठा रहती है। यही कारण है कि काव्य-साहित्य मे दुखी प्राणियो के प्रति हमारी इतनी सहानुभूति उत्पन्न होती है कि हम भी उनके साथ आँसू बहाने लगते है। भाव-तादात्म्य और साधारणीकरण की इसमे चरम अवस्था प्राप्त हो

सकती है। करुण रस मे जो मानवीय सवेदनाएँ उभरती है, वे हमारी मनुष्यता को निखार देती है। दर्शक या पाठक का हृदय लोक-हृदय बन जाता है—"The Spectator is lifted out of himself He becomes one with the tragic sufferer and through him with huminity at large" पाश्चात्य विद्वान् बूचर का यह कथन पूर्ण सत्य है। निस्सदेह करुण रस जीवन-निर्माण की अद्भुत क्षमता रखता है। जीवन की अनेक परिस्थितियो से इसका सम्बन्ध होता है। इसकी व्यापकता को लक्ष्य करके ही भवभूति ने 'एको रस करुण एव निमित्त भेदात्' की उपपत्ति की थी। न केवल मानव अपितु चराचर विश्व के प्रति करुण भावना उत्पन्न हो सकती है। अन करुण रस का महत्त्व असदिग्ध है।

करुण रस के आलम्बन दुखी प्राणी, दुखपूर्ण परिस्थितियाँ, इष्टजन-विप्रयोग, सकट-शोक, दैव-विनिपात, दीनता-दरिद्रता, विभव-नाश, वध, बधन, उपघात आदि होते है। अधिकाधिक सकट-पूर्ण परिस्थितियाँ, अन्यान्य क्लेशादि उद्दीपन बनते है। रोना, आँसू बहाना, चीत्कार, विलाप करना, नि श्वास, रग उडना, मूर्च्छा, दैव-निन्दा, कठ-अवरोध, स्तब्ध रह जाना, काँपना, वैवर्ण्य, छटपटाना, छाती पीटना, दुखी की सहायता करना आदि अनेक अनुभाव प्रकट होते है। उन्माद, चिंता, त्रास, उत्सुकता, आशा, निराशा, आवेग, मोह, विषाद, दैन्य, व्याधि, जडता, ग्लानि, निर्वेद, मरण, स्नेह, स्मृति, घृणा आदि अनेक सचारी भाव करुण रस मे सचरण करते है।

इस रस के सम्बन्ध मे विवाद या भ्राति की विशेष बात नही है। इसका प्रत्येक प्रसग उदात्त होता है। रामायण के दशरथ-शोक, दशरथ-मरण, राम वन-गमन, सीताहरण, लक्ष्मण को शक्ति लगना आदि प्रसग कितने करुण है, यह सभी की अनुभूति का विषय है। जितनी ही अधिक उदात्त जीवन-परिस्थितियो के सम्मिश्रण से शोक या करुणा घनीभूत होगी, उतना ही करुण रस अधिक उदात्त होगा।

करुण और बीभत्स रस का सहसचरण अनेक रचनाओ की शक्ति का विषय बनता है। हम पहले भी निवेदन कर चुके है कि आदि कवि के श्लोको मे बीभत्स रस और करुण रस दोनो का सह-सचरण है। अन्यायी व्याध को अभिशप्त करने मे बीभत्स रस और मृत क्रौंच के आलम्बनत्व से करुण रस की अभिव्यक्ति हुई है। अन्यत्र हमने स्पष्ट किया है कि 'गोदान' की समस्त साहित्यिक शक्ति करुण रस और बीभत्स रस के उत्तम सहसचार मे दिखाई देती है। विवश पीडित, शोषित, दीन-दरिद्र कृषक तथा उसके जीवन की अनेकानेक करुण परिस्थितियो से करुण रस का भव्य सचार हुआ है तथा साथ-साथ शोषक महाजनो, जमीदार, पुलिस दारोगा, मिल-मालिक खन्ना, धर्म के ठेकेदार दातादीन आदि शोषको के प्रति तीव्र घृणा जगने से बीभत्स रस का आद्योपात सुन्दर परिपाक हुआ है। इस प्रकार 'गोदान' की श्रेष्ठता मुख्यत इन दोनो रसो के सह-सचरण से सिद्ध हुई है। 'रामायण', 'महाभारत', 'मृच्छकटिक'

आदि अनेक श्रेष्ठ रचनाओ मे इन दो रसो का सह-अस्तित्व बहुत भव्यता उत्पन्न करता है।

वधु-वियोग-जन्य विप्रलभ और करुण रस की सीमाओ के सम्बन्ध मे विद्वानो मे पर्याप्त मतभेद रहा है। इस सम्बन्ध मे हमारा निवेदन है कि केवल प्रिय-प्राप्ति की आशा या निराशा से ही इन दोनो रसो की स्थितियो का निर्णय नही हो सकता। वास्तव मे जब-जहाँ विरह-अन्तर्गत शोक या करुणा का अधिक प्रसार हो जाता है और परिस्थिति अत्यन्त करुण हो जाती है या किसी दारुण विवशता या अन्याय के कारण जीवित रहते हुए भी कोई दो प्रेमी मिल नही पाते, वहाँ भी करुण रस ही मानना चाहिए। जहाँ शोक घनीभूत हो जाता है और पाठक या दर्शक की आँखे आर्द्र हो उठती है, वहाँ प्रिय-वियोग का प्रसग होते हुए भी, शोक को केवल सचारी नही माना जा सकता, अपितु वहाँ करुण रस प्रधान हो जाता है। प्रिय-वियोग मे शोक सचारी हल्का सचरण करता है। वह पाठक या दर्शक को अधिक करुणार्द्र नही कर पाता, क्योकि पाठक या दर्शक के मन मे रति (प्रेम) भाव अधिक प्रबुद्ध रहता है। जहाँ परिस्थिति शोकाकुल हो जाती है और पाठक शोक से अभिभूत हो जाता है, वहाँ वियोग का प्रसग होते हुए भी करुण रस की सिद्धि माननी चाहिए। 'साकेत' मे भरत और माण्डवी का सयोग भी वियोग बना हुआ है और विप्रलभ की बजाय करुण रस का सचार करता है, जबकि उर्मिला का विरह विप्रलभ शृगार का ही विषय बना रहता है। अत यह सब कवि के चित्रण पर निर्भर करता है। जहाँ कवि शोक से अभिभूत कर देता है वहाँ करुण रस मानना चाहिए, जहाँ शोक केवल सचारी-रूप मे हल्का सचरण करता है, वहाँ विरह की स्थिति माननी चाहिए।

हास्य रस

हमने पहले भी सकेत किया है कि उदात्तता का प्रश्न हास्य रस, अद्भुत रस और शृगार के सयोग पक्ष के बारे मे विशेष रूप से उत्पन्न होता है। इन रसो का ऐसा रूप भी काव्य मे चित्रित होता है जिसमे जीवन की उदात्त भावनाओ और प्रवृत्तियो का विशेष समावेश नही होता, किन्तु सच्चे सहृदय सामाजिक को इन रसो के भी उदात्त रूप मे ही अधिक आनन्द अनुभव होता है। काव्य की श्रेष्ठता इन हासादि के उदात्त रूप मे ही सिद्ध होती है।

भरत मुनि ने शृगार रस की विकृति से ही हास्य की उत्पत्ति बताई थी। भरत ने अभिनय की दृष्टि से ही रसो पर विचार किया है। सभवत उस समय विकृत शृगार-सामग्री से ही नाट्य मे हास्योत्पत्ति का रूप भरत मुनि के सम्मुख रहा होगा। निश्चय ही इस सम्बन्ध मे भरत की दृष्टि सीमित ही कही जायगी। भरत ने हास को हास्य का स्थायी भाव बताया। उनके द्वारा आत्मस्थ और परस्थ दो भेद भी काव्यगत पात्र की दृष्टि से किये जान पडते है। जब अभिनेता (काव्यगत पात्र)

स्वय हँसता है तो आत्मस्थ हास्य और जब वह दूसरो को हँसाता हे तो परस्थ हास्य कहलाता है। इसी प्रकार हास्य के ये छ रूप-भेद भी अभिनय से ही अधिक सम्बन्धित है—(१) स्मित, (२) हसित, (३) विहसित, (४) उपहसित, (५) अपहसित और (६) अतिहसित। भरत ने हास्य, रौद्र आदि को नीच प्रकृति-रस भी सभवत इसी आधार पर कहा था कि इन का अभिनय उत्तम-प्रकृति रामादि काव्यगत पात्रो मे कम ही होता है। भरत ने हास्य का मूल सम्बन्ध स्त्री और नीच-प्रकृति पुरुषो से ही बताया। उपर्युक्त छ प्रकार-भेदो की भी उत्तम, मध्यम और अधम तीन कोटियाँ बताई गई है। स्मित तथा हसित हास्य उत्तम प्रकृति से सम्बन्ध रखता है, विहसित तथा उपहसित मध्यम प्रकृति मे तथा अपहसित एव अतिहसित अधम प्रकृति मे पाया जाता है। हास्य रस को नीच-प्रकृति से सम्बद्ध करना सर्वथा अनुचित है और शायद यह अलौकिक या दैविक आतक से ही भरत ने ऐसा किया है, मानवीय दृष्टि से नही। हमारा निश्चित मत है कि भरतादि आचार्यो का यह विभाजन जिस दृष्टि से उन्होने किया है, सर्वथा अनुचित है। भरत आदि ने यह विभाजन सत, रज, तम आदि परम्परागत प्रकृति-गुणो के आधार पर किया है। साधारण लौकिक दृष्टि से ही इसकी सगति इस प्रकार बिठलाई जाती है—'कपोलो की हल्की रक्ताभा, सौष्ठवपूर्ण कटाक्ष तथा अलक्षित दन्त-पक्ति आदि लक्षणो को 'स्मित' के अन्तर्गत माना जाना है। साधारण बोलचाल मे भी दाँत फाडकर हँसना अच्छा नही समझा जाता। अतएव उत्तम व्यक्ति से सम्बन्धित स्मित के अन्तर्गत अलक्षित दन्त-पक्ति आदि का वर्णन उचित है। स्मित को मुस्कान-मात्र कह सकते हैं। यह मुस्कान ही निरन्तर राम और कृष्ण के मुख पर खेलती रहती थी। अतएव स्मित की मदुता और सहज-अकर्षकता के उत्तम-प्रकृति जनोचित होने के सम्बन्ध मे किसी को सदेह नही हो सकता।"[1] इस सम्बन्ध मे हमारा निवेदन है कि राम-कृष्ण या पीर-फकीर-औलिया की बात हम नही जानते, मानव मे हँसी के भिन्न-भिन्न आलम्बनो के उपस्थित होने पर हास्य के प्राय इन सभी रूपो का प्रस्फुटन होता है। हमने श्रेष्ठ और उत्तम प्रकृति के लोगो को भी खिलखिलाते देखा है, और खिलखिला कर हँसना न नीच प्रकृति से सम्बन्धित माना जा सकता है, न शरीर-विज्ञान की दृष्टि से हँसी के आवेग को रोकना ही उचित होता है। वस्तुत यह सब विषय पर निर्भर करता है। यदि किसी उचित विषय पर ठहाके की हँसी पैदा होती है, तो अट्टहास करना कोई बुराई नही है। जो विषय के अनुसार खुलकर हँस-रो नही सकता, वास्तव मे तो उसी की प्रकृति मे कुछ विकार मानना चाहिए। यह विभाजन हास के आवेग के आधार पर हुआ है। क्या काव्य-सामग्री से अधिक हँसी उत्पन्न होना या हास के वेगपूर्ण विषय के उपस्थित होने पर कल हास करना बुरा कहा जायगा ? निश्चय ही जितना अधिक हास का

---

१ रस सिद्धात स्वरूप-विश्लेषण, पृ० ३४१।

विषय-वेग होगा उतनी ही सामाजिक की हँसी स्फुट होगी, और अत्यधिक हँसाने वाली रचना, इस दृष्टि से, कम हँसाने वाली रचना से अधिक हास्य रस ही प्रकट करेगी। अत स्फुट हास को अशिष्ट या असभ्य नही माना जा सकता। हम यह स्वीकार नही कर सकते कि "जितना ही सभ्य अथवा शिष्ट व्यक्ति होगा, वह इन आवेगो (हास्य के आवेगो) को उतना ही सयमित करने मे समर्थ होगा।" डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित ने आचार्यों के इस विभाजन को उचित ठहराते हुए कहा है— इन्हे (स्मितादि को) उत्तमादि भेदो मे बाँटना उचित ही है। इससे यह बात भी प्रकट होती है कि भारतीय विचारक हास्य के अन्तर्गत आने वाले व्यग्य आदि कटूक्ति-मिश्रित कथनो को उत्तम प्रकृति का नही मानते।" इस सम्बन्ध मे भी हमारा निवेदन है कि सभा-समाज मे या प्रत्यक्ष व्यग-कटूक्ति आदि चाहे भद्दे कहे जाये, किन्तु काव्य-साहित्य मे व्यग्य-वक्रता उदात्त हास्य का ही रूप प्रस्तुत करते है, किसी प्रकार की अधम प्रकृति के द्योतक नही है। यदि हम सहृदय सामाजिक की अनुभूति के आधार पर विचार करे तो आचार्यो का यह विवेचन त्रुटिपूर्ण ही प्रतीत होगा।

हास्य का मनोवैज्ञानिक आधार है अप्रत्याशित असगति या विकृति ' यह असगति या विकृति जितनी अधिक उचित और विचित्र होगी, उतना ही हास्य का वेग अधिक होगा। जितना हास का वेग अधिक होगा उतना ही अधिक हास्य रस उस रचना या विषय मे कहा जायगा। किन्तु हास्य का वेग होना और बात है, हास्य का उदात्त होना और। हसी का वेग तो किसी प्रकार की अचानक बेढगी बात से फूट सकता है। जैसे, किसी को उल्टे कपडे पहने देखकर, कुरते-धोती पर टाई लगाये देखकर या अन्य हास्योत्पादक मुद्राएँ करते देखकर हँसी आ सकती है, किसी को 'अपने रामजी', 'जो है सो', 'यानी के' आदि विचित्र वाक्याशो को बार-बार बोलते सुनकर हँसी आ जाती हे तथा इसी प्रकार की अन्य अनेक परिस्थितियो के उत्पन्न होने पर हँसी का आवेगपूर्ण प्रस्फुटन हो सकता है। किन्तु इस प्रकार की उक्तियो या परिस्थितियो से चाहे कितना ही अधिक कलहास्य क्यो न प्रकट हो, इस हास्य को उदात्त हास्य रस शायद नही कहा जा सकता। उदात्त हास्य वही माना जायगा, जहाँ हास्य किसी नैतिक भावना पर आधारित होगा। उदात्त हास्य मे केवल हँसी ही नही होती, अपितु वह हमारी उदात्त भावनाओ को भी जगाता और पुष्ट करता है। लोक-व्यवहार की दृष्टि से तो चाहे यह कथन ठीक हो कि " हास्य का वास्तविक आनन्द वही है जहाँ हँसने वाला आलम्बन मे भी उसी भाव को उत्पन्न कर सके। पहले प्रकार का हास (व्यग्य-कटाक्ष रूप मे) घृणा, विद्वेष, असामाजिकता और विश्लेष को जन्म देता है। अतएव वह अनेक बार अग्राह्य और उपेक्षनीय हो सकता है। शुद्ध हास्य मे किसी को हानि नही पहुँचाई जाती। अपने यहाँ नाटको मे विदूषक का हास्य अथवा उसके कार्य-कलापो-द्वारा उत्पन्न हास्य इसी हानिरहित शुद्ध हास्य के अन्तर्गत आता है। इसी प्रकार सरकस आदि मे 'जोकर'

के कृत्यो पर उत्पन्न होने वाला हास्य भी अहानिप्रद अत निरपेक्ष हास्य होता है ।"[1] खेद है कि डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित ने ऐसे शुद्ध हास्य को ही विशेष आनन्द का विषय मान लिया । यह सहृदयो को बताने की आवश्यकता नही कि व्यग्यपूर्ण हास्य मे कितना आनन्द रहता है । काव्य मे व्यग्य-विनोद न तो असामाजिकता को उत्पन्न करता है और न घृणा या विद्वेष को । वास्तव मे नैतिकता को पुष्ट करने वाला व्यग्यपूर्ण हास्य उदात्त हास्य ही होता है । 'जोकर' के बेढगे प्रदर्शन मे शुद्ध हँसी चाहे जितनी हो, पर उदात्त हसी उसे नही कहा जा सकता । उदात्त हास्य केवल (शुद्ध) हास्य नही होता, उसमे हास के साथ मानवीय उच्च प्रवृत्तियाँ या भावनाएँ भी सम्मिलित होती है । जैसे, 'जोकर'-विदूषक आदि के बेढगे प्रदर्शन-रूप शुद्ध हास्य की अपेक्षा किसी ढोगी के मजाक या पत्नी-भक्त व्यक्ति के मजाक का वर्णन उदात्त हास्य का रूप होगा, क्योकि ढोग, फरेब रचना अथवा अपनी पत्नी के इशारो पर नाचना हमारी नैतिक भावना के विरुद्ध है । अत जिस हास्य मे जितनी मूल्यवान् उदात्त भावना सम्मिलित होगी, वह हास्य उतना ही उदात्त होगा । सच्चे सहृदयो को कोरे हास्य की अपेक्षा ऐसे उदात्त हास्य मे अधिक आनन्द आता है ।

अब एक और प्रश्न पर विचार करना है । क्या नैतिक अनुबध या व्यग्यादि के समावेश से हास्य के आवेग मे कमी आती है ? यद्यपि उदात्त हास्य कम स्फुट होने पर भी अधिक स्फुट कोरे हास्य की अपेक्षा सच्चे सहृदय को अधिक आनन्दप्रद प्रतीत होता है, और इस दृष्टि से हास्य का स्फुट आवेग हास्य के आनन्द की कसौटी नही माना जा सकता, अर्थात् किसी दृश्य या नाटक मे कोरा (विशुद्ध) हास्य बहुत स्फुट होने पर भी यह नही कहा जा सकता कि वह दृश्य या नाटक हास्य रस की उच्च कोटि की रचना है, तथापि हम यह भी स्वीकार नही कर सकते कि नैतिक उदात्त भावना या व्यग्यादि के समावेश से हास्य का स्फुट आवेग कम हो जाता है । एक उदाहरण लीजिए प्रेमचद के 'सेवासदन' मे सुमन जब दालमण्डी के कोठे को खैरबाद करके सुधारक विट्ठल दास के साथ जाने का निश्चय करती है, तब जाते समय उसे जो चुहल सूझती है, वह परिहास-व्यग्यपूर्ण स्फुट हास्य का—उदात्त हास्य का—श्रेष्ठ उदाहरण है । वह अपने आशिको—मौलवी अबुलवफा, पण्डित दीनानाथ तथा सेठ चिम्मनलाल की खूब हँसी उडाती है, खूब खबर लेती है । वह सेठ जी को तीन टाँग की कुर्सी पर बिठाती है, सेठ जी धडाम से गिरते है तो उसकी खिल्ली उडाती है, प० जी को ऐसी परिस्थिति मे डालती है कि वार्निश की बोतल गिरने से उसका मुँह-सिर वार्निश से पुत जाता है । अबुलवफा की दाढी मे जानबूझकर सिगरेट लगाने के बहाने आग लगा देती है । मियाँ की दाढी झुलस जाती है । हजरत जरा खफा होते है तो सुमन व्यग्य का बाण मारती है—'नारायण ! नारायण !

---

१ डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित रस सिद्धात · स्वरूप-विश्लेषण, पृ० ६३६ ।

जरा-सी दाढी पर इतना जामे से बाहर हो गए। मान लीजिए मैने जानकर ही दाढी जला दी तो ? आप मेरी आत्मा को, मेरे धर्म को, मेरे हृदय को रोज जलाते है, क्या उनका मूल्य आपकी दाढी से भी कम है ? मियाँ आशिक बनना मुँह का निवाला नही है। जाइए अपने घर की राह लीजिए, अब कभी यहाँ न आइएगा। मुझे ऐसे छिछोरे आदमियो की जरूरत नही है।"[1]

कहने की आवश्यकता नही कि इस प्रसग मे हास्य खूब स्फुट है और ऐसी परिस्थिति के हास्य मे खिलखिला कर हँसना कोई बुरी या असभ्य बात नही, बल्कि अपनी खिलती हँसी को रोकने या सयमित करने का प्रयत्न करने वाले को हम सभ्य कह सकेगे या नही, इसमे चाहे निश्चय न हो, पर निश्चित ही उसे असहृदय अवश्य कहेगे। दूसरी बात यह कि यह हास्य उदात्त है। ऐसी परिस्थिति मे हास्य तो इन आलम्बनो के बिना भी प्रकट हो सकता था, अर्थात् यदि कोई साली-सलहज अपने जीजा या नन्दोई से इस प्रकार का परिहास करती हुई, उसे तीन टाँगो की कुर्सी पर बिठाती, या वार्निश से मुँह पुत जाने की परिस्थिति उत्पन्न करती हुई दिखाई जाती (दाढी जलाने की बात अति हो जाती, अत उसे रहने दीजिए) तो उसके ऐसे अहानिप्रद परिहास मे भी हास्य स्फुट हो सकता था, हो सकता है, किन्तु वह कोरा हास्य इस उदात्त या नैतिक भावना मे परिपुष्ट हास्य की समता नही कर सकता। समाज के इन ढोगी मौलवी-पण्डित-सेठ, इन रँगे सियारो के परिहास मे जो मजा है, वह साधारण परिहास मे नही। यह परिहास उदात्त है, क्योकि हमारी नैतिक भावना ऐसे ढोगी, वेश्यागामी व्यक्तियो की खिल्ली उडाने से तुष्टि पाती है, अत हमे इस उदात्त हास्य मे अधिक आनन्द आता है। उपर्युक्त उदाहरण से हमने चार बाते स्पष्ट और पुष्ट की है। एक यह कि व्यग्य या उदात्त भावना के समावेश से हास्य के आवेग मे कोई कमी नही आती, उपर्युक्त उदाहरण मे परिहास और व्यग्य भी है तथा उदात्त प्रवृत्ति भी पाई जाती है, फिर भी लेखक ने ऐसी परिस्थितियो मे यह उदात्त परिहास प्रकट किया है कि हँसी स्फुट आवेग से प्रकट होती है। दूसरी बात यह कि उदात्त हास्य कोरे हास्य से अधिक उदात्त और अधिक आनन्दप्रद होता है। तीसरे यह कि हास्य मे उदात्तता किसी उच्च जीवन-मूल्य या नैतिक उदात्त भावना के समावेश से उत्पन्न होती है। जिस हास्य से हमारी नैतिक भावना भी पुष्ट होती है, वह हास्य उदात्त होता है। उदात्त हास्य ही हास्य का उत्तम रूप है। चौथी बात यह कि उदात्त हास्य के स्फुट आवेग मे उत्पन्न होने से खिल-खिला कर हँसना कोई असभ्य या अशिष्ट बात नही है, पूर्ण सभ्य और उचित है। जो ऐसे अवसर पर खिल-खुल कर हँस नही सकता, उसकी जीवनी शक्ति निश्चय ही कम है, उसकी सहृदयता मे अवश्य ही कोई कमी है।

---

१ सेवासदन, पृ० ९२ (सस्करण १९६०)।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हास्य के दो रूप-भेद ये समझने चाहिएँ—(१) विशुद्ध हास्य, अर्थात् कोरा हास्य, जिसमे हँसना ही लेखक का उद्देश्य रहता है। (२) उदात्त हास्य, अर्थात् जीवन की उदात्त भावनाओ को जगाने वाला हास्य। पहले मे सामान्य हास-परिहास (Humour and Joke) आते है। दूसरे मे विदग्धता, परिहास, उपहास, व्यग्य-वक्रता आदि (Wit, Joke, Jest, Satire, Irony etc) सम्मिलित है। परिहास, उपहास और व्यग्य का उदात्त हास्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनमे उत्तरोत्तर तीखापन बढता जाता है। किन्तु इस सम्बन्ध मे व्यग्य का सीमा-क्षेत्र स्पष्ट करना आवश्यक है।

व्यग्य के ऐसे रूप को, जिसमे हास्य के स्थान पर घृणा ही मुख्यत ध्वनित होती है, हमने बीभत्स रस के अन्तर्गत माना है। व्यग्य की कटुता कई बार उसे हास्य का विषय नही रहने देती, तब वह आलम्बन के प्रति घृणा जगाने से बीभत्स रस का विषय बन जाता है। वास्तव मे उपहासपूर्ण तीव्र निन्दा या उपहासशून्य ऐसी निन्दा या व्यग्य ही बीभत्स रस का विषय होगे, जो हँसी के स्थान पर घृणा ही मुख्यत जगाते है। रीतिकालीन 'भडौवो' मे कजूम आश्रयदाताओ का परिहास या हल्का फुल्का उपहास हास्य को ही उत्पन्न करता है। बेनी कवि ने हल्की-फुल्की रजाई की प्राप्ति पर कैसा हल्का-फुल्का परिहास अपने 'रायजू' का इन पक्तियो मे किया है—

कारीगर कोऊ करामात कै बनाय लायौ,
लीनी दाम थोरे जानि नई सुघरई है।
रायजू के रायजू रजाई दीन्ही राजी ह्वै कै,
सहर मैं ठौर-ठौर सुहरति भई है।
बेनी कवि पाय कै अबाय घरी द्वैक रहे,
कहत बनै न कछु ऐसी गति ठई है।
साँस लेत उडिगौ उपरला भितरलाहू,
दिन द्वै की बाती हेतु रुई रहि गई है॥

यहाँ कजूस-मनोवृत्ति का परिहास उदात्त हास्य प्रकट करता है। इस परिहास मे कटुता नाम को भी नही। अत्यन्त कोमल और मधुर परिहास है। पिता के श्राद्ध मे सडे-बुसे पेडे देने वाले कजूम पुत्र का मजाक निम्नपक्तियो मे अपेक्षाकृत अधिक तीखे ढग से व्यक्त किया गया है। इस परिहास मे व्यग्य का पुट आ जाने से यह उपहास बन गया है—

चीटी न चाटत मूसे न सूँघत बास सो माखी न आवत नेरे।
आनि धरे जब ते घर मे तब ते रहे हैजा परोसिन घेरे॥
माटिहु मैं कछु स्वाद मिलै, इन्है खायसो ढूढत हर्र बहेरे।
चौकि परो पितुलोक मैं बाप ज्यौ पूत के देखि सराध के पेरे॥

व्यग्य मे कटाक्ष तेज हो जाता है । सरहपा ने अपने समय के नागा साधुओ, मु ड मुडाने वाले साधुओ तथा अन्य ढोगियो का व्यग्य निम्न पक्तियो मे इस प्रकार किया हैं—

जइ णग्गाविय होइ मुत्ति, ता सुणह सिआलह ।
× × ×
पिच्छी गहणे दिट्ठ मोक्ख, ता मोरह चमरह ।
उच्छ भोअणे होइ जाण, ता करिह तुरगह ।।

अर्थात् "यदि नगे रहने से मुक्ति मिलती है, तो श्वान और शृगाल क्यो मुक्त नही हो गए ? यदि मोरछल धारण करने से ही मोक्ष का अनुभव हो जाता तो मोरो को मोक्ष प्राप्त हो जाना चाहिए था। यदि (गुरु का) उच्छिष्ट भोजन खाने से ही ज्ञान हो जाता तो हाथी-घोडो को ज्ञानी हो जाना चाहिए था।"

इन सब उदाहरणो मे हास्य प्रधान है । किन्तु जब मैथिलीशरण गुप्त अपनी 'भारत भारती' मे मन्दिरो के लुच्चे-दुराचारी दुजारियो की पोपलीला पर फब्ती कसते हुए कहते है—

अब मन्दिरो मे रामजनियो के बिना चलता नही,
अश्लील गीतो के बिना वह भक्ति-फल फलता नही ।
वे चीर हरणादिक वहाँ प्रत्यक्ष लीला-जाल है,
भक्त स्त्रियाँ है गोपियाँ, गोस्वामी ही गोपाल है ।।

तो यहाँ उपहास से अधिक मानसिक घृणा ध्वनित होती है। अत यह व्यग्य बीभत्स रस की परिधि मे जाता है । हास्य मे जब आलम्बन के प्रति सहानुभूति या अनुराग की भावना रहती है, तो वह शुद्ध हास-परिहास माना जाता है । जब हास्य मे आलम्बन के प्रति कटाक्ष या छेडछाड का भाव रहता है, तो वह उपहास या व्यग्य कहलाता है । जब कटुता अधिक आ जाती है तो तीखा व्यग्य बन जाता है । व्यग्य मे भी जब हास्यास्पद से छेड-छाड, कटाक्ष या चुहल का ही भाव रहता है, उसे हानि पहुँचाने या समाप्त करने के रूप मे तीव्र घृणा का भाव नही होता, तब उसे हास्यरस का व्यग्य कहेगे। जहाँ हास्यास्पद घृणास्पद प्रतीत होता है और उसके प्रति कटुतापूर्ण घृणा की भावना मुख्य-रूप से जगती है, वहाँ व्यग्य बीभत्स रस मे गिनना चाहिए । खेद है कि आजतक विद्वानो ने व्यग्य को हास्य रस-अन्तर्गत ही रखा है । जिस व्यग्य मे आलम्बन के प्रति तिरस्कार या भर्त्सना अथवा निन्दा का भाव तीव्र होता है, रजन या विनोद का भाव छिपा रहता है, उस व्यग्य को भी हास्य रस मे गिना जाता रहा है । वास्तव मे ऐसा व्यग्य व्यग्यमिश्रित घृणा ही मानना चाहिए और उसे बीभत्स रस-अन्तर्गत लेना चाहिए । डा० बरसानेलाल चतुर्वेदी ने अपने प्रबन्ध मे व्यग्य के ऐसे उदाहरण भी हास्य रस मे ही गिनाये है, जिनमे या तो हास्य का सर्वथा अभाव है और व्यग्य घृणा ही जगाता है, या हास्य-व्यग्य का कुछ पुट होने पर भी घृणा की

ही प्रधानता है। उनका एक उदाहरण देखिए। भारतेन्दु जी के 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' नामक प्रहसन मे चित्रगुप्त ढोंगी पुजारियों का लेखा-जोखा यमराज के सम्मुख प्रस्तुत करता हुआ कहता है—"महाराज ! ये गुरु लोग है, इनके चरित्र कुछ न पूछिए। केवल दंभार्थ इनका तिलक-मुद्रा और केवल ठगने के अर्थ इनकी पूजा, कभी भक्ति से मूर्ति को दण्डवत् न किया होगा। पर मंदिर मे जो स्त्रियाँ आईं, उनको सवदा तकते रहे। महाराज ! इन्होंने अनेकों को कृतार्थ किया है। और इस समय तो कहेंगे मै श्री रामचन्द्र जी का दास हूँ, श्री कृष्ण जी का दास हूँ, पर जब स्त्री सामने आती है तो उससे कहेंगे—मै राम तुम जानकी, मै कृष्ण तुम गोपी। और स्त्रियाँ ऐसी मूर्ख कि फिर इन लोगों के पास आती हैं।"

यह उदाहरण घृणोत्पादक ही है, इसमे हास्य विशेष नही है। ऐसे उदाहरणों को हास्य रस मे गिनने की बजाय बीभत्स रस-अन्तर्गत ही लेना चाहिए। अत व्यंग्य की सीमा का ध्यान रखना हास्य-लेखक के लिए आवश्यक है। हास्य मे व्यंग्य का बहुत महत्त्व है। विद्वानों ने जिस 'उच्च और गंभीर हास्य' की बात चलाई है, और पिछले दिनों तक जिसका अभाव उन्हें हिन्दी साहित्य मे अखरता रहा है,[1] वह व्यंग्य-विदग्धता से युक्त उदात्त हास्य ही हो सकता है। उचित हास्य मे व्यंग्योक्ति, व्यक्तिगत व्यंग्य (Saracasm) उपहास आदि कटुता-द्वेषादि उत्पन्न नही करते। डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित ने जिस निर्दय हास्य की कल्पना की है, वह भ्रान्तिपूर्ण ही है। कबीर "कै मूड मुडाये हरि मिलै" वाले दोहे मे कबीर ने "सोच-विचार कर, सब कुछ त्यागकर मूड मुडाने और वैराग्य धारण करने की तुलना भेड" से नही की है बल्कि ढोंगी साधुओं पर फब्ती कसी है जो सर्वथा उचित है। अत इसे निर्दय हास्य मानना भूल है।

उदात्त हास्य के एक-दो उदाहरण और देकर हम इस प्रसग को समाप्त करेंगे। 'प्रीतम' कवि की 'खटमल बईसी' का निम्न उदाहरण पढ़िए—

बाघन पै गयौ, देखि बनन मे रहे छिपि,
सापन पै गयो, ते पताल ठौर पाई है।
गजन पै गयौ, धूल डारत है सीस पर,
बैदन पै गयो, काहू दारू न बताई है।
जब हहराय हम हरि के निकट गये,
हरि मो सो कही तेरी मति भूल छाई है।
कोऊ ना उपाय, भटकत जनि डोलै सुन,
खाट के नगर खटमल की दुहाई है॥

---

१ देखिए काव्य-दर्पण (रामदहिन मिश्र), पृ० २६७।

इन पंक्तियो मे कवि ने खटमल के आतक का हास्यपूर्ण वर्णन करना चाहा है। यह कोरा हास्य ही है, इसमे किसी उदात्त प्रवृत्ति का अभाव ही है। साथ ही कवि की अत्युक्तिपूर्ण शैली कुछ अस्वाभाविक-सी भी बन गई है, जिससे हास्य मे कृत्रिमता का दोष-सा आ गया है। इसी प्रकार विवाह-शादी मे दोनो पक्षो मे जो हास परिहास होता है, वह भी शुद्ध या कोरा हास्य होता है। जनकपुरी की नारियो ने यह बात चलाकर कि दशरथ की रानियो ने खीर खाकर पुत्र उत्पन्न किये है, परिहास किया—

अति उदार करतूतिदार मब अवधपुरी की बामा।
खीर खाय पैदा सुत करती पति कर कछु न कामा।।

राम ने भी महिनन्दिनी का सकेत करते हुए तुरन्त उत्तर दिया—

कोउ न जनमे मात पिता बिन बँधी वेद की नीति।
तुम्हरे तो महि ते सब उपजे अस हमरे नहि रीति।।

ऐसे हास-परिहास रजनकारी होते है, मदेह नही, पर इनकी तुलना मे उदात्त हास्य का मजा कुछ और ही होता है। भारतेन्दु बाबू की 'कह मुकरी' की ये पक्तियाँ पढिए—

भीतर भीतर सब रस चूसै हँसि हँसि कै नन मन धन मूसै।
जाहिर बातन मे अति तेज क्यो सखी साजन नहि अगरेज।।

या उनके चूरन के लटके की दो पक्तियाँ सुनिए—

चूरन अमलै सब जो खावै, दूनी रिशवत तुरत पचावै।
× × ×
चूरन साहब लोग है खाते, सारा हिन्द हजम कर जाते।।

इन पक्तियो के हास्य की ध्वनि अधिक गभीर है और उपहास या व्यग्य उदात्त अनुभूति जगाता है।

इन दोनो प्रकार के हास्य के अनेक आलम्बन हो सकते है। कोई भी विचित्र व्यक्ति, वस्तु, परिस्थिति या घटना जब अचानक विपरीत, असगत या विकृत रूप मे हमारे सामने प्रस्तुत की जाती है, हँसी का विषय बनती है। उसकी हास्यपूर्ण परिस्थितियो, चेष्टाओ आदि मे वृद्धि ही उद्दीपन विभाव बनती है। हास्य मे काव्यगत अनुभावो का सचरण अपेक्षाकृत कम होता है, क्योकि इसमे काव्यगत आश्रय की स्थिति कम रहती है। बल्कि बहुत बार तो काव्यगत आश्रय को अपनी हँसी दबानी पडती है, क्योकि यदि परिहास करने वाला ही पहले हँस पडेगा तो हँसी का सारा मजा ही बिगड सकता है। फिर भी अनुभावो के रूप मे सैन-सकेत, मुँह बनाना, आँख मूँदना, आँखे खिल उठना, हँसना, हास्यास्पद परिस्थितियाँ पैदा करना, अट्टहास, हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाना, व्यग्य कसना, हँसी दबाना, ताली पीटना, हाथ मारना आदि तथा हँसी के कारण अश्रु, स्वेद, नाक-गाल-स्पदन रोमाच आदि सात्विक

अनुभाव प्रकट हो सकते है। सचारी भावो के रूप मे व्यग्य मे घृणा, हास-परिहास मे स्नेह, अर्थ-गोपन, मति, स्मृति, अवहित्था, असूया, विस्मय, उत्साह, अमर्ष, उत्सुकता, गर्व, जडता, आवेग, चपलना, हर्ष, शका आदि प्रकट हो सकते है। विशुद्ध या कोरे हास्य मे सचारी भाव भी कम सचरित होते है। चित्र विचित्र भावो से पुष्ट तो उदात्त हास्य ही हो सकता है।

हास्य कई तरह उत्पन्न किया जाता है। कही तो आलम्बन का हास्यास्पद चित्रण करके हास्य उत्पन्न किया जाता है, कही हास्यास्पद परिस्थितियाँ उत्पन्न की जाती हैं, कही शब्दो के विचित्र प्रयोग से तथा कही विचित्र अभिव्यक्ति से हास्य उत्पन्न किया जाता है। श्री जी० पी० श्रीवास्तव की 'पडित जी' कहानी को पढिए। उसमे पडित जी का आलम्बनत्व चित्रण भी हास्यपूर्ण है। पडित जी गोबरगणेश, पग्गड बाँधे, अचकन, धोती, फटी मिरजई पहने, तिलक-मुद्रा लगाए, भगड रूप मे हास्य के पूर्ण आलम्बन बनाये गए है। ऐसे अयोग्य पुरातन-पथी सस्कृत- अध्यापक हमारी निन्दा या उपहास के उचित आलम्बन होते है, अत उनका उपहास उदात्त हास्य का ही विषय है। पडित जी का कक्षा मे पढाते-पढाते कुर्सी पर सो जाना और आधी छुट्टी मे बेंच पर चारो शाने चित लेटे खुर्राटे मारना आदि उद्दीपन का काम करते है। काम से जी चुराने वाले पण्डित जी की कक्षा मे चार-पाँच विद्यार्थी और बढ जाने से विद्यार्थियो की सख्या जब ८-१० हो गई तो पडित जी ने लडको को कोसना शुरू कर दिया—"देवभाषा सबके लिए नही है। सभी कुत्ते काशी चले जायेगे तो हाडी कौन चाटेगा ?" लडको के आग-सी लग गई। जी मे आया कि पडित जी समेत पुस्तको को दियासलाई लगाओ और चल दो। उधर वे समास पूछने लगे और इधर हम लोगो ने इशारो मे तय कर लिया कि कोई ठीक उत्तर न दो।

पडित जी—बहुव्रीहि किसे कहते है ?

मोहन—कहते होगे किसी वस्तु को, पडित जी ! आपको क्या पडी है ?

पडित जी—मदन तुम बोलो।

मदन—कौन, मैं ! आपके सामने भला मै क्या बोलूँ ?

पडित जी—तो न बताओगे तुम लोग क्या ?

मै—पडित जी, किताब मे क्यो नही देख लेते ?

सोहन—बहुव्रीहि के बिना क्या आपका काम नही चल सकता ?

पडित जी—(बिगडकर) अभी तुम सबको धुन के रख दूँगा।

प्रद्युम्न—इसमे क्या सदेह है ! यह तो आपके यहाँ सदा से होता आया है।

मैं—(धीरे से) केवल इतना अन्तर है कि अब तक रुई धुनते थे, अब कुछ और धुनेंगे।

मोहन—(धीरे से) और क्या अपना सिर धुनेंगे।

सोहन—हैं तो कुछ इसी धुन मे।

पडित जी—न मानोगे तुम लोग ! बकबक लगाये ही रहोगे ।

मदन—यह लीजिए ! आप ही पूछते है और आप ही कहते है कि वकबक लगा रहे हो । बोलो तो आफत न बोलो तो आफत ।

मोहन—हाँ जी, इससे तो यही अच्छा है कि कोई बोले ही न ।

उपर्युक्त प्रसग मे विद्यार्थियो के उत्तरो मे कथन की वक्रता के कारण हास्य फूट रहा है । धुन शब्द को लेकर शाब्दिक हास्य भी है । परिस्थितिजन्य हास्य नीचे के प्रसग मे देखिए । "यो तो पण्डित जी पढाते-पढाते हर घण्टे ही पर एक नीद खीच लिया करते थे, पर आधे घटे की छुट्टी मे विशेषतया बेच पर लेटकर सोते थे । एक दिन ऐसे ही पडित जी निद्रा की गोद मे पडे थे कि मैं घूमता-घामता कक्षा मे चला आया । देखा कि पडित जी चारो शाने चित पडे है । मेज पर पगडी औंधी रक्खी थी । वही कलमदान भी पडा था । मैने पगडी के भीतर का बीच वाला फेटा हटाया और उस जगह नीली व लाल रोशनाई की दोनो दवाते रख कर उन्हे पगडी के फेटे से ढक दिया । बाहर आकर साथियो को जो बताया तो मोहन ने कहा कि ठहरो, मेरी भी एक बात मानो, दो-एक मेढक पकड लाओ तो काम बने ।

दो के बदले चार मेढक आ गए । पडित जी अभी तक खुर्राटे भर रहे थे । उनकी अचकन की दोनो जेबे बेच के इधर-उधर लटक रही थी । हमने उनकी जेबो मे दो दो मेढक रख दिये । फिर मेढको से भरी हुई जेबो को उठाकर पडित जी की तोद पर रख के भाग गए ।

तो-तीन बार जो तोद पर मेढक उछले तो पण्डित जी की आँख खुल गई । अपने पेट पर यह बेतुकी उछल-कूद देखकर मारे डर के पडित जी चिल्ला उठे और ऐसे घबडाए कि भद से बेच के नीचे लुढक पडे । जल्दी से उठकर अचकन उतार कर दूर फेकी । फिर जब जरा होश ठिकाने हुआ तो अचकन को उठाकर झाडने लगे । उसमे से मेढको को जो बारी-बारी निकलते देखा तो एकदम चकित रह गए । थोडी देर के बाद अचकन को फिर झाडा और पहन कर उठ खडे हुए । अब पगडी उठाकर सिर पर औधाई, वैसे ही दवाते झल्ल-झल्ल करती हुई उसमे से निकली और खोपडी पर तडाक से लग कर अलग जा गिरी । पगडी, खोपडी, चेहरा, अचकन, धोती रँगरँगा गई ।" परिस्थितिजन्य हास्य का कैसा फुव्वारा फूट रहा है ! पडित जी क्रोध के मारे इसी रूप मे हेडमास्टर के पास दौडे तो बाहर मैकेड मास्टर ने अपनी हास्यप्रियता दिखाई—होली बधाई, पडित जी ! कहिए यह स्वाँग बना कर कहाँ चले ? क्या कोई सगाई-सुगूई का शगन हुआ है ? बात क्या है ?" इन उक्तियो ने हास्य मे और भी रँग भर दिया ।

इस कथा मे उदात्त हास्य रस अपने समस्त अवयवो-सहित पूरी छटा के साथ प्रकट हुआ है । आलम्बन पण्डित जी है, उनकी चेष्टाएँ और वचन सब उद्दीपन

विभाव है। विद्यार्थियो के उत्तर, सैन-सकेत, मेढक दवात रखने आदि के कार्य, सैकेड मास्टर के वचन सब अनुभाव-उद्दीपन के अन्तर्गत आते है। विद्यार्थियो की अरुचि, घृणा, मति (योजना बनाने मे), आशका (भागने मे), सैकेड मास्टर द्वारा व्यग्य, भावगोपन (अवहित्था), अमर्ष आदि अनेक सचारी भाव भी स्पष्ट सचरण कर रहे है।

उदात्त हास्य का जीवन की नाना परिस्थितियो और अनेक प्रवृत्तियो से सम्बन्ध होता है। परिहास और उपहास या व्यग्य के अनेक ऐसे अरुचिकर या विकृत विषय होते है, जो हमारी नैतिक भावना के विपरीत पडते है, जैसे अनेक प्रकार के ढोगी व्यक्ति—ढोगी नेता, समाज-सुधारक, धर्म-गुरु आदि, अनेक प्रकार की सामाजिक बुराइयाँ, सभी प्रकार के बुरे आचरण और तत्सम्बन्धी बुरे व्यक्ति आदि सब हास्य का आलम्बन बन सक्ते है। ऐसे सब आलम्बनो का परिहास , उपहास या व्यग्य उदात्त हास्य का विषय होगा। ऐसे हास्य मे सत्यम् और सुन्दरम् के साथ शिवम् भी समन्वित होगा। ऐसा हास्य समाज-सुधार की भी प्रबल शक्ति रखता है।

अद्भुत रस

अद्भुत रस भी साहित्य मे बहुत उपेक्षा और भ्राति का विषय रहा है। इसके उदात्त रूप की भी सही कल्पना विद्वानो ने नही की। अद्भुत रस का स्थायीभाव विस्मय है। विस्मय मानव की आदिम मूल प्रवृत्ति है। यह आबाल-वृद्ध सब मे व्याप्त होता है। एक छोटा-सा बच्चा अनोखे-अनोखे खेल-खिलौनो को देखकर विस्मय-विमुग्ध तथा आनन्दित होता है। जब एक टीन की छोटी-सी रेलगाडी को चाबी देकर हम उसके सामने छोड देते है, तो वह उसे चलता देखकर आश्चर्य-मुग्ध हो जाता है। यह क्रीडा-कौतुक की प्रवृत्ति सबमे रहती है। किन्तु ज्यो ज्यो मानव बालक से वृद्ध होता जाता है, उसकी विस्मय-भावना या उत्सुकता-कौतूहल के आलम्बन भी बदलते जाते है। चाबी-वाली गाडी युवक के लिए आश्चर्य का विषय नही रहती, उसकी विस्मयता के और-और गभीर आलम्बन होते जाते है। विस्मय-भावना प्राणी-मात्र की सस्कार-बद्ध भावना है। हम एक हॉकी का मैच देखते है। यदि मैच मे खिलाडियो ने विशेष कौशल नही दिखाया, तो हमे वह मैच नीरस ही लगेगा , किन्तु यदि खिलाडी—चाहे दो-चार ही क्यो न हो—गेद रोकने, छीनने, निकाल ले जाने का अपना कौशल दिखाते है तो हमे आनन्द आता है। इस आनन्द के मूल मे विस्मय भावना ही है। हम खिलाडियो के अद्भुत कौशल से विस्मित हुए आनन्द अनुभव करते है। एक योगी जब अपनी साधना के करतब हमारे सम्मुख प्रस्तुत करता है—अपनी छाती के ऊपर से एक ट्रक को चलवा कर दिखाता है, हाथो से लोहे की मोटी छड को मोड देता है, आदि—तो हम आश्चर्य-चकित हुए उसके करतब देखने मे आनन्द-मग्न रहते है। नट के कौशल तथा सरकस वालो के करतब भी इसी प्रकार

आनन्द का विषय बनते है। साहित्य मे भी जब इस प्रकार के कोरे कौशल प्रस्तुत होते है तो हमारी विस्मय भावना उनके पढने, सुनने या देखने मे आनन्द अनुभव करती है। वहाँ जिस आनन्दानुभूति को हम प्राप्त करते है, उसे ही अद्‌भुत रस कहा जाता है।

किन्तु उपर्युक्त खेल-तमाशे या कोरे कला-कौशल से उत्पन्न विस्मय उदात्त अद्‌भुत रस का विषय विशेष नही बनता। उपर्युक्त अनुरजनकारी अद्‌भुत रस और उदात्त अद्‌भुत रस मे अन्तर है। जिस आश्चर्यपूर्ण घटना, कार्य या वस्तु का सम्बध उदात्त जीवन-मूल्यो या उच्च नैतिकता (लोक-सुख) से होता है, वे सब हमे उदात्त अद्‌भुत रस की आनन्दानुभूति कराते है। तिलस्मी-जासूसी उपन्यासो की ऐसी आश्चयजनक घटनाएँ, कौतूहल-वर्द्धक परिस्थितियाँ और ऐय्यारो, इन्द्रजालिको के अद्‌भुत कार्य जो केवल हमारी विस्मय-कौतूहल की भावना जगाकर हमारा मनोरजन करते है, सब अद्‌भुत रस की रचनाएँ ही है। इन उपन्यासो का अगी रस अद्‌भुत रस ही होता है। हिन्दी के अनेक तिलस्मी-जासूसी उपन्यासो मे केवल मनोरजन का उद्देश्य रहा है। अत उनमे अधिकतर घटनाएँ, कार्यव्यापार, वस्तु-चित्रण आदि कोरे अनुरजनकारी अद्‌भुत रस की ही अनुभूति कराते है। किन्तु जिस रचना मे आश्चर्य-चकित करने वाली घटना या कार्य-व्यापार का सम्बन्ध किसी उदात्त व्यक्ति से होता है या वे उदात्त भाव को पुष्ट करते है, वहाँ उदात्त अद्‌भुत रस की अनुभूति होती है।

हमारे प्राचीन आचार्यों ने अद्‌भुत रस पर यद्यपि कम विचार किया है, फिर भी विस्मय या चमत्कार की व्यापकता का उन्हे अनुभव था। वे अद्‌भुत रस को जीवन की नाना स्थितियो मे चाहे कम ही देख पाए है, किन्तु उन्हे विस्मय के व्यापक प्रभाव का बोध था, इसमे सदेह नही हो सकता। तभी तो आलकारिको ने घटना, वस्तु या लोकोत्तर व्यक्ति के कार्य-व्यापारो के अतिरिक्त कवि-कर्म-चमत्कार से भी अद्‌भुत रस की सिद्धि स्वीकार की। उन्होने अत्युक्ति, भ्रमोक्ति, विरोधाभास आदि अलकारो को भी अद्‌भुत रस की सिद्धि का हेतु माना हे। निस्सदेह काव्य मे कवि-कर्म-कौशल भी अद्‌भुत रस की अनुभूति कराता है। बहुत सी ऐसी कवि-उक्तियाँ जिनमे किसी उदात्त भाव की अनुभूति नही जगती, जिन्हे शुक्लजी आदि कई विद्वानो ने रस के क्षेत्र से बाहर केवल सूक्तिकाव्य कहने की भूल की है, वास्तव मे रस की परिधि मे आती है, क्योकि उनमे कवि की अभिव्यक्ति मे चमत्कार रहने के कारण हमारी विस्मय-भावना जगती है। ऐसी उक्तियाँ अद्‌भुत रस का ही विषय मानी जानी चाहिएँ। किन्तु यह अद्‌भुत रस कोरा अनुरजनकारी अद्‌भुत रस ही होता है, उदात्त अद्‌भुत रस नही।

प्राचीन आचार्यो ने अद्‌भुत रस को वीर रस से उत्पन्न माना है। यद्यपि अद्‌भुत रस के बारे मे उनकी यह धारणा उनकी सीमित दृष्टि की ही परिचायक है, तथापि इससे यह सिद्ध होता है कि अद्‌भुत रस का उदात्त रूप भी उनकी दृष्टि मे

था। उन्होने अद्भुत रस के उदात्त रूप तथा केवल अनुरजनकारी रूप का स्पष्ट भेद-निरूपण नही किया, किन्तु वीर कर्म से आश्चर्य की उत्पत्ति स्वीकार करना उनके द्वारा उदात्त अद्भुत रस की ही स्थापना है। वीर-कर्म उदात्त होता है। ऐसे उदात्त कम-कौशल से निश्चय ही उदात्त अद्भुत रस की सिद्धि होगी। भरत मुनि ने अद्भुत रस के दो भेद किये है–(१) दिव्य तथा (२) आनन्दज।[1] उन्होने दिव्य-दर्शन से दिव्य अद्भुत माना हे और सामान्य हर्ष उत्पन्न करने वाला आनन्दज अद्भुत कहा है। यद्यपि भरत मुनि ने अपने कथन का विशेष स्पष्टीकरण नही किया है, तथापि दिव्य से उनका तात्पर्य ईश्वरीय अर्थात् अलौकिक प्रभु-दर्शनादि से ही प्रतीत होता है और आनन्दज से अभिप्राय अन्य अद्भुत घटना-कर्म आदि से है। उन्होने ब्रह्मा को इसका देवता बताया है। प्राचीन आचार्यो की दृष्टि अद्भुत रस के दो रूपो पर ही अधिक रही है। एक तो लोकोत्तर ईश्वरीय लीलाएँ उनकी अद्भुत अनुभूति का विषय बनी है, दूसरे, वीर-कर्म की अद्भुतता को उन्होने अद्भुत रस के उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किया है। पडितराज जगन्नाथ ने अद्भुत रस के उदाहरण-रूप मे बाल-कृष्ण के मुख मे ब्रह्माण्डदर्शन पर यशोदा के चकित होने का उदाहरण दिया है। विश्वनाथ ने 'महावीर चरित' से राम-द्वारा शिव-धनु तोडने पर उसकी अति उच्च ध्वनि से लक्ष्मण के विस्मय का उदाहरण प्रस्तुत किया है। किन्तु, इस सम्बन्ध मे हमारा निवेदन है कि अद्भुत रस भी जीवन की अनेकानेक परिस्थितियो से सम्बन्ध रखता है। न केवल ईश्वरीय लीलाओ तथा युद्ध-वीरो के अद्भुत कार्यों मे इसकी अवस्थिति होती है, अपितु अनेक प्रकार के अन्य उदात्त भावो और प्रवृत्तियो से इसका सम्बन्ध है।

भरत मुनि के उपर्युक्त दिव्य तथा आनन्दज दो भेदो को हम अपने ढग से स्वीकार करते है। दिव्य से लोकोत्तर ईश्वरीय अर्थ न लेकर उदात्त अर्थ लेना ही समीचीन है तथा आनन्दज से केवल मनोरजक अर्थ लेना चाहिए। इस प्रकार अद्भुत रस[2] भी हास्य रस की तरह मुख्य दो कोटियो मे विभाजित करना चाहिए—(१) उदात्त अद्भुत रस, (२) केवल अनुरजनकारी या आनन्दज। उदात्त अद्भुत रस के और कई प्रकार-भेद हो सकते है, जैसे अद्भुत घटना-जन्य, कार्य-व्यापार-जन्य, व्यक्ति या वस्तु चित्रणज या दर्शनज आदि। इसी प्रकार केवल अनुरजनकारी अद्भुत रस के भी कई रूप-भेद हो सकते है—घटना-जन्य, कर्म-जन्य, वस्तु-चित्र-जन्य तथा

---

१ दिव्यश्चानन्दजश्चैव द्विधा ख्यातोऽद्भुतो रस ।
दिव्यदर्शनजो दिव्यो हर्षानन्दश्च स्मृत ॥

—नाट्य शास्त्र, ६।८२।

२ अद्भुत रस का और विस्तृत विवेचन हम पुस्तकाकार रूप मे अलग से प्रस्तुत कर रहे हैं।

कवि-कम (आलकारिक अद्भुत अभिव्यक्ति)। उदात्त अद्भुत रस-चित्रण मे भी आलकारिक अद्भुत अभिव्यक्ति हो सकती है, होती है, अत वहाँ भी कवि-कर्म-कौशल उदात्त अद्भुत रस को पुष्ट करने मे सहायक होगा। जहाँ कवि-कौशल कोरा अभिव्यक्ति का चमत्कार-मात्र बना रहता है, वहाँ रस की तो सिद्धि होगी, पर उदात्त अद्भुत रस की नहीं। नीचे का उदाहरण देखिए—

तन्त्री नाद कवित्त रस, सरस राग रति रग।
अनबूडे बूडे तरे, जे बूडे सब अग॥

बिहारी का यह दोहा वक्तव्य-मात्र है, किसी उदात्त भावानुभूति को नही जगाता। फिर भी कवि के विरोधाभासयुक्त अभिव्यक्ति-कौशल से विस्मय होने के कारण अद्भुत रस-सचार हो रहा है। अत यह कोरा मनोरजक अद्भुत रस का उदाहरण कहा जा सकता है। इमी प्रकार कबीरादि की उलटबासियो मे ऐसा ही 'अचभा' है—

एक अचभा देखा रे भाई, ठाढा सिंह चरावै गाई।
पहलै पूत पीछै भइ माई, चैला कै गुर लागै पाई॥
जल की मछली तरवर ब्याई, पकडि बिलाई मुरगै खाई॥ आदि॥

ऐसे चामत्कारिक कथनो को हम काव्य के अन्तर्गत इसीलिए लेते है, कि ये भी हमारी विस्मय-भावना-जन्य कुछ न-कुछ आनन्द अवश्य देते है, अन्यथा इन्हे काव्य-साहित्य मे कदापि जगह न मिलती। ये कवि-कर्म-कौशल (अभिव्यजना-वैचित्र्य) से उत्पन्न कोरे अद्भुत रस के उदाहरण है। अब नीचे की पक्तियाँ पढिए—

दुवन दुसासन दुकूल गह्यो दीनबधु,
दीन ह्वै कै द्रुपद कुमारी यो पुकारी है।
छाडे पुरुषारथ कौ ठाढे पिय पारथ से,
भीम महाभीम ग्रीव नीचे को निहारी है।
अबर लौ अबर अबर कियो 'बसीधर',
भीषम करन द्रोन सीमा यो निहारी है।
सारी मध्य नारी है कि नारी मध्य सारी है कि,
सारी ही कि नारी है कि सारी है कि नारी है॥

यहाँ भगवान् कृष्ण-द्वारा द्रौपदी की लज्जा-रक्षा का प्रसग है। कृष्ण के अद्भुत आयोजन से द्रौपदी का चीर बढता ही गया। उसकी साडी के बढने से उसकी लज्जा-रक्षा का उदात्त कार्य सम्बन्धित है। अत यहाँ कृष्ण का अद्भुत आयोजन उदात्त अद्भुत रस की अनुभूति कराता है। यह कोरा मनोरजन या चमत्कार नही हे, बल्कि महत् कार्य से सम्बन्धित होने से हमारी नैतिक भावना की भी पुष्टि करता है। साथ ही कवि की अभिव्यक्ति भी चमत्कारपूर्ण है। अनुप्रास की छटा के अतिरिक्त अम्बर (आकाश) लौ अम्बर (चीर) के अबर (अबार-ढेर) मे यमक तथा अन्तिम

पक्तियो मे सदेह अलकारो की योजना अद्भुत रस को और भी अद्भुत (पुष्ट) करने मे सहायक हो रही है। यहाँ भीष्म, द्रोण, कर्ण काव्यगत आश्रय है। उनका आश्चर्य मे सीमाओ की ओर निहारना और सदेह प्रकट करना आदि अनुभाव है, उत्सुकता, सदेह, भ्रम आदि सचारी भाव ¯। इसी प्रसग के रतनाकर जी के निम्न पद्य मे सुर-असुर आश्रय है, उनके सदेह के चमत्कार-रूप मे आश्चर्य की भव्य अभिव्यक्ति हुई है—

बोलि उठे चकित सुरासुर जहाँ ही तहाँ,
हा-हा यह चीर है कि वीर वसुधा की है।
कहै रतनाकर कै अम्बर दिगम्बर कौ,
कैधौ परपच कौ पसार विधना कौ है।
कैधौ सेसनाग की असेस कचुली है यह,
कैधौ ढग गग की अभग महिमा की है।
कैधौ द्रोपदी की करुना कौ वरुनालय है,
पारावार कैधौ यह कान्ह की कृपा कौ है॥

सृष्टि की चित्र-विचित्र रूप-रचना और दृश्यो पर आश्चर्य प्रकट करते हुए हरिऔध जी ने अद्भुत रस का निम्न उदाहरण दिया है—

देहिन को सुचित सनेहिन समान करि,
पख अति मजुल पवन के हिलत है।
चद के मनोरम करनि ते अवनि काज,
चादनी के सुन्दर बिछावने सिलत है।
हरिऔध कौन कहै काके अनुकूल भये,
सीपन मे मोती मन भावने मिलत है।
कीच माहि अमल कमल विकसित होत,
धूलि माहिं सुमन सुहावने खिलत है।

सृष्टि की यह रहस्यमय रूप-रचना उस सृष्टिकर्त्ता की अद्भुत लीला की ओर सकेत करती है, इसी से यह वर्णन उदात्त अद्भुत रस का विषय बनता है। रहस्यवादी कवियो की प्रकृतिगत रहस्य-भावना, जो आधुनिक रहस्यवाद का प्रथम सोपान बनती है, अद्भुत रस का ही विषय है। पत की 'मौन निमत्रण'-जैसी कविताएँ, महादेवी-प्रसाद-निराला आदि अन्य छायावादी-रहस्यवादी कवियो की ऐसी कविताएँ जिनमे विराट् के प्रति जिज्ञासा और विस्मय-भावना व्यजित हुई है, अद्भुत रस के ही उदाहरण है। महादेवी की निम्न पक्तियाँ देखिए—

कनक-से दिन मोती-सी रात, मिटाता-रगता, बारम्बार,
कौन जग का वह चित्राधार ?

यह किस चित्रकार की अद्भुत चित्रकारी और चित्रसारी है ? यह विस्मय,

विराट् चेतना की ओर सकेत होने से, उदात्त विस्मय है, उदात्त अद्भुत रस है।

श्रीमन्नारायण कविराज ने अद्भुत रस को ही सब रसो के मूल मे अवस्थित बताया। नारायण पण्डित के अनुसार चमत्कार रस का सार है। अद्भुत रस चमत्कार का मूल है। अत अद्भुत रस ही सर्वत्र अवस्थित रहता है—

रसे सारश्चमत्कार सवत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतोरस ॥

इसमे सदेह नही कि प्रत्येक काव्यानुभूति या रसानुभूति के मूल मे चमत्कार रहता है। पर भिन्न-भिन्न रसो मे भिन्न-भिन्न स्थायीभाव प्रधान होने से उन सब की रस-रूप मे अलग-अलग सत्ता रहती है। काव्यानुभूति मे अनेक भाव सश्लिष्ट रहते है। किन्तु जहाँ जिस स्थायीभाव की प्रधानता हो जाती है, वहाँ तत्सम्बन्धी रस की ही स्थिति माननी पडती है। आचार्य केशवदास ने अद्भुत रस का निम्न उदाहरण दिया है—

आसीविष, सिधुविष, पावक सो नातो कछू,
हुतो प्रहलाद सो, पिता को प्रेम टूटो है।
द्रोपदी की देह मै खुयी ही कहा दुस्सासन,
खरोई खिसानो खेचि वसन न खूटो है।
पेट मे परीक्षित की पारथ बचाई मीचु,
जब सब ही को बल विधिवान लूटो है।
केसव अनाथन को नाथ जौ न रघुनाथ,
हाथी कहा हाथ कै हथ्यार करि छूटो है।

निश्चय ही यहाँ भगवान् की कृपा का बखान भक्ति भावना या भक्ति रस से ही मुख्य सम्बन्ध रखता है, भगवान् की अद्भुत लीला से अद्भुत रस की अनुभूति जगाना कवि का उद्देश्य नही बन सका है, अत इस उदाहरण को अद्भुत रस का उदाहरण मानना भ्रातिपूर्ण ही है। इसी प्रकार बहुत से विद्वानो-आचार्यों ने वीर-कर्म के ऐसे उदाहरण अद्भुत रस मे गिनाये है, जिनसे वीर रस की ही पुष्टि होती है, विस्मय केवल सचारी भाव बना रहता है। अत विस्मय सचारी को अद्भुत रस मानना भ्राति ही है। अद्भुत रस की सीमा को ठीक समझ लेना चाहिए। रसानुभूति मे जहाँ विस्मय-प्रकाशन ही कवि का उद्देश्य बन जाय, वही अद्भुत रस की स्थिति होगी। वीर से अद्भुत की उत्पत्ति मे जब कबधो-द्वारा भीषण युद्ध आदि अद्भुत व्यापार व्यापक और विविध रूप मे प्रस्तुत किये जाते है, तभी वे अद्भुत रस का विषय बनते है, अन्यथा विस्मय सचारी भाव बना रहेगा और वीर रस की ही पुष्टि मे सहायक होगा।

अद्भुत रस का व्यापक प्रकाशन हमारे कथा-साहित्य मे हुआ है। हम इस रस को भी इतना भूल-सा गए है कि आश्चर्यपूर्ण घटनाओ या प्रसगो मे इस रस की

अनुभूति पाते हुए भी अद्भुन रस के स्थान पर कौतूहल, जिज्ञासा, उत्सुकता आदि कहकर काम चला लेते है और फिर प्रश्न करते है कि इन जासूसी या अद्भुत घटना-प्रधान रचनाओ मे कौन-सा रस है, या रस-सिद्धात की दृष्टि से इन उपन्यासो की आलोचना कैसे हो सकती है ? जिन उपन्यासो मे जादू की पिटारियाँ खोली जाती है या अविश्वसनीय चमत्कारपूर्ण घटनाएँ और कार्य-व्यापार प्रस्तुत किये जाते है, उनमे अनौचित्य होने से अद्भुत रसाभास ही कहा जायगा। प्राचीन लोकोत्तर घटनाएँ, जैसे श्राप से व्यक्ति का पक्षी बन जाना या अन्य रूपो मे बदल कर कौतुकपूर्ण कार्य करना आदि भी आज के बुद्धिवादी पाठक को अस्वाभाविक ही प्रतीत होते है, यहाँ तक कि जीवन की यथार्थ घटनाओ और परिस्थितियो मे रुचि लेने वाला आज का पाठक बालकृष्ण के लोकोत्तर चमत्कारी रूपो मे—जैसे अपने मुँह मे ही ब्रह्माण्ड के दर्शन कराना आदि—भी अधिक रुचि नही ले पाता। इन घटनाओ के भी बौद्धिक मानसिक रूप-अर्थों मे ही वह आनन्द प्राप्त कर सकता है। कृष्ण-द्वारा गोवद्धन पर्वत उठाने का यह प्रसग देखिए—

घन बरसत कर पर धर्‍यो, गिरि गिरिधर नि शक।
अजब गोप सुत चरित लखि, सुरपति भयो सशक ॥

यहाँ कृष्ण-द्वारा गोवर्द्धन पर्वत को अपनी छिगुनी पर उठा लेने का अद्भुत कार्य ब्रज के गो-गोप-गोपी की रक्षा हेतु हुआ है, इसलिए यह उदात्त अद्भुत रस का प्रसग अवश्य है, पर आज के पाठक को ऐसे चमत्कारी कार्य तभी आनन्द प्रदान कर सकते हैं जबकि वह भगवान् का पूरा भक्त बन जाय। इसी प्रकार 'अलिफ लैला' तथा इसी प्रकार के प्राचीन किस्सो तथा आधुनिक तिलस्मी-जासूसी उपन्यासो की अनेक घटनाओ और कार्य-व्यापारो मे विश्वसनीयता की कमी रहने से अद्भुत रसाभास ही माना जा सकता है। पाश्चात्य जासूसी उपन्यासो मे अद्भुत बौद्धिक तत्त्व रहता है, अत उनमे अद्भुत रस का सुन्दर परिपाक होता है। ऐसा अद्भुत रस-प्रधान कथा-साहित्य आज प्रचुर मात्रा मे रचा जा रहा है।

अत अद्भुत रस विस्मयकारी घटनाओ, वस्तुओ, व्यक्तियो तथा उनके अद्भुत कार्य-व्यापारो के आलम्बनत्व से प्रकट होता है। उनके भिन्न भिन्न अन्यान्य अद्भुत व्यापार या घटनाएँ अथवा परिस्थितियाँ उद्दीपन बनती है। आँखे विस्फारित हो जाना, स्तभित-चकित रह जाना, प्रसन्न होना, रोगटे खडे होना, आँसू निकल आना, कप होना, 'वाह-वाह !' आदि साधुवाद-वचन, ताली बजाना, एकटक दृष्टि से देखना, स्वेद, वेपथु आदि अनुभाव सहज ही प्रकट होते है। उत्सुकता, जिज्ञासा, आवेग, भ्रम, जडता, हर्ष, मति, स्मृति, गर्व, धृति, अमर्ष, भय, आशका, चिंता, तर्क, आशा आदि अनेक सचारी भाव प्रकट होते है। उदात्त अद्भुत रस की स्थिति वही होती है, जहाँ दया, कृपा, साहस, उत्साह, गर्व, जिज्ञासा आदि सचारी भाव विस्मयानुभूति को उदात्त बनाते है तथा आश्चर्यपूर्ण घटना-कार्य-व्यापारादि किसी महत्

उद्देश्य की सिद्धि-हेतु प्रस्तुत होते है। जितने ही अधिक महत्त्वपूर्ण महान् कार्य के हेतु जितना महान् अद्‌भुत आश्चर्यपूर्ण व्यापार-घटना प्रस्तुत होगे, उतने ही अधिक उदात्त अद्‌भुत रस की सिद्धि होगी। महत् उद्देश्य, महत् अद्‌भुत विचित्र व्यापार या घटना तथा कवि-कर्म-कौशल तीनो का अद्‌भुत सयोग परम उदात्त अद्‌भुत रस की सिद्धि कराता है।

वैष्णवाचार्यों द्वारा प्रतिपादित तथा बाबू गुलाबराय, आनन्द प्रकाश दीक्षित आदि द्वारा स्वीकृत अद्‌भुत रस के दृष्ट, श्रुत, सकीर्तित तथा अनुमित भेद असगत ही है। वैष्णवी भक्ति के श्रवण-कीर्त्तन-दर्शन आदि के आधार पर ही ये श्रुतादि भेद किये गए है। इस प्रकार के भेद तो सभी रसो के हो सकते है, फिर अद्‌भुत मे ही क्या विशेष बात है ? पाठक तो पढकर ही रसानुभूति पाता है। काव्यगत आश्रय के देखने-सुनने आदि पर आधारित यह विभाजन व्यर्थ ही है। इनके उदाहरण-रूप मे प्रभु की लीलाओ के दर्शन श्रवण आदि से उत्पन्न आश्चर्य ही प्रस्तुत किया गया है। अत यह विभाजन भक्ति भावना पर ही आधारित होने से अमान्य है। सभवतः अलौकिकता के प्रभाव से ही डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित ने एक बहुत भ्रात धारणा प्रकट की है। अद्‌भुत और हास्य रस का भेद बताते हुए वे कहते है—'हास्य और अद्‌भुत मे यह भी अन्तर है कि पहले मे बुद्धि और विवेक का त्याग नही होता, जबकि दूसरे मे घटना की अघटनीयता भय को उत्पन्न करने के साथ-साथ विवेक का भी क्षण-भर के लिए हरण कर लेती है।" (रस-सिद्धात स्वरूप-विश्लेषण, पृ० ३७१)। हमारा निवेदन है कि बुद्धि और विवेक का तो न हर्ष मे लोप होता है, न अद्‌भुत मे। यदि बुद्धि का यह लोप होने लगे तो हमे अविश्वसनीय और अस्वाभाविक घटनाएँ भी न अखरे। अद्‌भुत मे विवेक की कडी कभी नही टूटती।

शान्त-रस

'नाट्यशास्त्र' मे शात रस की स्थिति नही है और भरतमुनि ने केवल ८ रसो पर विचार किया है। भरतमुनि ने समस्त विवेचन नाटकीय अभिनय की दृष्टि से किया है। अत सभव है कि उन्होने भी बाद के धनजय आदि आचार्यों की तरह शान्त रस को अभिनयोपयुक्त न समझ कर छोड दिया हो। अथवा यह भी सभव है कि भरत के समय तक शात रस की निर्विवाद स्वरूप-स्थिति न बन पाई हो। जो हो, शान्त रस की रस-रूपता असदिग्ध है। धनजय आदि ने शान्त रस के विरोध मे जो कहा है कि शातरस मोक्षाश्रयी या विरक्तिजनक होने से सभी सामाजिको के चित्त-सवाद का विषय नही बन सकता, अर्थात् जिस काव्य-विषय मे राग-द्वेषो का शमन हो, वह रागानन्द का विषय कैसे बन सकता है ! परन्तु इस प्रकार की धारणा का खण्डन करने वाले अभिनवगुप्त और विश्वनाथ आदि आचार्यो ने शात रस की सत्ता को भली प्रकार प्रतिष्ठित कर दिया था। आचार्यों ने तत्त्व ज्ञान-जन्य वैराग्य-निर्वेद

अथवा शम को शान्तरस का स्थायी भाव माना है। अभिनवगुप्त ने आत्मज्ञान को स्थायीभाव बनाया, जो शम का या तत्त्व-ज्ञान-जन्य वैराग्य का ही रूप है। आनन्दवर्धन ने तृष्णाक्षय-सुख को शात रस का स्थायी भाव बताया।

शात रस के स्थायीभाव शम या निर्वेद का स्वरूप स्पष्ट करने से पूर्व इसकी आधार-भूमि पर विचार करना आवश्यक है। इस ससार मे रहते हुए मनुष्य अनेक प्रकार के सघर्ष करता हे, राग-द्वेष मे मग्न रहता हे और अपनी इच्छाओ की पूर्ति करता है। किन्तु जब वह अनुभव करता है कि यह ससार तो असार है, यहाँ सब वस्तुए नाशवान है, यहाँ तक कि मानव-जीवन का कोई भरोसा नही, तो इस तत्त्व-ज्ञान के बोध से उसे सासारिक मोह-माया-ममता व्यर्थ प्रतीत होने लगती हे, ससार के छल-प्रपचो से वह मुँह मोड लेना चाहता है, भेद-बुद्धि त्याग देता है, सुख-दुख, अपने-पराये, राग-द्वेष आदि को त्याग कर समदर्शी बन जाता है और इस प्रकार आत्मा के सच्चे आनन्द को प्राप्त करता है, तो यह स्थिति शात रस की ही कही जायगी। ऐसी मन शाति आध्यात्मिक अलौकिक ऐकान्तिक अनुभूति ही नही होती, अपितु जीवनानुभूति भी होती है। ससार से वैराग्य धारण करके आत्मचिंता मे लीन वीतरागी व्यक्ति ही इसका आश्रय नही होता, अपितु ससार मे रहते हुए नि स्पृह जीवन बिताने वाला विदेह-जैसा राजा या कर्मयोगी जीवत प्राणी भी इसका आश्रय हो सकता हे वास्तव मे शात रस के स्थायीभाव निर्वेद या वैराग्य से अभिप्राय है लौकिक निस्पृहता। स्पृहा, इच्छाओ-तृष्णाओ की इस दुनिया मे नि स्पृहता का जीवन उदात्त जीवन कहा जा सकता है। इस उदात्त जीवन की द्योतक लौकिक नि स्पृहता उदात्त भावना है। मन शाति इसी का परिणाम है। नि स्पृह प्राणी मानसिक शाति या आनन्द भी लाभ करेगा, उसका मन सतोषी और राग-द्वेष-रहित भी होगा। एक उदाहरण से स्पष्ट करे। एक व्यक्ति ससार के प्रपच और असारता का अनुभव करके तत्त्वज्ञान द्वारा वैराग्य धारण करता है और आत्मचितन या मोक्ष-प्राप्ति के लिए समाधिस्थ हो जाता हे। उसका यह वैराग्य या मन शाति-प्राप्ति भी शात रस का विषय है। दूसरा व्यक्ति अपने सहज ज्ञान या उदात्त प्रवृत्ति से ससार मे रहता हुआ नि स्पृह जीवन व्यतीत करता है। वह ईश्वर-भजन या तत्त्व-चिंतन नही करता, अपितु ससार के कार्यो मे रत रहता है, देश की राजनीति मे भाग लेता है, किन्तु स्वय नि स्पृह जीवन बिताता है—त्याग और तपस्या का जीवन व्यतीत करता है, किसी से भेद-भाव नही रखता, निजी स्वार्थो से ऊपर उठा ऋषि-जैसा उज्ज्वल जीवन प्रस्तुत करता है। निश्चय ही ऐसे व्यक्ति की नि स्पृहता, मन की शाति, त्याग-वीतराग भी शात रस का विषय होगे। अत लौकिक नि स्पृहता या वैराग्य-निर्वेद उदात्त भाव-वृत्ति है। शम से अभिप्राय शाति नही लेना चाहिए, क्योकि मन शाति परिणाम है—आनन्द की परिणति स्थिति है। शम से अभिप्राय है इच्छाओ का शमन, स्पृहाओ की शाति।

यह स्पृहा-शमन या नि स्पृहता ही सर्व-प्रेषणीय उदात्त भाव-वृत्ति है। इसका अनुभव जीवन की नाना-स्थितियो मे व्यापक-रूप मे होता है। यदि हम केवल तत्त्व-ज्ञान-जन्य निर्वेद को ही स्थायी भाव माने तो तत्त्व-चिंतको के अतिरिक्त जीवन जीने वाले जीवनमुक्त महापुरुष इस रस की परिधि से बाहर रह जायेगे। विनोबा भावे, महात्मा गाधी जैसे महापुरुषो ने तत्त्व-ज्ञान से ही त्यागमय नि स्पृह जीवन बिताना सीखा हो, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। अत यदि इनकी नि स्पृहता का काव्य मे चित्रण होगा तो वह शात रस का ही विषय होगा। सांसारिक इच्छाएँ ही दु ख का कारण है। अत इच्छाओ का शमन स्वत ही सुख-शाति का विषय बन जाना है। ससार के स्वार्थो का त्याग, इच्छाओ का दमन अपने मे उदात्त जीवन-प्रवृत्तियाँ है। अत शात रस के उदात्त होने मे कोई सदेह नही। जिस शात रस-सामग्री मे इन इच्छाओ के शमन, नि स्पृहता, अभेद-बुद्धि तथा समरस भाव-भूमि का जितना अधिक चित्रण होगा, उतना ही अधिक उदात्त शात रस होगा।

'कामायनी' मे जब मनु सारस्वत प्रदेश की प्रजा के विद्रोह से परास्त और श्रद्धा से लज्जित होकर भाग जाना है और एक गुफा मे एकात बैठ जाता है, और श्रद्धा उसे जगल मे ढूँढ लेती है, तब उसकी यह विरक्ति शात रस का स्थायीभाव नही बनती। अभी उसका पलायन एक हताश, निराश या लज्जायुक्त व्यक्ति का पलायन हैं। उसमे अभी मोह-ममता का भाव विद्यमान है। तभी तो वह श्रद्धा से पूछता है, मानव को कहाँ, क्यो छोड आई। किन्तु जब श्रद्धा उसकी भेद-बुद्धि मिटा देती है और उसे आनन्दी शिव का आभास कराती है, और मनु शिव की समरस भूमि मे जाने के लिए व्याकुल हो जाता है, उसकी भेद-बुद्धि नष्ट हो जाती है, सब मे वह एक ही प्राण-चेतना का अनुभव करने लगता है, तब स्वय शिव-रूप बन जाता है, वह शात रस की चरम शाति आनन्द-अवस्था को प्राप्त कर लेता है, जिसमे—

समरस थे जड या चेतन।
सुन्दर साकार बना था॥
चेतनता एक विलसती।
आनन्द अखण्ड घना था॥

अत शात रस के इस रूप की प्रक्रिया इस प्रकार समझनी चाहिए—

स्थायीभाव—नि स्पृहता या इच्छाओ का शमन अथवा निर्वेद।

आलम्बन—कोई नि स्पृह महात्मा और उसकी नि स्पृहता, ससार की असारता, मृत्यु, जरा, रोग, सासारिक प्रपच आदि का ज्ञान। श्मशान का दृश्य आदि।

उद्दीपन-विभाव—जीवन की अनित्यता आदि का और अनुभव, सत्सग, धार्मिक ग्रन्थो का अध्ययन-श्रवण, तीर्थाटन आदि ।

अनुभाव-उद्दीपन—स्वार्थो का त्याग यमनियम, अपना सब-कुछ बाँट देना, सत्सग करना, प्रपचो से हटना, गृह-त्याग, शास्त्राध्ययन, स्वाध्याय, आत्मचितन तथा रोमाच, कप, अश्रु आदि सात्त्विक अनुभाव ।

सचारी-उद्दीपन—मति, ग्लानि, घृणा, हर्ष, स्मृति, धृति, सतोष, विश्वास, आशा, दैन्यादि ।

शान्त रस के स्वरूप का जो विवेचन विश्वनाथ आदि हमारे आचार्यों ने किया है, वह ससार से वैराग्य का ही रूप है । आचार्यों ने इसका प्राय यह लक्षण दिया है—

न यत्र दुख न सुख न चिता न द्वेषरागौ न काचिदिच्छा ।
रसस्तु शान्त कथितो मुनीन्द्र सर्वेषु भावेषु शमप्रधान ।।

अर्थात् जहाँ सुख-दुख, चिता, राग-द्वेष, इच्छादि कुछ नही, उसे मुनियो ने शात रस की सज्ञा दी है । सब भावो मे शम प्रधान है । सब भावो, इच्छाओ, कार्य-व्यापारो की समाप्ति का अभिप्राय लेकर धनजयादि ने शात रस का निषेध ही कर दिया था । कुछ आचार्यों ने घृणा या जुगुप्सा के अन्तर्गत ही इसका समावेश कर दिया । डा० राघवन ने भी जुगुप्सा की शान्त रस मे महत्ता स्वीकार करके उसे निर्वेद-जैसा भाव ही बताया है । उनका कथन है—"This is a saying that for those who would have this world, there is no scope for the other. Only he who discards all mundane things can walk to Salvation For this he must cultivate the feeling of disgust or loathsomeness towards the things of this world This is the Bhava of Jugupsa Some hold this to be most important in Santa and propose it for the place of sthayin "जुगुप्सेति केचित्" Abhi Bha Gaek Edn 1, p 262 Nirveda is very closely allied to this Jugupsa "[1] अर्थात् कहा जाता है कि ऐहिक आसक्ति से परलोक सिद्ध नही होता । जो सासारिक वस्तुओ का त्याग करते है, केवल वे ही मोक्ष प्राप्त कर सकते है । इसके लिए सासारिक वस्तुओ के प्रति ग्लानि होना आवश्यक है, यही जुगुप्सा भाव है । कुछ आचार्य इसे शात रस मे आवश्यक मानकर शात रस का स्थायीभाव ही बताते है । निर्वेद इस जुगुप्सा से निकट सम्बन्ध रखता है ।"

इस सम्बन्ध मे, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, हमारा निवेदन है कि एक तो सासारिक वस्तुओ के प्रति जुगुप्सा शात रस की अनिवार्य शर्त नही मानी जा

---

1 Dr V Raghvan . 'The Number Of Rasas', p 78

सकती, दूसरे, जुगुप्सा की यह जो व्याख्या की गई है, वह केवल शात रस के सचारी भाव जुगुप्सा की ही मानी जा सकती है। जुगुप्सा शात रस का स्थायी भाव नही कहा जा सकता। निर्वेद स्थायी भाव तथा निर्वेद सचारी से इसका अन्तर स्पष्ट करना आवश्यक है।

निर्वेद और घृणा (जुगुप्सा) दोनो मे ही विषय से अरुचि होती है। भरत मुनि ने निर्वेद का सचारी रूप मे ही निरूपण किया था। उनका कथन है—'तत्र निर्वेदो नाम दारिद्रय व्याध्यावमानाधिक्षेपाकष्टक्रोधताडन-इष्टजनवियोग तत्त्वज्ञानादिभि विभावै उत्पद्यते'। अर्थात् 'दरिद्रता, व्याधि, अपमान आदि सासारिक कष्टो, असफलताओ और प्रिय-वियोग या तत्त्वज्ञानादि विभावो से निर्वेद उत्पन्न होता है।' बाद के आचार्यो ने तत्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद को शात रस का स्थायीभाव माना। सासारिक असफलताओ, असफल प्रेम, धन-नाश आदि से उत्पन्न विरक्ति तभी शात रस का विषय होगी जबकि मन सासारिक इच्छाओ से हटकर, तत्त्व ज्ञान द्वारा या अन्यथा, अध्यात्मोन्मुख हो जायगा। ऊपर मनु के उदाहरण से हम इस तथ्य को स्पष्ट कर चुके है। अत शात रस के स्थायीभाव निर्वेद या लौकिक नि स्पृहता या शम मे दो बाते आवश्यक है— (१) सासारिक एषणाओ से निवृत्ति या विरक्ति अथवा नि स्पृहता, (२) अध्यात्मोन्मुखी शात प्रवृत्ति। अध्यात्मोन्मुखी प्रवृत्ति से तात्पय केवल व्यक्तिगत आत्म चितन या मोक्ष-साधन ही नही है, अपितु अभेद-बुद्धि मे लोकमगल, परमार्थ की कामना और साधना भी इसमे सम्मिलित है। इसमे अधिक ध्यान या शाति का विषय रहता है नि स्पृहता या अनासक्ति, जो अध्यात्म या परमार्थ-सिद्धि के हेतु होती है। आत्मचितन या ईश्वर-चितन की स्वतत्र परिणति जैसे भक्ति रस मे होती है, वैसे ही लोकमगल या परमार्थ सिद्धि की स्वतत्र परिणति दयावीर, धमवीर, राष्ट्रप्रेम, या मानव-प्रेम आदि मे होती है। अत स्थायीभाव जुगुप्सा और स्थायीभाव निर्वेद म अन्तर स्पष्ट है। घृणा या जुगुप्सा मे जघन्य वस्तुओ के प्रति ही घृणा उत्पन्न होती ह, निर्वेद मे सभी सासारिक वस्तुओ या इच्छाओ से विरक्ति या अरुचि होती है। दूसरे, घृणा मे अध्यात्मोन्मुखता की आवश्यकता ही नही। शृगारादि रसो के सचारी निर्वेद मे वस्तु या विषय से केवल विरक्ति होती है, अध्यात्म भावना का जगना उसमे भी आवश्यक नही। इसमे निर्वेद-जन्य अरुचि विशिष्ट होती है, जबकि घृणा की अरुचि सामान्य होती है। अर्थात् विरक्ति विशिष्ट व्यक्ति को किसी विशेष परिस्थिति के कारण होती है, जबकि घृणा सबको सामान्य रूप से स्वत ही होती है। निर्वेद सचारी मे वस्तु के प्रति उपेक्षा का भाव ही प्रकट होता है। एक वियोगिनी बाला व्यजन-पदार्थों के प्रति अरुचि या विरक्ति प्रकट करती है—इसका कारण किसी अन्य भाव का प्रबल होना है। अत सचारी विरक्ति का पूर्वपक्ष या आधार कोई अन्य भाव होता है, जबकि घृणा अपने मे स्वतत्र है। विरक्ति का पूर्वपक्ष आसक्ति है,

जबकि घृणा स्थायी का पूर्वपक्ष घृणा ही है। अर्थात् जब हम कहते है कि अमुक व्यक्ति को अमुक वस्तु या विषय से विरक्ति हो गई, तो इसका अर्थ है कि पहले वह वस्तु रुचिकर थी। जिन वस्तुओ या विषयो से विरक्ति सचारी उत्पन्न होता है, वे विषय अपने मे बुरे नही होते। पर घृणा का आलम्बन सदा सबके लिए घृणा उत्पन्न करता है। अत घृणा और निर्वेद या विरक्ति सचारी का निर्णय करने के लिए हमे यह देखना होगा कि आलम्बन अपने स्वतत्र रूप मे भी घृणा का विषय है या नही। यदि वह घृणा का विषय नही है तो विरक्ति या निर्वेद की स्थिति मानी जायगी, अन्यथा घृणा की। निर्वेद स्थायीभाव और घृणा स्थायीभाव मे भी अन्तर स्पष्ट है। निर्वेद स्थायीभाव मे लौकिकता से विरक्ति या घृणा अथवा नि स्पृहता के साथ-साथ अध्यात्म-भावना रहती है, जबकि घृणा मे केवल विषयो से घृणा की बात आती है, अध्यात्म-भावना की अपेक्षा नही होती।

अब निर्वेद या शात रस की अध्यात्म भावना को थोडा और स्पष्ट करते है। आध्यात्मिक सुख-आनन्द के दो रूप है, एक तो व्यक्तिगत अलौकिक मोक्ष-सिद्धि, एकात समाधिस्थ अवस्था या ब्रह्मानन्द-अनुभूति, दूसरी लौकिक जीवन-मुक्ति। किसी सन्यासी-वीतरागी-द्वारा तत्त्व-चिंतन या एकात साधना-सिद्धि आदि उसकी अलौकिक शात रस-अनुभूति कही जा सकती है। किन्तु किसी सन्यासी-महात्मा कबीर, नानक, दयानन्द, रामतीर्थ, विवेकानन्द आदि की नि स्पृहता और समष्टि-साधन या परमार्थ-कार्य-सुखानुभूति लौकिक शात रस अनुभूति मानी जा सकती है। इन दोनो की सीमा नि स्पृहता एव अध्यात्म-शाति है। अलौकिक अध्यात्म-शाति यदि भगवदनुराग के रूप मे प्रकट होगी तो भक्ति रस का विषय बन जायगी। इसी प्रकार लौकिक अध्यात्म-शाति यदि दया-दान, राष्ट्र-प्रेम या मानव-प्रेम के रूप मे चित्रित होगी तो करुण रस, दयावीर या राष्ट्र-प्रेम अथवा मानव-प्रेम का विषय हो जायगी। अत दयावीर, धर्मवीर आदि से भी शात रस की स्थिति भिन्न और स्वतत्र है। शात रस मे मुख्य विषय निर्वेद या नि स्पृहता अथवा त्याग रहते है, जबकि दयावीर आदि मे दया-कर्मादि प्रधान रहते है।

उपर्युक्त दोनो प्रकार की अध्यात्म-भावनाओ मे उदात्तता होती है। आध्यात्मिक अनुभूति सब देशो-कालो मे उदात्त अनुभूति स्वीकृत रहती है। फिर भी 'असख्य बधन माझे महानन्दमय लभिव मुक्तीर स्वाद' के इस जीवनवादी युग मे जीवन-विमुख वीतरागी की अपेक्षा जीवनवादी अनासक्त गेही की नि स्पृहता अधिक उदात्त और अधिक मार्मिक प्रतीत होती है। जो महासुख कोरा वैयक्तिक न होकर जीवन के सुखानन्द का भी हेतु होता है वह अधिक उदात्त है, जो निर्वाण-प्राप्ति कोरी व्यक्तिगत न होकर लोक-निर्वाण की वाछा से परिपूर्ण होती है, वह निश्चय ही अधिक उत्तम है। पण्डितराज जगन्नाथ का शात रस का यह उदाहरण देखिए—

मलयानिल-कालकूटयो रमणीकुतल-भोगिभोगयो ।
श्वपचात्मभुवोनिरन्तरा ममजाता परमात्मनि स्थित ॥

अर्थात् मलयपवन और कालकूट विष मे, रमणी के केश-कलाप तथा भुजग-फेणि मे, एव चाण्डाल और ब्रह्मा मे कोई अन्तर अर्थात् भेद-बुद्धि न रखने वाली मेरी आत्म-स्थिति परमात्मा मे स्थित हो गई है ।

इसके साथ ही विश्वनाथ का निम्न उदाहरण देखिए—

रथ्यान्तश्चरतस्तथा धृतजरत कन्थालवस्याध्वगै
सत्रास च सकौतुक च सदय दृष्टस्य तैर्नागरै ।
निर्व्याजीकृतचित्तसुधारसमुदा निद्रायमाणस्य मे
नि शक करट कदा करपुटी भिक्षा विलुण्ठिष्यति ॥

अर्थात् वह कौन-सा दिन होगा जबकि फटी-पुरानी गुदडी लपेटे, गली-गली घूमते मुझ पर नागरिक लोग त्रासयुक्त और कौतुहलपूर्ण दयाभरी दृष्टि डालेगे, जब मै परमानन्द-रूप अमृतपान मे मग्न होकर ससार से आखे फेर लूँगा और मेरे करपुट के भिक्षा-कण नि शक कौओ-द्वारा चुन लिये जायेगे ।

उपर्युक्त दोनो उदाहरणो मे से पहले मे केवल अभेद-बुद्धि के वैयक्तिक परमसुख की स्थिति का चित्रण है, दूसरे मे भी इसी स्थिति की कामना है। पर दूसरे मे परमार्थ का लोकहित भी साथ लगा हुआ है । दूसरी नि स्पृहता ऐसी है जिसमे इतर जीवो के हित की भी कामना निहित है । शाताश्रयी कवि अपने भिक्षा के अन्न को भी कौओ को चुगा देना चाहता है । अत निश्चय ही पहले उदाहरण की अपेक्षा विश्वनाथ का उदाहरण अधिक उदात्त एव मार्मिक है । बाबा नानक को पिता कालूराम ने रुपये दिये और कहा, "बेटा, आज तुम सौदा करने जाओ ।" नानक ने कुल रुपये साधु फकीरो मे बाँट दिए, सतो को भोजन खिला दिया । पिता ने जवाब-तलबी की तो कहने लगे, "इसमे सच्चा सौदा और क्या हो सकता है ?" अपनी खेती चिडियो को चुगा देने वाला, 'हरि की चिडियाँ हरि के खेत' की आवाज लगाने वाला मस्त-मौला नानक कितना निस्पृह था ! कितना उदार, कितना त्यागी ! नानक की आध्यात्मिक शाति शात रस का उज्ज्वल रूप है । गौतम का वैराग्य भी व्यक्तिगत निर्वाण के हेतु नही था, उसमे जन-जन के निर्वाण की उदात्त भावना थी, दुखी जनगण का मागल्य निहित था । उस निर्वेद की उदात्तता मे क्या सदेह हो सकता है ? अभिनव आदि कुछ आचार्यों ने शात रस को सर्वश्रेष्ठ कहा है और इसका कारण यह बताया है कि शात रस का ध्येय मोक्ष-प्राप्ति है, मोक्ष मानव-जीवन का अतिम लक्ष्य है । इस सम्बन्ध मे हमारा निवेदन यही है कि मानव जीवन का अतिम लक्ष्य अध्यात्म-सिद्धि है और यह अध्यात्म-सिद्धि जितनी ही उदार मानवता के मगल की विधायक होगी, उतना ही उदात्त शात रस होगा । केवल कैवल्य-प्राप्ति शात रस को सर्वश्रेष्ठ नही बनाती ।

रौद्र रस

हम पहले भी व्यक्त कर चुके है कि रौद्र रस के बारे मे साहित्य-आचार्यो मे पर्याप्त भ्राति रही है और आज तक विद्यमान है। डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित का कथन है—"रौद्र रस मे क्रोध सात्त्विक रूप मे प्रकट नही होता क्रोध अनुदारता का पक्षपाती हे और अन्यान्य गुणो का लोपकर्त्ता भी, जबकि उत्साह गुणो का सर्वथा ग्राहक। क्रोध मे मनुष्य बावला हो जाता है, किन्तु उत्साह मे विवेक का त्याग नही करता।"[1] हम ऐसे विचारो का पहले भी खण्डन कर चुके है। वास्तव मे रौद्र रस के स्थायीभाव क्रोध को तामसिक मानना भ्राति ही है। सामान्य लौकिक क्रोध को तो अनुचित एव असात्त्विक भले ही कहा जाय, किन्तु स्थायीभाव क्रोध सर्वथा स्पृहणीय उदात्त वृत्ति है। धार्मिक व्यक्ति जो क्रोध के दमन या शमन की बात किया करते है, वे तो मनुष्य के प्रकृत रागो का ही शमन चाहते है। दूसरे, अनुचित लौकिक क्रोध तो लोक-व्यवहार मे भी बुरा ही कहा जाता है और काव्यानुभूति का तो वह विषय बनता ही नही। इसमे सदेह नही कि क्रोध प्रतिक्रियात्मक, प्रतिहिंसात्मक भाव-वृत्ति है, और जीवन मे जहाँ तक बन पडे, मनुष्य को इसके बिना ही जीवन की समस्याएँ सुलझानी चाहिएँ। किन्तु अनादि काल से दुष्टता भी पलती रही है और बहुधा दुर्धर्ष दुष्टता शाति की भाषा समझती नही। अत उसे दुरुस्त करने के लिए बहुत बार क्राति, क्रोध, प्रतिहिसा या प्रतिशोध का मार्ग अपनाना पडता है। ऐसा क्रोध जीवन की आवश्यकता बन जाता है। काव्य मे ऐसे उचित क्रोध का चित्रण ही रौद्र रस का विषय बनता है। ऐसा क्रोध अनुदार न होकर या किसी एक दुष्ट के प्रति अनुदार होकर भी व्यापक मानवीय उदारता का प्रतीक बन जाता है। न तो ऐसे क्रोध का आश्रय अपने अन्यान्य गुणो का लोप करता है, न वह बावला होता और विवेक खोता है। वास्तव मे यदि स्थायीभाव क्रोध का आश्रय अपना विवेक या अन्य गुण खो देगा और न्याय की सीमा लाघ जायगा, तो उस क्रोध मे औचित्य न रहने से वह रौद्र रसाभास बन सकता है या क्रोध की अनुभूति समाप्त होकर पाठक या दर्शक के मन मे उसके प्रति ही घृणा का भाव जागृत हो जायगा। अत रौद्र रस का क्रोध स्पृहणीय उदात्त भाव है। वह जीवन मे न्याय-नीति की रक्षा का सबल है। उसकी उदात्तता मे सदेह नही होना चाहिए।

विद्वानो ने रौद्र रस के क्रोध का उदात्त रूप न समझ कर ही, बीभत्स रस आदि की तरह, रौद्रता या उद्धतता को ही रौद्र रस मान लिया। अर्थात् जैसे बीभत्स रस मे बीभत्सता को ही बीभत्स रस मान लेने की उन्होने भूल की, वैसे ही रौद्रता या प्रचण्डता को ही रौद्र रस मान लिया, चाहे वह जहाँ जिससे प्रकट हुई हो। यही कारण है कि उद्धत और प्रचण्ड राक्षसो या शत्रुओ अथवा अन्य विपक्षियो के अनुचित

---

१ रस-सिद्धात स्वरूप-विश्लेषण, पृ० ३६७।

क्रोध को भी रौद्र रस का विषय मान लिया गया है। पण्डितराज जगन्नाथ ने इसी भ्रान्ति से शिवधनु-भग से परशुराम के क्रोध या उद्धत रूप को रौद्र रस का उदाहरण बताया है। जो पाठक या दर्शक धनुर्भग से हर्षित हो चुका है, वह उसके टूटने से कुपित हुए व्यक्ति के क्रोध से तादात्म्य कैसे अनुभव कर सकता है? अत परशुराम का उद्धत रूप भय, उपहास अथवा घृणा का विषय चाहे बने, उचित क्रोध की अनुभूति नही करा सकता।

आश्चर्य है, रौद्र रस से करुण रस की उत्पत्ति का सिद्धात भी आनन्द प्रकाश दीक्षित ने स्वीकार किया है। इसका भी हम खण्डन कर चुके है। रौद्र कर्म तो करुण रस का जनक हो सकता है, किन्तु रौद्र रस से करुण रस की उत्पत्ति मानना सर्वथा भ्राति है।

श्री प्रतापनारायण श्रीवास्तव के 'बयालीस' नामक उपन्यास मे सर भगवानसिह जमीदार है। उनके अत्याचारो से तग आकर रियासत के लोग असतोष प्रकट करते है। सर भगवानसिह पुलिस तथा सैनिक शक्ति की मदद से जनता की आवाज दबाना चाहते है। जब वह अँग्रेज कैप्टन को निरीह प्राणियो पर फायर करने को कहता है, तब वह विदेशी कैप्टन सारिस भी कह उठता है—"ऐसा करना शायद मेरे लिए असभव है। इस जघन्य कार्य को तो बकरो को मारने वाला कसाई ही कर सकता है, हम सैनिक नही। हम भी मानव है, और ।" पर सर भगवानसिह तो जनता को पीसकर महाराजा का स्वतत्र पद पाने के लोभ से क्रोध मे पागल हो रहे थे। वह स्वय ही अपनी पिस्तौल की गोलियो से गाँव वालो को भूनने लगे। "वे गाँव मे चारो ओर दौड-दौड कर निरीह स्त्री-पुरुषो, बालको और रुग्णो को अपने पिस्तौल का शिकार बना रहे थे। उनके विवेक का सर्वथा लोप हो चुका था, उनके नेत्र विस्फारित थे, उनकी मुखाकृति भयकर, अमानुषिक तथा पैशाचिक थी। रक्त से सराबोर वे साक्षात् प्रलयकर शकर की भाँति रौद्र तथा बीभत्स रस की स्थापना मे रत दीख पडते थे। उनके चारो ओर रमईपुर निवासियो के शव के ढेर लगे हुए थे। उनके सहचर भूत, प्रेत, पिशाच, गिद्ध, चील और कौवे अपने आह्लादमय गान से उनको पग-पग पर नरमेध यज्ञ करने के लिए उत्साहित कर रहे थे।"[1]

इस उद्धरण मे लेखक ने सर भगवानसिंह को 'शकर की तरह रौद्र और बीभत्स रस की स्थापना मे रत, कहा है। वास्तव मे ऐसा कहना रौद्र, बीभत्स रसो के बारे मे परम्परागत भ्रांत धारणाओ का ही प्रतिफल है। शिव का उचित क्रोध जहाँ रौद्र रस का प्रतिष्ठापक हो सकता है, वहाँ सर भगवानसिह का कार्य निश्चय ही अनुचित क्रोधजन्य है। उसे रौद्र रस का स्थापन-कर्त्ता नही माना जा सकता, क्योकि उसके अविवेकपूर्ण जघन्य क्रोध से सामाजिक का तादात्म्य सभव नही है,

---

१ बयालीस (प्रथम संस्करण), पृ० २३०।

बल्कि वही हमारी घृणा का पात्र बनता है। निश्चय ही उद्धतता को ही रौद्र रस मानने की परम्परागत धारणा का ही शिकार लेखक हुआ है। इन रसो के बारे मे रूढ प्रवृत्ति यहाँ तक बढ गई है कि लेखक बरबस ही भूत-प्रेत-गिद्ध आदि को भी ले आया, और परम्परागत बीभत्स रस की सिद्धि मान बैठा। वास्तव मे ये भूत-प्रेत-गिद्ध आदि भी यहाँ बीभत्स रस की सिद्धि नही कराते, अपितु इनकी उपस्थिति आलम्बन-भेद मे (गाँव वालो के मृतक शरीरो के विभावत्व से) करुण रस की ही सिद्धि करती है, बीभत्स रस की नही। बीभत्स रस का आलम्बन स्वय सर भगवानसिंह बना हुआ है। यहाँ रौद्र रस तो आस-पास भी नही है।

रौद्र रस का आलम्बन अनुचित क्रोध का आश्रय भी वही बनता है जबकि काव्य मे उसके प्रति क्रोध व्यजित किया गया हो। रौद्र रस के आलम्बन क्रोधोत्तेजक अनुचित कर्म तथा उन कर्मो को करने वाले व्यक्ति होते है। असत्य, अन्याय, अत्याचार, दुष्टाचार, अनुचित अपमान, शत्रु की अनुचित चेष्टाएँ, अपकार, अनिष्टकर कुरीतियाँ आदि स्थायीभाव क्रोध की जनक बनती है। इन चेष्टाओ का अधिकाधिक अनिष्टकारी होना, शत्रु या दुष्ट व्यक्ति का कटु वचन बोलना, अपमान करना दुष्टता-भरी अन्य हरकते करना आदि उद्दीपन होता है। आँखे तरेरना, आँखे लाल होना, भवे तनना, दाँत पीसना, पाँव पटकना, मारना, गालियाँ देना, ओठ चबाना, अस्त्र-शस्त्र चलाना, प्रचण्ड रूप बनाना, क्रोधसूचक वचन बोलना, सहारक प्रवृत्ति, ललकारना, प्रहार करना, धक्के देना, मुट्ठी भीचना, काँपना, स्वेद, निश्वास, रोमाच, स्तभ आदि अनेक अनुभाव प्रकट हो सकते है। घृणा, ग्लानि, गर्व, उन्माद, मद, श्रम, ईर्ष्या, साहस, उत्साह, आवेग, अमर्ष, उग्रता, मति, स्मृति, चपलता, आशा उत्सुकता, हर्ष आदि अनेक सचारी भाव व्यक्त होते है।

कुछ विद्वानो का विचार है कि वीर—विशेषकर युद्धवीर और रौद्र रस दोनो के ही समान आलम्बन शत्रु होते हैं और शत्रु की चेष्टाएँ ही दोनो के उद्दीपन हैं। आवेग, उद्वेग, उग्रता, अमर्ष आदि सचारी भी दोनो मे समान होते है। अत इन दोनो की पृथक्-पृथक् सत्ता मानने मे कोई तुक नही है। विद्वानो के इस विचार की मीमासा हम बाद मे करेंगे, पहले समान आलम्बनत्व की एक और स्थिति पर विचार करें, जिस पर विद्वानो का अब तक कोई ध्यान नही गया। क्रोध का आलम्बन घृणा का आलम्बन भी बन सकता है। बहुत बार दोनो के आलम्बनो मे बिल्कुल समानता हो जाती है। शुक्ल जी ने क्रोध और घृणा का अन्तर बताते हुए कहा है कि क्रोधी अपने आलम्बन को हानि पहुँचाने मे प्रवृत्त होता है, जबकि घृणा मे उतना उद्वेग नही होता और घृणा का आश्रय अपने आलम्बन से दूर हटना चाहता है, उसे हानि पहुँचाना नही चाहता। परन्तु क्रोधयुक्त घृणा मे भी आलम्बन को हानि पहुँचाने की प्रवृत्ति रहती है। शुक्ल जी ने यह विचार केवल शुद्ध घृणा की दृष्टि से ही व्यक्त किया है। प्रश्न है कि जहाँ क्रोधमिश्रित घृणा हो, वहाँ क्रोध (रौद्र रस)

और घृणा (बीभत्स रस) मे से किसे माना जाए ? दोनो मे अन्तर कैसे समझा जाए ? सामाजिक रूढियो, परम्परागत अधविश्वासो, समाज-शोषी पद्धतियो के प्रति घृणा से भरकर कौन उन्हे समाप्त करना या समाप्त होते देखना नही चाहेगा ? वास्तव मे दोनो मे अन्तर उद्धतता की दृष्टि से ही मान्य हो सकता है। यदि हम आलम्बन की चटनी बनाने, मारने-पीटने तथा कटु वचन कहने मे उद्धत हो उठते है, तो यह क्रोध की स्थिति है, यदि मार-काट आदि उद्धत व्यापारो मे सद्य-प्रवृत्ति होने की बजाय लानत, फटकार, अभिशाप आदि के रूप मे ही अपनी क्षोभपूर्ण प्रतिक्रिया व्यजित करते है, तो घृणा का ही प्रकाशन करते है। यदि क्रोध केवल सचारी रूप मे हल्का सचरण कर रहा है तो बीभत्स रस का विषय होगा, किन्तु यदि घृणा सचारी है और क्रोध प्रधान प्रचण्ड है, तो रौद्र रस का विषय होगा। रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध वैर या द्वेष-रूप मे अपनी काल-परिधि असीम बनाए रख सकता है, पर वैर या द्वेष का प्रत्यक्ष रूप जब क्रोधमय प्रचण्डता लिए हुए होगा, उद्धत रूप मे होगा, तभी वह रौद्र रस के अन्तर्गत मान्य होगा। विरोध या द्वेष की भावना घृणा के आश्रय मे भी हो सकती है। पाश्चात्य विद्वानो का भी यही मत है। शैंड का कथन है—"When anger is deliberate, develops hate" अर्थात् जब क्रोध आवेशरहित होना है तो घृणा विकसित होती है। इसी प्रकार ऐंजिल ने कहा है—We are angry at the open insult and perhaps moved to enduring hatred by the obnoxious and unscrupulous enemy" अर्थात् प्रत्यक्ष अपमान से हम क्रुद्ध होते है और शायद कुत्सित और निर्लज्ज शत्रु के प्रति परोक्ष रूप से घृणा का भाव अपनाने को प्रस्तुत होते है।

शुक्ल जी का भी कथन है कि "कही-कही घृणा क्रोध का शात रूपान्तर-मात्र प्रतीत होती है। साधारण लोग जिन बातो पर क्रोध करते देखे जाते हैं, साधु लोग उन मे घृणा-मात्र करके, और **यदि साधुता ने बहुत जोर किया** तो उदासीन होकर रह जाते है। दुर्जनो की गाली सुनकर साधारण लोग क्रोध करते है, पर साधु लोग उपेक्षा ही करके सतोष कर लेते है। जो क्रोध एक बार उत्पन्न होकर सामान्य लोगो मे वैर के रूप मे टिक जाता है, वही क्रोध साधु लोगो मे घृणा के रूप मे टिकता है"—चिन्तामणि (प्रथम भाग), पृ० ६६। यद्यपि हम समझते है कि शुक्ल जी का यह कथन एक प्रकार की व्यग्योक्ति है, अन्यथा अन्यायी और अत्याचारी दुष्ट के प्रति क्रोध न करने को साधुता मानना उनके ही क्षात्र-धर्म-सिद्धान्त के विरुद्ध पडता है, तो भी इस सत्य से इन्कार नही किया जा सकता कि क्रोध का उद्वेग शात होने पर आलम्बन के प्रति घृणा ही रह जाती है।

एक पिता अपने पुत्र के दुश्चरित्र और अन्यायी होने पर क्रुद्ध होता है, उसे मारता है और मार-पीटकर घर से निकाल देता है। उसका यह कार्य क्रोध के आश्रय ही हुआ। अब पुत्र के चले जाने पर यदि वह लोगो से बात करता हुआ कहे कि

"ऐसे निर्लज्ज दुराचारी नीच पुत्र की मुझे आवश्यकता नही, इससे तो मै नि सतान ही अच्छा", तो इन शब्दो मे उसकी घृणा ही व्यक्त हुई मानी जायगी। किन्तु इसके स्थान पर यदि वह इस प्रकार आवेश से भरकर बात करे—'आकर देखे मेरे सामने, गर्दन ही न उतार दूँ तो क्या! कुल को कालिख लगाने वाले कलकी की हड्डी-पसली तोड दूँगा। चाहे जहन्नुम मे जाय, पर यहाँ कदम रखा तो टाँगे चीर दूँगा।" तो उसके इस कथन से क्रोध का प्रकाशन ही माना जायगा। अत क्रोधमिश्रित घृणा मे क्रोध या क्षोभ घृणा के ही आश्रय रहता है और सद्य प्रवृत्ति उद्धतता की नही होती, जबकि क्रोध मे उद्धत आवेश रहता है।

अब वीर रस और रौद्र रस का अन्तर स्पष्ट करते है। वीर रस के केवल युद्धवीर रूप से रौद्र रस की समानता दिखाई देती है, दानवीर, कर्मवीर आदि अन्य रूपो से उसकी कोई समानता नही। युद्धवीर मे भी वस्तुत आलम्बन शत्रु नही होता, युद्ध-कर्म ही आलम्बन होता है। आचार्यो ने विजेतव्य को जो वीर का आलम्बन कहा है, उससे अभिप्राय शत्रु की बजाय विजेतव्य कर्म अर्थात् युद्ध ही लेना चाहिए। इस दृष्टि से दोनो का आलम्बन-भेद भी स्पष्ट हो जाता है। फिर भी युद्ध मे प्रत्यक्ष आलम्बन शत्रु ही प्रतीत होता है। उस सूरत मे दोनो का निर्णय स्थायी भाव की दृष्टि से ही किया जा सकता है। युद्धवीर मे जब शत्रु से द्वन्द्व-प्रहार आदि के मूल मे युद्धोत्साह, साहस, स्वाभिमान-रक्षा, गर्व या अपनी वीरता के प्रदर्शन का भाव रहता है तो वहाँ वीर रस ही मानना चाहिए। ऐसी स्थिति मे क्रोध सचारी रूप मे ही रहता है, किन्तु शत्रु के कटु वचनो या किसी अपराध, अन्याय से उत्तेजित होकर जब क्रोध प्रचण्ड हो जाता है, उत्साह-साहस आदि केवल सचारी रह जाते है, या उद्धतता की स्थिति मे छिप-से जाते हैं और प्रतिशोध की प्रतिहिंसात्मक भावना प्रबल हो उठती है, वहाँ क्रोध की प्रधानता होने से रौद्र रस ही मानना चाहिए। निम्न उदाहरण देखिए—

श्री कृष्ण के सुन वचन अर्जुन क्षोभ से जलने लगे।
सब शील अपना भूलकर करतल युगल मलने लगे।
ससार देखे अब हमारे शत्रु रण मे मृत पडे।
करते हुए यह घोषणा वे हो गए उठकर खडे।
उस काल मारे क्षोभ के तनु काँपने उनका लगा।
मानो पवन के जोर से सोता हुआ अजगर जगा।

यहाँ शत्रु का अपराध (अभिमन्यु का अन्यायपूर्वक वध) क्रोध का आलम्बन है। कौरवो का हर्ष मनाना और कृष्ण के वचन उद्दीपन विभाव है। अर्जुन की घोषणा, क्रोध से जलना, हाथ मलना, आवेश मे खडे होना, कपन आदि अनुभाव है, तथा क्षोभ, शोक, आवेग, गर्व, आवेश, उग्रता आदि सचारी भाव-उद्दीपन भी स्पष्ट है। अत क्रोध स्थायीभाव की पूर्ण व्यजना होने से यहाँ रौद्र रस की अनुभूति ही होती है। यहाँ शत्रु के अपराध के आधार पर क्रोध की ही जागृति दिखाना कवि

का उद्देश्य है, अर्जुन की वीरता (उत्साह-साहसादि) सचारी ही रह गई है। अत इसे वीर रस का उदाहरण मानने की बजाय, रौद्र रस का ही उदाहरण माना जायगा। अब भिखारीदास जी का निम्न पद्य देखिए। उन्होने इसे अपने 'काव्य-निर्णय' मे रौद्र रस के उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किया है—

देखत मदध दसकध अधधुध दल,
बधु सो बलकि बोल्यो राजा राम बरबड।
लच्छँन विचच्छँन सँम्हारे रहौ निज पच्छ,
देखि हौ अकेले हौं-ही अरि-अनी परचड।
आज अघवाऊँ इन सत्रुन के स्रोनितन,
'दास' भनि बाढी मेरे बानहि तृषा अखड।
जाँन पन सक्कस, तरक्क उठ्यौ तक्कस,
करक्क उठ्यौ कोदड, फरक्क उठे भुजदड॥

इस उदाहरण मे रौद्र रस मानना भ्रान्ति ही है। यहाँ क्रोध का प्रचण्ड रूप प्रधान नही है, अपितु शत्रु की अपार सेना और उसके मद-अहकार को देखकर वीर के उत्साह-साहस के उत्तेजित होने की ही व्यजना है। श्रीराम लक्ष्मण को कहते हैं कि मै अकेला ही शत्रु सेना से भिड जाऊँगा और अपने अत्यन्त तृषित बाणो को शत्रु के शोणित से तृप्त करूँगा। यह प्रण ठानने पर उनका अग-अग फडक उठा। अत इसे युद्धवीर का उदाहरण मानना ही युक्तियुक्त है। यदि क्रोध का उद्धत रूप प्रमुख होता तभी रौद्र रस का उदाहरण बनता।

इसी प्रकार पद्माकर जी के 'जगद्विनोद' मे रौद्र रस का निम्न उदाहरण वीर रस का उदाहरण ही है—

वारि टारि डारौ कुभकर्नहिं विदारि डारौ,
मारौ मेघनादै आजु यौ बल अनत हौ।
कहै पद्माकर त्रिकूट ही को ढाहि डारौ,
डारत करेई यातुधानन को अत हौ।
अच्छहि निरच्छ करि तच्छ ह्वै उचारौ, इमि,
तोसे तिच्छ तुच्छन को कछुवै न गन हौ।
जारि डारौ लकहि उजारि डारौ उपवन,
फारि डारौ रावन को तो मैं हनुमत हौ।

"तो मैं हनुमत हौ" मे वीर की गर्वोक्ति स्पष्ट है। यहाँ न तो क्रोध का स्पष्ट आधार ही है और न ही उसका उद्धत प्रचण्ड रूप दिखाई देता है। अपना बल-विक्रम दिखाना ही वीर का उद्देश्य है। क्रोध केवल सचारी बना हुआ है। अत इसे युद्धवीर का उदाहरण मानना ही समीचीन होगा। इस प्रकार बहुत-से विद्वानो ने

रौद्र रस के ऐसे ही उदाहरण प्रस्तुत किये है, जो युद्ध वीर के उदाहरण ही प्रतीत होते है। केशव की 'रसिक प्रिया' मे 'श्री कृष्ण को रौद्र रस' तो अत्यन्त हास्यास्पद है। इसी प्रकार रस-रत्नाकरकार श्री हरिशकर शर्मा का रौद्र का उदाहरण श्रृगार रस का ही उदाहरण है।

अत रौद्र रस वहाँ मानना चाहिए जहाँ क्रोध का आवेशयुक्त चित्रण हो। स्थायीभावो मे क्रोध सर्वाधिक आवेशयुक्त भाव है। इस आवेशयुक्त भाव की स्थिति आश्रय मे एक समय पर बहुत देर तक नही रहती। यही कारण है कि रौद्र रस को अगी बनाकर बहुत कम रचनाएँ रची गई है। 'वेणीसहार' नाटक मे भीम के क्रोध का पर्याप्त प्रसार हुआ है। अत उसमे रौद्र रस की व्यजना अच्छी हुई है।

रौद्र रस के भरत मुनि आदि ने नेपथ्य, अग और वाक् नामक तीन भेद किए है। नेपथ्य से उनका अभिप्राय वेशभूषा-रूप है, अग से सक्रियता और वाक् से वचन-रूप। वास्तव मे रौद्र रस का यह विभाजन भी व्यर्थ ही है। सभवत भरत मुनि ने अभिनय की दृष्टि से ही यह विभाजन किया था। क्रोध के आश्रय की उद्धत चेष्टाओ अर्थात् क्रिया के बिना उसकी उग्र वेश-भूषा-आकृति अथवा उग्र वचन रस-व्यजना पूरी तरह नही करा सकते। इसके रूप-भेद भी आवेश तथा सचारियो के आधार पर ही करने चाहिएँ। आलम्बनो के आधार पर भी व्यक्तिगत अपमान-जन्य, अत्याचारी-अन्यायी-विषयक, सामाजिक-क्रोध (सामाजिक बुराइयो के प्रति) आदि कई रूप-भेद हो सकते है।

रौद्र रस के सम्बन्ध मे यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि इसका आलम्बन जितना अधिक लोक-पीडक, अत्याचारी-अन्यायी, अपराधी होगा, और उसका अपराध जितना अधिक सामाजिक होगा, उतना ही अधिक उदात्त रौद्र रस प्रकाशित होगा। मामूली अपराध प्रचण्ड क्रोध का विषय कम बनेगा और उससे हमारी नैतिक भावना भी कम ही पुष्ट होगी। अत लोक-पीडक, अत्याचारी आदि उदात्त विभावो तथा उदात्त अनुभाव, सचारी भावादि से पुष्ट रौद्र रस उदात्त रस होता है। जीवन के भिन्न-भिन्न पक्षो से उसका सम्बन्ध होता है। लोक-जीवन मे न्याय, धर्म और सत्य की स्थिति-रक्षा तथा अन्याय, अधर्म और असत्य के उन्मूलन का वह प्रबल साधन है।

भयानक रस

आचार्यो का रस-दृष्टि-दोष दर्शाते हुए हम पहले ही स्पष्ट कर चुके है कि भयानक रस भी आचार्यो की उपेक्षा और भ्रातियो का शिकार रहा है। इसी से इसके उचित उदात्त रूप की प्रतिष्ठा आज तक नही हो पाई। डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित ने भी परम्परागत लका-दहन के प्रसग को भयानक रस का "उत्कृष्ट उदाहरण" कहकर प्रस्तुत किया है। परन्तु हम पहले ही इस मत का खण्डन कर चुके है। शत्रु-पक्ष के भय से हमारा भाव-तादात्म्य नही हो सकता। कवि का उद्देश्य भी शत्रु पक्ष

मे भय की अभिव्यक्ति-द्वारा अपने नायक का जय-घोष करना ही होता है। भूषण कवि ने शिवाजी के आतक का वर्णन इसी हेतु किया है। शत्रु और उसकी नारियो मे भय का सचार हमारी भयानुभूति वहाँ नही जगाता। निम्न उदाहरण मे कस का सियारपन (कायरता) दिखाना ही उद्देश्य है। उसके त्रास-द्वारा पाठक मे भयानक रस-सचार कैसे सभव हो सकता है? भिखारीदास के 'काव्य निर्णय' का यह पद्य पढिए—

आयौ कॉन्ह सुनि भूल्यौ सकल सॉयनपॅन,
स्यार-पॅन कस को न कहत सिरात है।
व्याल बर पूरब चॅडूर द्वार ठाढे तऊ,
भभरि भगाइ भयौ भीतर-ही जात है।
दास ऐसी डर-डरी मति है तहाँ-हू ताकी,
भरभरी लागी मॅन थरथरी गात है।
खरक हूँ के खरकत धकधकी धरकत,
भोन कोन मे सिकुरत सरकत जात है॥

आश्चर्य है कि यहाॅ विद्वान् भयानक रस की अनुभूति कैसे कर बैठे! स्पष्ट है कि कृष्ण की वीरता और कस की कायरता का यहाॅ प्रकाशन हुआ है। उसके डरने से उसके प्रति हमारी घृणा ही चाहे व्यजित हो, भयानुभूति नही हो सकती। इसी प्रकार पद्माकर जी ने 'जगद्विनोद' मे भ्रातिपूर्ण उदाहरण दिए है। उनका एक उदाहरण देखिए—

झलकत आवै झु ड झिलम-झलानि झप्यो,
तमकत आवै तेगवाही औसिलाही है।
कहै पदमाकर त्यौ दु दुभी धुकार सुनि,
अकबक बोलै यौ गनीम औ गुनाही है।
माधव को लाल कालहू ते विकराल दल,
साजि धायो ए दई दई धौं कहा चाही है।
कौन को कलेऊ धौ करैया भयो काल अरु,
कापै यो परैया भयो गजब इलाही है॥

आश्चर्य है कि वीरनायक से डरकर त्राहि-त्राहि मचाने वाले शत्रु-पक्ष के भय का भावन इन्होने कैसे कर लिया! सबसे बडा आश्चर्य यह है कि ये कवि स्वय स्वरचित उदाहरणो के प्रस्तुतकर्त्ता है और स्वानुभूत भाव या रस को भी समझ-समझा नही पाये। डा० विपिन बिहारी त्रिवेदी और डा० उषा गुप्ता ने अपनी पुस्तक 'काव्य-विवेचन' मे ऐसे ही गलत उदाहरणो को भर रखा है। उनके सभी रसो के अनेक उदाहरण भ्रातिपूर्ण और गलत है।

वीभत्स रस से भयानक रस की उत्पत्ति के सिद्धात का भी हम खण्डन कर चुके है। बीभत्स-दर्शन भयानक भी हो, यह अनिवार्य नही माना जा सकता। आलम्बनत्व की समानता के आधार पर भय और घृणा का अन्तर हम आगे स्पष्ट करेंगे, यहले भयानक रस के सही स्वरूप को समझना आवश्यक है। भयानक रस का स्थायी भाव भय है। भय आदि मानव की मूल प्रवृत्ति है। किन्तु हमारा स्थायी भाव भय भी सामान्य लौकिक भय नही है। कायरो का युद्ध से डरकर भागना, या मामूली बात पर भयभीत होना भय के अनुचित रूप है। ये स्थायी भाव भय का विषय नही बनते। उचित भय ही अर्थात् ऐसा भय जो सब को स्पृहणीय और उचित भय लगे, स्थायी भाव भय कहलाता है। इस भय मे उदात्तता रहती है। जैसे पाप-कर्मो से भय खाना, हिंसक जीव-जन्तुओ से भयभीत प्राणी के भय से तादात्म्य, किसी प्रबल द्वारा अबल या अबला का भयभीत होना, भयकर अनिष्टकारी वस्तु से त्रस्त प्राणी के प्रति भाव-सवेदना, सामाजिक बुराइयो से डरना, दैविक उत्पात का भय आदि भय के ऐसे रूप है जिनमे हमारी मानवीय सहानुभूति का विस्तार होता है और हम उदात्त भयानुभूति प्राप्त करते है। पाप-कर्मो तथा सामाजिक बुराइयो से भयभीत होने की स्थिति तो स्पष्ट ही उदात्त प्रवृत्तियो से सम्बन्ध रखती है। इसी प्रकार अनिष्टकारी परिस्थितियो, वस्तुओ, व्यक्तियो, हिंसक जीव-जन्तुओ, दैवी सकटो से भयभीत प्राणी का वर्णन पढने या दृश्य मे देखने से उसके प्रति हमारी सहानुभूति का विस्तार होता है। हम उससे भाव-तादात्म्य उसी प्रकार स्थापित करते है जैसे करुण रस मे दुखी प्राणी से करते है। इस प्रकार का सहानुभूति-प्रसार मानवीय उदात्त प्रवृत्तियो का ही द्योतक और प्रेरक है। अत भयानक रस के उदात्त होने मे सदेह नही होना चाहिए। ऐसा उदात्त भय ही भयानक रस का विषय समझना चाहिए जिसमे भयभीत प्राणी के प्रति हमारी सहानुभूति का प्रसार हो, उसके भय को हम अपना सके। कस आदि शत्रु-पक्ष का भय ऐसा नही होता। पडितराज जगन्नाथ का भयानक रस का उदाहरण बहुत उपयुक्त है—

श्येनमम्बरतलादुपागत शुष्यदाननविलोविलोकयम्।
कम्पमानतनुाकुलेक्षण स्पदितु नहि शाक लावक ॥

अर्थात् "निरीह लावक ने जब गगन तल से झपटते हुए बाज को देखा तो उसका मुख सूख गया, तन काँपने लगा, आँखे आकुल हो गई, वह ऐसा भयभीन हुआ कि हिल भी न सका।"

यहाँ भयभीत लावक के प्रति हमारी सहानुभूति जगती है और उसके भय से हमारा तादात्म्य हो जाता है। अत यह भयानक रस का उचित उदाहरण है। ऐसे विवश निरीह प्राणियो के प्रति हमारी सहानुभूति (सह-अनुभूति) निश्चय ही उदात्त अनुभूति है। कोई व्यक्ति कोई बुरा कर्म कर बैठता है या करने की ठान लेता है।

अब यदि उसे बुरे कर्म के परिणाम का भय होने लगे, वह ईश्वर के न्याय से भयभीत हो उठे, स्वप्न या कल्पना मे अपने को नरक मे पडा अनुभव करके डर उठे, तो उसके इस डर मे भी हमारा तादात्म्य होगा और उसका यह भय हमे स्पृहणीय लगेगा , उदात्त होगा । ऐसी आत्म-भीति घृणा की आत्मग्लानि की तरह उदात्त प्रवृत्तियो को जगाने वाली होगी । निश्चय ही ऐसे प्रसग मे उदात्त भयानक रस की सिद्धि होगी । अत उदात्त भयानक रस की स्थिति वही होगी जहाँ या तो भयानुभूति हमारी नैतिक भावना को पुष्ट करती हुई उदात्त प्रवृत्तियो को जगायगी अथवा जहाँ भयभीत प्राणी के भाव तादात्म्य से हमारी सहानुभूति का प्रसार होगा । इसके बिना भयानक अनुभूति की रसवत्ता सिद्ध ही नही होती ।

अत भयानक रस के आलम्बन पाप या पाप कर्म, सामाजिक तथा अन्य बुराइयाँ, हिसक जीव-जन्तु, प्रबल अन्यायकारी व्यक्ति, भयकर अनिष्टकारी वस्तु, दैवी उत्पात या सकट, भूत-प्रेत आदि होते है । आश्रय की असहाय अवस्था, आलम्बन की भयकर चेष्टाएँ, नि र्जन स्थान, अप-शकुन, वध-बध आदि उद्दीपन का कार्य करते है । हाथ-पाँव काँपना, नेत्र-विस्फार, भागना, स्वर-भेद, उँगली काटना, जडता, स्तब्धता, रोमाच, कठावरोध, गद्-गद्-स्वर, मूर्च्छा, चीत्कार, रोमाच, स्वेद, वैवर्ण्य, सहायता के लिए इधर-उधर देखना, शरण ढूढना, दैन्य-प्रकाशन, रुदन आदि अनेक अनुभाव प्रकट हो सकते है, तथा शका, आवेग, अमर्ष, स्मृति, आशका, अपस्मार, मरण, घृणा, शोक, भ्रम, ग्लानि, चिता, दैन्य, मोह, चपलता, सभ्रम, किकर्त्तव्य-विमूढता, निराशा, आशा आदि अनेक सचारी भाव प्रकट हो सकते है ।

भयानक रस का प्रसार भी आलम्बनो की विविधता से जीवन की अनेक परिस्थितियो मे पाया जाता है । ऊपर के उदाहरण से यह भी स्पष्ट है कि न केवल मानव मे बल्कि मानवेतर प्राणियो के सामने भी भयकर परिस्थितियाँ उत्पन्न होती है । निरीहता के प्रति सहानुभूति और सवेदना जगाना इसका बडा लक्ष्य है । भय की स्थिति मे बडी-से-बडी हानि और अनिष्ट की सम्भावना रहती है, यहाँ तक कि प्राण-हानि का सकट भी उत्पन्न होता है, इसलिए इसका प्रभाव भी हृदय पर बहुत पडता है । इसके उदात्त रूप की सिद्धि मानवता को ऊँचा बनाती है । "बिनु भय होय न प्रीति" कहने वाले भी ईश्वर से डरते हुए सत् पथ की ओर अग्रसर होते है । ईश्वरीय न्याय का डर तथा शासन का भय मानव को अनेक बुराइयो से दूर रखता है । आज के दूषित अपराधी जीवन मे ईश्वरीय भय तथा राजदण्ड के भय मे शिथिलता आ जाने का ही परिणाम है कि मनुष्य भयकर अपराधो मे पडने लगा है ।

डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित ने भयानक, रौद्र और अद्भुत रसो के सम्बध मे कहा है कि इनमे विवेक की हानि होती है । हम पहले भी इस बात का खण्डन कर चुके हैं कि रसानुभूति की अवस्था मे पाठक या दर्शक पूरी तरह विवेकशील रहता

है। अत भयानकादि रसो मे विवेक की हानि मानना भ्राति ही है। एक ओर तो उनका कथन है कि "बाल्यावस्था मे जिन बातो से डर लगता है, उन्ही से प्रौढता मे निर्भयता रहती है। क्योकि विवेक का ससर्ग हो जाता है।" दूसरी ओर वे विवेक-क्षय की बात करते है। भयानक रस के बारे मे यह बात नही मानी जा सकती कि हम उसमे भय की अनुभूति विवेक खोकर करते है, अर्थात् उस समय हम भूल जाते है कि हमे डरना था या नही या रसानुभूति के बाद विवेक जागृत होने पर हमारे मन मे यह आता है कि ऐसी परिस्थिति से हमने क्यो भय खाया। वास्तव मे जिन आलम्बनो से हमे भयानक रस के अनुभूति-काल मे भय प्रतीत होता है, वे भय के सोचे-समझे उचित आलम्बन होते है। अत विवेक के क्षय की बात भ्रातिपूर्ण ही है।

यद्यपि "घृणा और भय की प्रवृत्ति एक-सी है, दोनो अपने-अपने विषयो से दूर होने की प्रेरणा करते है", तथापि दोनो मे अन्तर स्पष्ट है। हम भय के आलम्बन से भय खाते है, जबकि घृणा के आलम्बन के समक्ष हम अपने को उससे अधिक सशक्त या उत्तम समझते है। किन्तु भयानक रस मे शक्ति या विवेक के ह्रास की बात कभी नही मानी जा सकती। इस सम्बन्ध मे बाबू गुलाबराय की एक परम्परागत भ्राति का निराकरण आवश्यक है। बाबूजी का कथन है—"श्मशान आदि के वर्णनो मे बीभत्स और भयानक मे थोडा ही भेद रह जाता है। दुर्बल-हृदय पुरुष के लिए यही भयानक हो जाता है, जोकि हृष्ट-पुष्ट निर्भय पुरुष के लिए बीभत्स होगा। भयानक मे भयावह वस्तु से भागकर आत्मरक्षा की जाती है और बीभत्स मे वस्तु को अपने से हटाकर या हटवा कर आत्मरक्षा की जाती है। भयानक मे यद्यपि आत्मभाव का ह्रास हो जाता है तथापि उसमे मनुष्य की शक्तियाँ केन्द्रस्थ हो जाती है, और मनुष्य अपने मे एक अपूर्व शक्ति का अनुभव करने लगता है। जो लोग भयवश भागते है, वह अपनी शक्ति से अधिक काम कर बैठते हैं। क्रोध, वीर और भयानक मे शक्ति का सचार होने लगता है। बीभत्स पदार्थो के सामने एक प्रकार से शक्ति का ह्रास हो जाता है। आजकल के मनोवैज्ञानिको ने यह सिद्ध किया है कि सुन्दर पदार्थो के अवलोकन से उदर के रस जो कि भोजनादि का पाचन करते है अधिक उत्पन्न होते हैं और भयानक तथा बीभत्स पदार्थो के सामने एव क्रोध और शोक के आवेग मे यह रस न्यूनता से उत्पन्न होते है।"[1]

कहने की आवश्यकता नही कि बाबू जी की यह विवेचना लौकिक भावो से ही सम्बन्ध रखती है, स्थायीभावो या रस से नही। क्रोध, भय, घृणा आदि लौकिक भावो की अनुभूति तो अवश्य शरीर-विज्ञान की दृष्टि से स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव डाल सकती है, पर रौद्र, भयानक, बीभत्स आदि रसानुभूति के बारे मे यह नही कहा

१. नवरस, पृ० ५०१-५०२।

जा सकता। करुण, बीभत्स, भयानक रसानुभूति को असुन्दर मानना आलोचना की त्रुटि ही है। आगे हमने स्पष्ट किया है कि बीभत्स रस के बीभत्स आलम्बनो, भयानक रस के भयावह आलम्बनो, करुण के शोकोत्पादक आलम्बनो, रौद्र रस के क्रोधोत्पादक आलम्बनो अर्थात् असुन्दर एव दुखोत्पादक आलम्बनो से भी रसानुभूति की दशा मे सात्त्विक सुखानुभूति तथा सौन्दर्यानुभूति ही होती है। यह एक ऐसा विरोधाभास है जो लौकिक मनोवैज्ञानिक दृष्टि के स्थान पर साहित्यिक काव्य-मनोवैज्ञानिक दृष्टि से—रस-दृष्टि से—समझने पर ही स्पष्ट होता है। बीभत्स रस मे शक्ति के क्षय की बात भी उन्होने लौकिक घृणा भाव या वस्तुगत ग्लानि को ही बीभत्स रस मान लेने के कारण की है, जो सर्वथा अनुचित है। उनके विवेचन मे विचित्र विरोधाभास है। एक ओर तो वह भयानक रस मे शक्ति का सचार मानते है और कहते है कि "भय मे मनुष्य की शक्तियाँ केन्द्रस्थ हो जाती है और मनुष्य अपने मे अलौकिक बल का अनुभव करने लगता है, बहुत से लोग इसी अपूर्व बल का अनुभव करने के लिए भयोत्पादक स्थानो मे जाते है, उन लोगो को भयानक स्थानो मे एक प्रकार का आनन्द आता है।" दूसरी ओर उनका कथन है—"रौद्र मे एक प्रकार का सुख होता है, क्योकि उसमे शत्रु पर विजय पाकर उसका प्रतिकार करने की आशा रहती है। बीभत्स और भयानक इन दोनो मे चित्त की रुचि मिट जाती है।" वास्तव मे रसानुभूति की सब अवस्थाएँ आनन्दात्मक होती है, अत किसी मे सुख मानना और किसी के सम्बध मे रुचि मिट जाने की बात करना व्यर्थ ही है। आश्चर्य है कि बाबू जी भयानक रस के उदात्त और सशक्त आनन्दात्मक रूप पर विचार करते-करते रुचि के मिट जाने की बात कैसे कह गए! उनकी इस बात मे भी साहित्यिक सत्य नही है कि भयानक मे बीभत्स से अधिक तीव्रता होती है, क्योकि भय की स्थिति मे रुधिर-सचालनादि की क्रियाएँ तीव्र हो जाती है। वास्तव मे भय की लौकिक अनुभूति मे तो अवश्य हमारी इन्द्रिय-शक्ति केन्द्रस्थ होकर अनुभूति को अधिक तीव्र और सक्रिय करती है, रुधिर-सचालनादि की क्रियाएँ तीव्र हो जाती है, पर काव्यगत अनुभूति घृणा से तीव्र नही मानी जा सकती। यदि ऐसी लौकिक ऐन्द्रिक प्रतिक्रिया होने लगे तो नाट्य-दर्शक क्रोध के आलम्बन को मारता और भय से भागता ही दिखाई दे। अत भय की काव्यगत अनुभूति घृणा से तीव्र नही मानी जा सकती। बल्कि बीभत्स रस मे भयानक की अपेक्षा अधिक व्यापकता और अधिक तीव्रता होती है। जीवन की अनेकानेक परिस्थितियो का जो सम्बध घृणा से है, उतना शायद भय से नही।

भय के तीन भेद वास्तविक (डाकू आदि अनिष्टकारी भयावह आलम्बनो से उत्पन्न), काल्पनिक (भूत-प्रेत आदि से) तथा भ्रम-जनित (जैसे रस्सी को साँप समझ लेने से) मानकर बीभत्स रस के भी वास्तविक, काल्पनिक तथा भ्रमजनित, तीन भेद

बनाये जाते है। परन्तु रसानुभूति मे भ्रम, कल्पना आदि भी वास्तविक भय के रूप मे ही प्रकट होते हे, क्योकि यदि पाठक या दर्शक को भ्रम या कल्पना का ज्ञान रहेगा तो भयानुभूति हो ही नही सकती। अत ये भेद व्यर्थ ही प्रतीत होते है। वास्तव मे भयानक रस के रूप-भेद भी आलम्बनो की विविधता के आधार पर पाप, पाप-कर्म या बुराई से स्वनिष्ठ भय, सामाजिक भय, (सामाजिक बुराइयो या समाज के विरुद्ध आचरण से सामूहिक भय), हिंस्र जीव-जन्तुओ या भयावह वस्तुओ-स्थानो के दर्शन से उत्पन्न, अत्याचारी-अन्यायी व्यक्ति से भय, दैवी सकटज आदि भय के अनेक रूप प्रकट होते है। जिस प्रकार घृणा मे आत्मग्लानि-रूप बीभत्स रस होता है। उसी प्रकार भयानक रस मे आत्मभीति-रूप मे भी भयानक रस होता है। इस आत्मनिष्ठ भयानक मे जब मनुष्य अपने पापो या बुराइयो से भयभीत होता है तो वहाँ भयानक रस का अत्यन्त उदात्त रूप प्रकट होता है। इसी प्रकार परनिष्ठ अर्थात् भय के दूसरे आलम्बनो से उत्पन्न भयानक रस मे भी जब भयावह स्थानो या वस्तुओ की अपेक्षा सामाजिक या वैयक्तिक बुराइयो से भय उत्पन्न होता है, तो वहाँ भयानक रस का अपेक्षाकृत अधिक उदात्त रूप प्रकट होता है। कहने का तात्पर्य यह कि सामाजिक या नैतिक बुराइयो के भयावह रूपो मे उदात्त भयानक रस की स्थिति रहती है। जितना ही अधिक भयावह नैतिक बुराइयो का रूप होगा उतना ही अधिक उदात्त भयानक रस प्रतीत होगा।

आज के बुद्धिवादी युग मे भूत-प्रेत, भैरव तथा योगिनियाँ आदि आलम्बन अस्वाभाविक-से ही प्रतीत होते है। इसी प्रकार श्राप आदि भी भय के आलम्बन विशेष नही बन सकते। दैविक प्रकोप या उत्पात आदि के रूप मे अति-वृष्टि, बाढ, उपल-वृष्टि, तूफान, वज्रपात, अग्नि आदि के भयावह रूप प्रस्तुत किये जा सकते है। 'सूरसागर' मे इन्द्र-प्रकोप से ब्रज पर अतिवृष्टि, दावानल का प्रकोप आदि ऐसे ही भयावह चित्रण है, जिनसे दैवीभय प्रकट होता है। हनुमान के लका-दहन-प्रसग को भयानक रस का विषय नही माना जा सकता, किन्तु 'सूरसागर' का निम्न दावानल प्रकोप निश्चय ही भयानक रस का उदाहरण है—

भहरात झहरात दवानल आयौ।
घेरि चहुँ ओर करि सोर अदोर बन,
धरनि आकास चहुँ पास छायौ।
झपटि झपटत लपट, पटकि फल चट चटकि,
फटत लट लटकि द्रुम-द्रुम नवायौ।
बरत बन पात भहरात झहरात,
अर्‌रात तरु महा धरणी गिरायौ।
भये बेहाल सब ग्वाल ब्रज बाल तब,
सरन गोपाल कहि कै पुकार्‌यौ।

अब भयानक रस और बीभत्स रस के सह-अस्तित्व पर विचार करके इस प्रकरण को समाप्त करते है। प्राचीन आचार्यो ने भी कहा है कि बीभत्स और भयानक के विभाव समान हो सकते है। परन्तु बीभत्स से भयानक की उत्पत्ति अनिवार्य नही मानी जा सकती। फिर भी इन दोनो रसो का सह-सचार सभव है, दोनो का मैत्री-भाव है। एक उदाहरण देखिए। पडित इलाचन्द्र जोशी के 'पर्दे की रानी' नामक उपन्यास मे इन्द्रमोहन निरजना को चकमा देकर एक होटल मे ले जाता है। वहाँ वह उससे जो व्यवहार करता है, उससे उसके प्रति उत्कट घृणा उत्पन्न होती है। शराब की गध के मारे निरजना का दिमाग भिन्नाने लगता है। वह उसे तुरन्त वापस चलने को कहती है, पर वह तो अपनी वासना की अग्नि से जल रहा था। वह निरजना की इज्जत पर हाथ डालना चाहता है। वह उसे 'गुण्डा, कामी !' कहकर फटकारती है, दुत्कारती है और वहाँ से निकल जाना चाहती है। जब इन्द्रमोहन जबरदस्ती हाथ बढाता है तो वह उसका नाक मुँह अपने नाखूनो से खरोच डालती है। इस प्रसग मे घृणा, भय और क्रोध का भव्य मिश्रण हुआ है। घृणा स्थायी भाव मे मति सचारी का बहुत सुन्दर उदाहरण इस प्रसग मे मिलता है। उस घृणित पापी से छुटकारा पाने के लिए निरजना उसे अपने हाथ से खूब शराब पिलाती है और उसे खूब गुच करके बच निकलना चाहती है। जब इन्द्रमोहन पिस्तौल निकाल लेता है तो भयानक रस का स्वतत्र विकास हो जाता है। निरजना भयभीत हो उठती है। वह किसी तरह निकल भागती है और बदहवास घर पहुँचती है। घर आकर वह गुरु जी से सारा वृत्तात बताती है। तब उसकी भय-मिश्रित घृणा (बीभत्स रस) ही व्यजित होती है। जब होटल-काण्ड के बाद आधी रात को इन्द्रमोहन फिर निरजना के घर आ धमकता है, तो उसे देखकर निरजना की "ठीक वही दशा हुई जिस प्रकार एक बडे जहरीले बिच्छू को जमीन पर रेगते देखकर भय और घृणा के कारण रोमाच हो जाता है।" यहाँ फिर भयानक रस प्रकट होता है। इन्द्रमोहन निरजना से मिलना चाहता है, पर वह उसकी शक्ल भी देखना नही चाहती। हडबडी मे इन्द्रमोहन गुरु जी पर गोली चला देता है। वे बुरी तरह घायल होते है। निरजना भय से चिल्लाती है। वह इस भयानक दृश्य को देख भी नही सकती—अपनी आँखे दोनो हाथो से मूँद लेती है। इस भय के साथ घृणा और क्रोध भी स्फुट होते है। वह चिल्लाती है— "खून ! खून ! सुखदैया (नौकरानी) ! महाराज ! जल्दी आओ, पुलिस को बुलाओ।" इस काण्ड को देखकर निरजना के नौकर-चाकर भी स्तभित रह जाते है। इस प्रकार इस प्रसग मे बीभत्स रस और भयानक रस का सुन्दर सह-सचार हुआ है। यद्यपि विस्तृत व्यजना घृणा की ही है, तथापि बीच-बीच मे भय की पूर्ण स्थितियाँ भयानक रस का परिपाक भी करती है। बीभत्स रस भी भय-मिश्रित-रूप मे प्रकट हुआ है और भयानक रस मे भी घृणा सचारी भाव विद्यमान है। इस प्रकार इन दो रसो का सह-सचार अनेक रचनाओ मे सभव है।

भयानक रस अगी रूप मे शायद ही किसी भारतीय प्रबध-रचना मे मिले, किन्तु पाश्चात्य साहित्य मे ऐसा पर्याप्त कथा-साहित्य मिलता है जिसमे भयानक और करुण के सह-सचार मे भयानक रस प्रमुख दिखाई देता है। हिन्दी-कथा-साहित्य (कहानी-नाटक-एकाकी-उपन्यास) मे भी इसकी व्यजना पर्याप्त मात्रा मे हुई है। यह रस हिन्दी-कथा-साहित्य मे अधिकतर बीभत्स, करुण और अद्भुत रस के सह-सचार रूप मे पाया जाता है, जैसे ऊपर के उदाहरण मे दिखाया गया है। भयानक रस के लिए भयोत्पादक वातावरण और स्वतत्र परिस्थितियाँ दूर तक चित्रित करने की क्षमता भारतीय लेखको ने प्रकट नही की है। फिर भी छुट-पुट रूप मे यह रस काफी मात्रा मे पाया जाता है।

वात्सल्य रस

हम पहले भी निवेदन कर चुके है कि रति के भिन्न-भिन्न रूपो से शृगारेतर अन्यान्य रस प्रकट हो सकते है। जैसे पूज्य-श्रद्धेय के प्रति प्रेम से पितृ, गुरु, भगवद्भक्ति, माता-पिता या बडो के छोटो-बालको के प्रति स्नेह से वात्सल्य, मित्र-बधु के प्रति मित्रता या प्रेम मे सख्य प्रेम या भ्रातृ-प्रेम, देशानुराग से देश प्रेम या देश भक्ति आदि। प्राचीन आचार्यो ने भी इनकी स्थिति पर विचार किया है। किन्तु किसी ने इन सबका शृगारादि अन्य रसो मे ही अन्तर्भाव करना उचित माना है, किसी ने इन्हे भाव-कोटि मे ही स्थान दिया है तो अलकारवादियो ने प्रेयस्, प्रेयान् आदि रस-अलकारो मे इनकी गिनती की है। दाम्पत्य प्रेम को रति स्थायी भाव मान लिया गया है। दाम्पत्य प्रेम के स्वरूप से इन सब का कुछ-न-कुछ अन्तर रहता है, इसी से मूल मे प्रेम-भावना होते हुए भी ये सब अलग-अलग रस माने जाने चाहिये। भक्ति रस मे जो श्रद्धा और पूज्य-भावना रहती है, वह शृगार रस मे नही समा सकती। इसी प्रकार वात्सल्य मे बालक के भोलेपन, चचलता आदि के प्रति आकर्षण और उसके लालन-पालन की जो स्थितियाँ उपस्थित होती है, वे उसे शृगार रस से पृथक अस्तित्व प्रदान करती है। इसी प्रकार बधु-प्रेम तथा देश प्रेम की भी भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ और प्रवृत्तियाँ होती है। अत इन सबकी अलग-अलग सत्ता स्वीकार करना ही समीचीन है।

वात्सल्य रस को अलग स्वतन्त्र रस-रूप मे रुद्रट, दण्डी आदि ने प्रेयस् रस नाम से, तथा भोजराज और आचार्य विश्वनाथ ने इसी नाम से मान्यता दे दी थी। विश्वनाथ ने इसका स्थायीभाव वत्सलता या स्नेह कहा है। पुत्रादि सन्तान या बालक इसके आलम्बन हैं, उनकी चेष्टाएँ, तुतलाना, चचलता, नटखटपन, सुन्दरता, बुद्धि-चातुर्य-शौर्य आदि गुण उद्दीपन-विभाव है। आलिगन, चुम्बन, स्पर्श, मुग्ध होकर देखना, मीठी-मीठी बाते करना, पकवान पकाना, खिलाना, लालन-पालन करना, रक्षा करना, गद् गद् होना, पुलकित होना, वियोग मे दुखी होना, अश्रुमोचन,

रोमाच, स्वेद, कपादि सभी प्रकार के कायिक, वाचिक और सात्त्विक अनुभाव प्रकट होते है। हर्ष, गर्व, मोह, अभिलाष, आशा, चपलता, आवेग, अमर्ष, शोक, हास, चिन्ता, उद्वेग, शका, असूया, निन्दा, आशका, निर्वेद, विस्मय, उदासीनता, मति, स्मति, क्षोभ आदि अनेक सुखात्मक तथा दुखात्मक सब प्रकार के सचारियो का समावेश होता है।

वात्सल्य रस मे मातृ-प्रेम की विशेष विचित्रता रहती है। माता के हृदय मे पुत्र के जन्म से पूर्व ही स्नेह का सचार हो जाता है—

मृदुल मुकुल-सा मजु मनोहर शिशु का प्रादुर्भाव हुआ।
उसके पहले ही माता का प्रकट विश्व मे प्यार हुआ।

और अपने पुत्र की अभिलाषा-आशा मे मग्न माता मन मे अनेक कल्पनाएँ करने लगती है, सतान के स्वागत मे उसे प्रसववेदना भी वेदना अनुभव नही होती। कामायनी अपने गर्भस्थ शिशु के लिए पहले ही झूला बनाती है, वस्त्र बुनने लगती है और उल्लास से भरकर कह उठती है—

झूले पर उसे झुलाऊँगी
दुलराकर लूँगी वदन चूम,
मेरी छाती से लिपटा इस
घाटी मे लेगा सहज घूम।

बच्चे के जन्म के साथ ही माता के स्तनो मे पयधार का प्रवाहित हो जाना, पुत्र के बहुत दिनो बाद मिलने पर भी स्नेहातिरेक से सूखी छाती मे दूध उमड आना आदि मातृ-वात्सल्य की ऐसी विचित्रताएँ है, जो वात्सल्य रस को पृथक् स्वतन्त्र अस्तित्व प्रदान करती है। बाल-मनोविज्ञान का अध्ययन वात्सल्य के सिवा कहाँ हो सकता है? सूर के वात्सल्य-चित्रण ने इस रस की सर्वाग-पूर्णता को सिद्ध कर दिया है। आलम्बन बालक कृष्ण का कितना व्यापक और विशद् चित्रण सूरदास ने किया है! कृष्ण की रूप-माधुरी और बाल-छवि पर न जाने कितने पद है! घुँघराले बाल, धूलि-धुसरित, चचल चितवन, दधि-पुता मुख, घुटुरनु चलना, अटपटी बोली, अटपटी चाल आदि न जाने कितनी छवियो पर सूरदास रीझे है। बाल-मनोविज्ञान का भी भव्य चित्रण किया गया है। बालको की रीझ-खीझ, शिकायत, झगडना, नटखटपन, माटी खाना, अपना दोष छिपाना, खेलने मे रुचि, उलाहना देना, प्रत्युत्पन्न मति, छेड-छाड, घात, शरारत आदि अनेक मनोवृत्तियो का सजीव प्रकाशन सूर के पदो मे हुआ है। ये उद्दीपनकारी चेष्टाएँ असीम है। माता के अनुभावो की विविधता भी अनन्त है। लोरी देना, सुलाना, पालना झुलाना, खिलाना-पिलाना, साजसिगार, दूध के दाँत देखकर प्रसन्न होना, अभिलाषा करना, चलना सिखाना, अटपटा चलते देख हर्षित होना, रीझ-खीझ, शिकायत पर ताडन, वियोग मे छाती पीटना, पछाड खाकर गिर जाना, स्मरण, बालक की वस्तुओ से अनुराग जताना, उसके लिए मगल-शुभ-

शीष भेजना, सदेश भेजना, उलाहना, मिलने की उत्कण्ठा, हर्ष-शोक के आँसू आना, कम्प, रोमाच, कण्ठावरोध आदि न जाने माता यशोदा के कितने अनुभाव अत्यन्त मनोवैज्ञानिकता के साथ प्रकट हुए है। सयोग और वियोग दोनो अवस्थाओ मे अनेक सुखात्मक तथा दुखात्मक सचारी भाव प्रकट हुए हे। निस्सदेह सूरदास ने "वात्सल्य का कोना-कोना झाॅक" मारा है।

शृगार की तरह वात्सल्य के भी सयोग और वियोग दो पक्ष होते है। दोनो के अन्तर्गत वात्सल्य का अत्यन्त व्यापक चित्रण होता है। स्वसतति प्रेम तथा पर-बाल-स्नेह ये दो भेद और वात्सल्य रस मे होते है। जब माता-पिता का अपनी सतान के प्रति स्नेह व्यजित होता है, वहाँ स्वसतति वत्सलता और जहाँ दूसरे के बालक या बालको से प्रेम किया जाता है, वहाँ परबाल-वत्सलता होनी है। सयोग-अन्तर्गत बाल-चित्रण मे रूप-चित्रण, चेष्टाओ का वर्णन तथा बाल-स्वभाव (बाल-मनोविज्ञान) का चित्रण आदि उपभेद आते है। पूर्व राग की स्थिति का हम ऊपर उल्लेख कर चुके है। यह सयोग से अलग नही, मानसिक सयोग की ही दशा माननी चाहिए। यह मातृत्व (माता के स्नेह) का ही रूप-भेद हो सकता है। वियोग के भी आशापूर्ण और निराश वियोग दो भेद हो सकते है। पहले मे आशा बनी रहने के कारण करुणा का सचार कम होता है, दूसरे मे करुणा घनीभूत हो जाती है।

यद्यपि वत्सलता (प्रेम) का भाव अपने मे उदात्त भाव है और वात्सल्य रस की सब स्थितियाँ और अनुभूतियाँ उदात्त होती है तथापि इसमे भी जितनी ही अधिक उदात्त भावनाएँ, जैसे त्याग, सेवा, रक्षण, वीरता, धीरता आदि सचरण करेगी उतना ही अधिक वात्सल्य रस उदात्त होगा। इन त्याग, सेवा, रक्षण आदि की भावनाओ से वत्सलता प्रगाढ होती है। दूसरे, स्वसतति की अपेक्षा परसतति-स्नेह मे अधिक उदात्तता होती है, क्योकि परसतति-स्नेह मे हृदय की उदारता और भव्यता का अधिक स्पष्ट प्रकाशन होता है। श्री चन्द्रगुप्त विद्यालकार की 'गुलाब' नामक कहानी मे परसतति-वत्सलता का भव्यतम प्रकाशन मिलता है। वात्सल्य रस का इतना सुन्दर, इतना उदात्त और इतना मार्मिक चित्रण बहुत कम रचनाओ मे हो पाता है। कौशिकजी की 'ताई' कहानी मे भी सकुचित मातृत्व के स्थान पर उदार मातृत्व की भव्य प्रतिष्ठा की गई है।

भक्ति रस

जैसा कि कहा जा चुका है, प्राचीन आचार्यों ने दाम्पत्य रति से पृथक् रूप मे प्रीति, स्नेह आदि नाम से अन्यान्य प्रेम-व्यवहार को प्रेयस्, प्रेयान् आदि रसो अथवा रसवत् अलकार-रूप मे अपनी विवेचना का विषय बनाया है। किन्तु किसी ने भक्ति रस को स्वतत्र रस की मान्यता नही दी। अधिकाश आचार्यो ने देव-विषयक रति को भाव-कोटि मे ही स्वीकार किया। अभिनवगुप्त, धनजयादि ने इसका अन्य रसो मे ही अन्तर्भाव किया है। यहाँ तक कि रस-सख्या-वृद्धि के पक्षपाती भोजराज एव

वात्सल्य रस को पृथक् रस मानने वाले विश्वनाथ ने भी भक्तिरस को पृथक् सत्ता प्रदान नही की। मधुसूदन सरस्वती-रूप गोस्वामी और जीव गोस्वामी ने भक्ति रस को शास्त्रीय मान्यता प्रदान की। हमारे यहाँ पुराण-साहित्य—विशेषकर श्रीमद्भागवत-पुराण मे, तथा नारद-भक्ति-सूत्र, शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र जैसे ग्रन्थो मे भक्ति की विस्तृत विवेचना हुई है। रूप गोस्वामी ने 'उज्ज्वल नीलमणि' तथा 'हरिभक्तिरसामृतसिधु' मे तथा जीवगोस्वामी ने 'भगवद्भक्तिरसायन' नामक रचनाओ मे भक्ति रस को काव्य-शास्त्रीय ढग पर स्वतन्त्र रस सिद्ध करते हुए भक्ति की महत्ता सिद्ध की है। किन्तु इन सब विद्वानो ने भी केवल भगवान्-विषयक रति या भक्ति पर ही अपनी वैष्णवी भावना के आश्रय विचार किया है।

श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है। भक्ति रस की शृगार आदि से पृथक् सत्ता स्वय-सिद्ध है। भक्ति रस अपने मे पूर्ण रस है। उसकी तीव्रता, व्यापकता और आस्वाद्यता मे कोई सदेह नही हो सकता। इसका स्थायी भाव विद्वानो ने भगवान् अथवा भगवान् के अवतारी रूपो के प्रति रति (प्रेम) को बताया है। किन्तु भगवान् के अतिरिक्त किसी भी श्रद्धेय-पूज्य व्यक्ति को इसका आलम्बन माना जा सकता है। अत भगवदनुराग (पूज्य-रति) को इसका स्थायी भाव मानना चाहिए। माता, पिता, पितामह, गुरु आदि पूज्य व्यक्तियो के प्रति भी श्रद्धा-भक्ति प्रकट की जाती है। इस प्रकार भक्ति रस के अन्तर्गत भगवद्भक्ति (भगवान, देवादि के प्रति भक्ति) के अतिरिक्त पितृभक्ति, मातृभक्ति, गुरुभक्ति आदि को भी सम्मिलित करना चाहिए। पितृ-गुरुभक्ति आदि की भी उपेक्षा नही की जा सकती। गुरु गोविन्दसिह पर जान देने वाले उनके श्रद्धालु शिष्यो की गुरु-भक्ति कम महत्त्वपूर्ण नही है। वास्तव मे जहाँ भी प्रेम के साथ पूज्य भावना का मेल हो, वही भक्ति रस का सचार मानना चाहिए।

महान् की पूजा का सस्कार भी आदि काल से ही मानव का सस्कार-बद्ध भाव है। आदि काल से ही मानव अपने को अपूर्ण, प्रकृति की शक्तियो के समक्ष असमर्थ और अयोग्य समझता आया है। आदिम मानव जब बवडर, भूकप, उपल-वृष्टि और अति-वृष्टि आदि प्राकृतिक प्रकोपो से भयभीत हुआ होगा, तभी से उसे अपनी अपूर्णता का भान हो गया होगा। इस भयभीत मानव ने सर्वप्रथम भय के कारण ही प्रकृति की शक्तियो को प्रसन्न करके अपने अनुकूल करने की भावना अपनाई और वह उनके प्रति स्तुति-गान करने लगा। फिर जब उसने प्रकृति के आह्लादकारी रूप का भी अनुभव किया, तो वह प्रकृति के इन रूपो पर मुग्ध होकर अपना अनुराग प्रकट करने लगा। प्रकृति के इन देवत्व रूपो का भी वह स्तुति-गान करने लगा। उसकी पहली उपासना भय के कारण थी, अनुराग-जन्य न थी। अब वह अनुरागी बन गया, और अदृष्ट शक्तियो के प्रति अपनी प्रार्थना, आत्म-निवेदन, स्तुति तथा अनुराग की भावना व्यजित करने लगा। आगे चलकर मानव के ज्ञान-

ध्यान ने उसे अनुभव कराया कि सूर्य, वरुण, चन्द्र, ग्रह-उपग्रह आदि सब एक ही नियम से परिचालित है, तो उसने इन सबके एक नियामक की कल्पना की। समस्त प्रकृति का नियत्रण करने वाली एक अदृष्ट-सत्ता के प्रति उसका विश्वास बढता गया। यही ब्रह्मवाद की भावना का मूल है। ब्रह्म या भगवान्, ईश्वर, प्रभु आदि अनेक नामो से मानव उस सर्वशक्तिमान्, सर्वसमर्थ अदृष्ट-सत्ता के प्रति अपनी भाव-आरति उतारने लगा। अपनी पग-पग पर अनुभव होने वाली अपूर्णता के लिए, दुखो से सुखो तथा रोगो से आरोग्य-प्राप्ति के लिए वह उस सत्ता से प्रार्थना करने लगा। इस परिवर्तनशील, दुखो से भरे ससार मे मानव न तो अपनी इच्छाओ की ही शातिपूर्वक पूर्ति कर पाता है, न उसे पूरी तरह सुख ही मिलता है। मानव को यहाँ अपनी अपूर्णता भी पग-पग पर अनुभव होती है। यही कारण है कि उसने इस लोक मे परे किसी आदर्श अदृष्ट लोक-परलोक या स्वर्ग की कल्पना की और ज्ञान, सत्य, प्रेम, शक्ति आदि से पूर्ण सर्वसमर्थ, पूर्ण पुरुषोत्तम या अनन्त ईश्वर पर विश्वास जमाया। यही धर्म, भक्ति, ईश्वर और परलोक के आविर्भाव का रहस्य है। अपनी अपूर्णता को दृष्टिगत करके ही हमारा मन अपने से महान् उत्तम जन के प्रति श्रद्धा और पूज्य-भाव से भर जाता है। एक नास्तिक व्यक्ति भी चाहे ईश्वर मे विश्वास न करता हो, पर महान् (Sublime) के प्रति उसके मन मे भी पूज्य-भाव अवश्य होगा। अत साहित्यिक दृष्टि से जहाँ साम्प्रदायिक भक्ति-भावना सर्वदेशीय भक्ति भावना कम बनेगी, वहाँ सामान्य अलौकिक भक्ति भाव सभी आस्तिको के लिए सामान्यानुभूति का विषय बनेगा। कट्टर नास्तिको को भी ईश्वर-भक्ति के अमूर्त रूप मे तो कोई विश्वास न होने से भक्ति रस की अनुभूति न होगी, किन्तु भगवान् के पूर्ण पुरुषोत्तम रूप का चरित्र उनकी भी पूज्य भावना को अवश्य जगायगा, भले ही वह उसे किसी विष्णु का अवतारी-रूप न मानकर मानव ही माने। जब राम की महानता का प्रकाशन उनके चरिताख्यान के रूप मे होगा और उनकी यथार्थ महानता पर मुग्ध होने वाले हनुमान आदि की भक्ति का प्रकाशन होगा, तो नास्तिक व्यक्ति भी उस भक्ति भाव को, अलौकिकता का आवरण हटाकर, यथार्थ रूप मे अनुभव कर सकता है। कहने का तात्पर्य यह कि महान् के प्रति पूज्य भाव एक शाश्वत, सार्वदेशिक अनुभूति है। अत साहित्यिक दृष्टि से वही भक्ति भाव या वही भक्ति रस साहित्य का चिर स्थायी, शाश्वत भाव-रस रहेगा जिसमे महत् आलम्बनो का मूर्त्त रूप भी अनुभूति का विषय बनाया जायगा।

भक्ति रस को मान्यता देने वाले विद्वानो ने अपनी वैष्णवी भावना के प्रभाव से भक्ति रस को ही सर्वश्रेष्ठ मान लिया। रूपगोस्वामी ने 'उज्ज्वल नीलमणि' मे इसे 'भक्ति रस राट्' कहा है। मधुसूदन सरस्वती ने भी भक्ति रस की तुलना मे अन्य रसो को तुच्छ बताया है। वस्तुत इन विचारको का यह कथन साहित्यिक सत्य से बहुत दूर है। इन्होने अपने विशेष धार्मिक सस्कार के कारण ही यह स्थापना की

है। 'भगवद्भक्तिरसायन' मे यह भी कहा गया है कि अन्य प्रकृतजन या देवादि से सम्बन्धित होने से तो रति या भक्ति भाव कोटि मे ही आती है, किन्तु भगवान् मे सम्बधित होने पर यह अलौकिक आनन्दमयी भक्ति रस बनती है। यहाँ इतना ही निवेदन कर देना काफी है कि न तो प्रेम के अन्यान्य रूप (दाम्पत्य प्रेम, सखा प्रेम, पुत्र प्रेम आदि) ही भगवद्भक्ति से हीन या कम प्रभावोत्पादक या कम आस्वादक है और न ही भक्ति भाव किसी गुरु, माता-पिता आदि से सम्बन्धित होने पर भाव कोटि का होता है। पितृभक्ति आदि भक्ति-रूपो मे भी पूर्ण रसवत्ता होती है। वल्कि एक तरह से जहाँ भक्ति रस (भगवान् के प्रति भक्ति) केवल आस्तिक, धार्मिक प्राणियो की अनुभूति का ही विषय बनता है, वहाँ भक्ति के पितृ भक्ति, गुरु भक्ति आदि रूप आस्तिक-नास्तिक सब के लिए अनुभूतिगम्य होते है।

भक्ति रस पर आक्षेप करने वाले कुछेक आधुनिक विद्वानो का कहना है कि भक्ति भाव मूल भावना नही है तथा यह व्यापकता के साथ सचरित नही होता। इस सम्बन्ध मे ऊपर भी विचार कर चुके है कि महान् के प्रति पूज्य भाव मानव की आदिम प्रवृत्ति है। मनोवैज्ञानिको ने इसे नही गिनाया तो केवल इसीलिए इसे मूल भाव न मानना कहाँ का न्याय है ? फिर दैन्यभाव (Appeal), जिसे मनोविज्ञानिको ने मूल भाव कहा है, क्या है ? दैन्य-प्रकाशन किसी महान् की महानता स्वीकारने से ही तो सभव होगा। वास्तव मे भक्ति के दोनो ही तत्त्व—प्रेम भाव और श्रद्धा भाव मूल भाव ही है। काव्य मे स्थायीभाव मूल भाव ही हो सकते है, यह भी कोई सिद्धान्त नही है। वास्तव मे जो उदात्त भाव अपने स्वतत्र रूप मे तीव्र और व्यापक काव्यानुभूति या पाठकानुभूति का विषय बन सकता है, उसे हम स्थायीभाव मान सकते है, यह हम पीछे स्थायीभाव की कसौटी पर विचार करते हुए स्पष्ट कर आए है। भक्ति भाव निश्चय ही उदात्त भाव है, आस्वाद्य है और अपने स्वतत्र आलम्बन प्रस्तुत करता है। इसमे उतनी ही तीव्रता और व्यापकता होती है जितनी अन्य रसो मे।

डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित ने स्वामि भक्ति, पितृ भक्ति, राज-भक्ति आदि के बारे मे कहा है कि ये "या तो भाव दशा तक रह जाती है या शील का उद्घाटन-मात्र करती है। जहाँ इनमे सहन-शक्ति या उत्साह दिखाया जाता है वहाँ यह वीर रस की सहायक बनकर रह जाती है। यदि श्रवणकुमार का अथवा अभिमन्यु का चरित्र लिखा जाय, तो पिता के लिए श्रवणकुमार के कष्ट-सहन का पद्यात्मक वर्णन हमारे मन मे उसकी सहन-शक्ति और दृढता का चित्र अकित करेगा और हम भी उस प्रकार की दृढता या कोमलता का अनुभव करेगे। अथवा अभिमन्यु के चक्रव्यूह-भेदन के लिए तत्पर होने का वर्णन हमारे ध्यान मे यह लाते हुए भी कि

इसने अचानक ही पाण्डवो के सम्मुख उत्पन्न दुविधा को दूर करके पितृ-भक्ति का परिचय दिया है, हम उसकी वीरता से विशेष प्रभावित होगे।"[१]

खेद है कि डा० दीक्षित के इस मत से भी हम सहमत नही हो सकते। श्रवणकुमार और अभिमन्यु के प्रसग को जानने वाले बिना किसी सकोच के कह देगे कि जहाँ श्रवणकुमार का प्रसग पितृ-भक्ति का ही प्रसग है, सहन-शक्ति और दृढता उसी के सचारी है, वहाँ अभिमन्यु का प्रसग वीर रस का ही विषय है। आखिर श्रवणकुमार के कष्ट सहने और सेवा करने के मूल मे क्या है ? क्या वह माता-पिता के प्रति अपनी अतिशय प्रेम-भक्ति के कारण ही यह सब कष्ट सहन नही कर रहा ? क्या उसे माता-पिता की सेवा करते देखकर पितृ भक्ति का भाव मुख्य रूप से जागृत नही होता ? पाठक क्या उत्साह-साहस को मुख्य रूप से ग्रहण करता है ? निश्चय ही श्रवणकुमार की पितृ भक्ति ही उसके चरित्र तथा प्रसग मे प्रधान भाव है। उसे सचारी नही माना जा सकता। निस्सदेह पितृ-भक्ति, गुरु भक्ति, राजभक्ति आदि भी भक्ति रस का विषय है, भाव दशा तक नही रहती। पिता की मृत्यु पर रुदन करने वाला पुत्र तो शोक या करुण रस का ही उदाहरण प्रस्तुत करेगा, किन्तु पिता की सेवा करने वाला, उनके लिए कष्ट सहने वाला, उनके प्रति अपनी श्रद्धा और प्रेम भावना व्यजित करने वाला व्यक्ति अवश्य ही पितृ-भक्ति का उदाहरण उपस्थित करेगा। डा० दीक्षित ने कहा है, "पिता की मृत्यु पर रुदन करने वाला व्यक्ति पितृ-भक्ति का उदाहरण उपस्थित नही करेगा, अपितु उस समय करुण रस की ही प्रतिष्ठा होगी। यही दशा भक्ति रस के अन्य भेदो की भी माननी चाहिए।" हमारा निवेदन है कि ऐसे तो विषय भिन्न होने से सभी रस-दशाएँ बदल जाती है। शृगार रस का प्रेमी भी जब अपनी प्रिया के निधन पर रुदन करेगा तो शृगार की नही, करुणा की ही प्रतिष्ठा होगी। अत डा० दीक्षित की यह बात स्वीकार्य नही हो सकती कि पितृ भक्ति आदि भक्ति-रूप भाव कोटि के ही है। उन्होने यही बात देश भक्ति के बारे मे कही है। किन्तु देश भक्ति को फिर भी इसलिए रस-रूप मे मान लिया है कि "आज के क्षुब्ध राजनीतिक वातावरण मे हम सबको देश का बहुत ध्यान रहने लगा है।" परन्तु देश भक्ति को उन्होने भगवद्भक्ति की अपेक्षा सीमित माना है। हमारा निवेदन है कि न देश-प्रेम-भक्ति का भाव सीमित है और न पितृ भक्ति आदि मात्र सचारी भाव होते है। वस्तुत यह सब कवि के चित्रण पर निर्भर करता है। किसी एक सीमित उदाहरण के आधार पर इनको सीमित या कम प्रभाव वाले भाव कहना भ्राति ही है। इन सब के मूल मे जब प्रेम है, तो इन्हे सीमित और केवल भावकोटि का मानना अनुचित ही है। वात्सल्य मे छोटो के प्रति वत्सलता (प्रेम) का भाव होता है। भक्ति रस मे बडो—पूज्यो के प्रति प्रेम का भाव होता है।

---

१ रस सिद्धात . स्वरूप-विश्लेषण, पृ० २८५।

इस प्रेम मे श्रद्धा या पूज्य भावना भी मिली रहती है, इसी से इसे भक्ति कह दिया जाता है। यदि व्यक्ति वास्तव मे ऐसा महान् है, जिसकी महानता सबकी पूज्य-श्रद्धा भावना जगा सकती है, तो वह व्यक्ति भक्ति का आलम्बन अवश्य ही बनेगा, चाहे वह गुरु हो, कोई त्यागी परोपकारी महात्मा हो अथवा राजा हो या पिता-माता-पितामह कोई भी हो।

गुरु भक्ति, पितृ भक्ति, देश भक्ति आदि मे गुरु-पिता आदि की महानता, उनके हमारे प्रति ऋणादि साथ लगे रहते है, इसी से हम गुरु-प्रेम, पितृ-प्रेम आदि के स्थान पर गुरु-भक्ति, पितृ भक्ति आदि कहते है। फिर भी जहाँ केवल प्रेम का प्रकाशन होगा, महानता की बात सामने न आयगी, वहाँ भक्ति के स्थान पर प्रेम-भावना ही माननी चाहिए। जैसे, राष्ट्रीय भावना मे जब देश के चप्पे-चप्पे मे अनुराग जताया जाता है, तब देश-प्रेम की अभिव्यजना ही माननी चाहिए। ये सब अवस्थाएँ रति की भिन्न-भिन्न रस-दशाएँ होती है। देश भावना मे जब देश के प्रति कृतज्ञता, उसकी महानता, गौरव अथवा उसका जय-गान होता है, नब देश भक्ति होती है। जहाँ केवल प्रेम-प्रकाशन होता है, वहाँ देश-प्रेम समझना चाहिए।

मराठी-लेखक श्री शिवराम पत ने देश भक्ति की रस-रूप मे प्रतिष्ठा करते हुए उसका स्थायीभाव 'देशाभिमान' बताया है। परन्तु वास्तव मे देशानुराग ही देश भक्ति या देश-प्रेम का स्थायीभाव है। अभिमान या गर्व तो सचारी बन कर प्रस्तुत होता है। देश पर गर्व या अभिमान अथवा उसके अभिमान की, स्वाभिमान की तरह, रक्षा का भाव देश-प्रेम के कारण ही पैदा होता है। अत देशानुराग को ही देश भक्ति रस का स्थायीभाव मानना चाहिए।

ऊपर के विवेचन से हमने भक्ति रस के अन्तर्गत भगवद्भक्ति, देश भक्ति, पितृ भक्ति, गुरु भक्ति आदि उन सबको सम्मिलित करने का मत प्रस्तुत किया है जिनके आलम्बन हमारे लिए पूज्य तथा श्रद्धेय होते है, अर्थात् पूज्य या श्रद्धेय आलम्बनो के प्रति व्यक्त किया गया प्रेम भक्ति रस का विषय बनता है। दूसरे, हमने यह भी प्रतिपादित किया है कि देश भक्ति, पितृ भक्ति आदि मे भी पूर्ण रसवत्ता है और रसानुभूति की दृष्टि से ये भगवद्भक्ति से किसी प्रकार कम नही है।

भगवद्भक्ति के जो अनेक भेद भक्ति-ग्रथो मे किये गए है, जैसे सगुण-भक्ति, निर्गुण-भक्ति, सगुण-भक्ति के रामभक्ति, कृष्णभक्ति आदि आलम्बन-भेद से अलग-अलग रूप, सम्बन्ध की दृष्टि से दास्य भक्ति, रागानुगा भक्ति आदि, रागानुगा के वात्सल्य, मधुरा, सख्य आदि अलग-अलग रूप , नवधाभक्ति की भिन्न-भिन्न दशाएँ आदि सब भेदोपभेद, साधना के साम्प्रदायिक रूप को त्याग कर, हमे मान्य है। रागानुगा या प्रेमा भक्ति के सभी रूप-भेद हमे सूर के पदो मे मिलते है। किन्तु इस सम्बन्ध मे एक उलझन पैदा होती है। जहाँ मधुरा, वात्सल्य आदि रूपो को अपनाया जाता है, वहाँ शृगार, वात्सल्य आदि रस माने या भक्ति रस ? विद्यापति के जिन

पदो को गाकर चैतन्य महाप्रभु भक्ति-भाव-विभोर हो जाते थे, वे शृगार रस के माने जाये या भक्ति रस के ? इसी प्रकार सूरदास के वात्सल्य के पदो को भक्ति रस क्यो नही कहा जाता, जबकि सूरदास ने उन्हे अपनी प्रेमा भक्ति के वात्सल्य-भाव के रूप मे चित्रित किया है। इस सम्बन्ध मे हमारा निवेदन है कि कवि की रचनाओ से जिस भाव की मुख्य ध्वनि होती हो, वही भाव उसका उपजीव्य माना जाना चाहिए। इसमे सदेह नही कि सूरदास ने भक्ति भाव से ही वात्सल्य के पद रचे है, पर कवि के सस्कारी मन ने जिन मे भक्त का आनन्द लिया है, वे भक्ति का विषय मुख्य रूप से बनने की बजाय सामान्य पाठक के लिए वात्सल्य रसानुभूति का ही विषय बनते है। एक वैष्णव भक्त के लिए तो वे भक्ति का मुख्य विषय हो सकते है, पर सामान्य पाठक उनमे वात्सल्य रस का ही आनन्द पाता है। इसी प्रकार जिन पदो को गा कर चैतन्य अपने भक्ति के सस्कार से भक्ति भावना प्राप्त करते थे, सामान्य पाठक उनमे शृगार रस ही पाता है। अत भक्त कवि चाहे अपने विशिष्ट सस्कारी अथवा साम्प्रदायिक भाव से भक्ति का आरोपण करता रहा हो, यह आवश्यक नही कि उसकी रचना से सामान्य पाठक भी भक्ति रस की ही अनुभूति पाये। नन्ददास आदि अष्टछाप के कवियो का बहुत-सा काव्य भक्ति के ऐसे ही झीने आवरण से ढका हुआ है, जो सामान्य पाठक को दिखाई तक नही देता, इसीसे वह उसमे शृगार रस की ही अनुभूति पाता है। रीतिकालीन कवियो मे तो यह आवरण भी नही रहा, राधा-माधव का बहाना-मात्र रह गया।

अत भक्ति के आलम्बन पूज्य-श्रद्धेय व्यक्ति, जैसे पिता, गुरु, माता आदि तथा भगवान्, देवता आदि होते है। उनके गुण-श्रवण, स्मरण, सतसग, उपकारो का स्मरण, महानता के कार्य, कृपा, दया तथा उनके कष्ट आदि उद्दीपन विभाव होते है। अनुभाव के रूप मे सेवा, अर्चन, कीर्त्तन, वदना, गुण-गान, गुण-श्रवण, जयजय-कार, स्तुति-वचन, उनके लिए कष्ट सहना, कृतज्ञता-प्रकाशन, शरणागति, प्रार्थना आदि अनेक कायिक, वाचिक तथा हर्ष-शोक के अश्रु, रोमाच, गद्गद् स्वर, स्वेद, कप आदि सभी प्रकार के सात्त्विक अनुभाव प्रकट हो सकते है। सचारी-रूप मे हर्ष, आशा, गर्व, स्मृति, धृति, उत्सुकता, विस्मय, उत्साह, हास, लज्जा, अवहित्था, निर्वेद, भय, आशका, विश्वास, मोह, श्रम, आवेग, मतोष आदि कितने ही भाव सचरण कर सकते है। अत भक्ति रस अपने भिन्न-भिन्न रूपो मे साहित्य का महत्त्वपूर्ण रस है। इसकी उदात्तता स्वय-सिद्ध है। महान् के प्रति श्रद्धा या पूज्य भाव मनुष्य की उच्च प्रवृत्तियो का द्योतक है। इसका सीधा सम्बन्ध हमारी उच्च नैतिक भावनाओ से है। भगवद्भक्ति के रामादि अवतारी रूपो मे उनके जीवन की अनेकानेक परि-स्थितियो से भी सम्बन्ध होता है। भगवद्भक्ति के अतिरिक्त पितृ भक्ति आदि रूपो मे तो व्यापक जीवन की ही स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है। अत भक्ति रस की जीवनोपयोगिता मे भी कोई सदेह नही होना चाहिए।

जैसा कि पहले कह चुके है, प्रेम के अन्य रूप—भ्रातृ-प्रेम या सखा-प्रेम, प्रकृति-प्रेम आदि भी पूर्ण रसानुभूति कराते है। अत भ्रातृ-प्रेम या सख्य रस, प्रकृति प्रेम आदि नामो से उनकी भी पृथक् रस-सत्ता माननी चाहिए। इस प्रकार दाम्पत्य प्रेम के अतिरिक्त (जो शृगार रस के रूप मे प्रतिष्ठित हो चुका है) प्रेम के अन्यान्य रूपो मे अन्यान्य रस प्रकट होते है। प्रेम मे श्रद्धा के योग से भक्ति रस बनता है, छोटो के प्रति प्रेम से वात्सल्य रस और भाई या मित्र आदि बराबर के (समवयस्क) व्यक्तियो का प्रेम भ्रातृ-प्रेम या सख्य रस कहा जा सकता है। सख्य रस या भ्रातृ-प्रेम भी अपने नाना रूपो मे अनेक जीवन-परिस्थितियो के साथ प्रकट होता है। दोस्ती मे भी उतनी ही व्यापकता, तीव्रता और उदात्तता है, जितनी शृगार रस। सच तो यह है कि प्रेम का जिस रूप मे भी चित्रण हो वही रस है। देश-प्रेम भी अपने मे पूर्ण रस है। मानवता या मनुष्यता की भावना मे जब मानव-प्रेम का उदार चित्रण होता है तो मानव-प्रेम के रूप मे रसानुभूति मानी जायगी। प्रकृति-प्रेम भी इसी प्रकार रसानुभूति का विषय होता है। अत प्रेम भावना अत्यन्त व्यापक है, इसके भिन्न-भिन्न रूपो मे प्रकट होने से सभी रूप रस कोटि मे आते है। हमारे द्वारा सपादित 'कहानी की कहानी' पुस्तक मे सकलित डा० आजम करेवी की 'कुर्बानी' नामक कहानी मे बच्चे का बकरे के प्रति निश्छल प्रेम, जैनेन्द्रजी की 'गौ' कहानी मे गाय के प्रति प्रेम प्रकृति-प्रेम के कितने भव्य उदाहरण है! क्या वे पूर्ण रसानुभूति नही कराते ? अत प्रेम-प्रकाशन, चाहे जिस रूप मे हो, रस है।

स्थायी भाव और रस

भिन्न-भिन्न रसो के उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध हुआ कि काव्यानुभूति या रसानुभूति के अन्तर्गत जीवन की समस्त अनुभूतियाँ समाहित होती है। मानवीय अनुभूति कोई भी ऐसी नही हो सकती जिसका काव्य के इन भिन्न-भिन्न रसो मे से किसी से भी सम्बन्ध न हो। दूसरे, सभी रसो के उदात्त स्वरूप की मीमासा से हमने स्पष्ट किया कि उदात्त रसानुभूति ही सर्वश्रेष्ठ रसानुभूति होती है। अब यहाँ एक बात पर और विचार करके इस प्रकरण को समाप्त करते है। प्रश्न उठता है कि क्या स्थायी भाव ही रस है ? दण्डी, भट्टलोल्लट आदि ने विभाव-अनुभाव आदि से परिपुष्ट किए हुए स्थायीभाव को ही रस माना है। दण्डी का कथन है कि "रूप-बाहुल्य (उपचय) के कारण रति (स्थायीभाव) शृगार रस-रूपता को प्राप्त हो जाती है।"[1] तथा "अत्यन्तवृद्धि को प्राप्त हुआ क्रोध स्थायी भाव रौद्र रस-रूपता को प्राप्त होता है।"[2] किन्तु शकुक ने इस मत का खण्डन किया है। स्थायीभाव का काव्य मे प्रकाशन या 'साक्षात्कारात्मक ज्ञान' विभावादि के बिना हो ही नही सकता, अत.

---

१ दण्डी काव्यादर्श, २।२८१।

२ वही, २।२८३।

विभावादि की विद्यमानता मे जो रत्यादि का बोध होगा, वह रस ही होगा, स्थायीभाव नही। अत रस तथा स्थायी भाव भिन्न-भिन्न हैं। आचार्य शकुक का भी यही मत है। जब लौकिक उदाहरण से अथवा केवल नाम-कथन से घृणा का उल्लेख हो, तो उसे स्थायी भाव कहा जायगा। जैसे, शूर्पणखा को देख कर सीता के मन मे घृणा जगी। सीता की यह लौकिक अनुभूति स्थायीभाव घृणा की अनुभूति है। किन्तु जब कवि शूर्पणखा का घृणित रूप हमारे सामने चित्रित करता है और उस चित्रण से हम भी घृणा की अनुभूति प्राप्त करते है, तो यह वीभत्स रस ही माना जायगा। कुछ विद्वान् स्थायीभाव का स्वरूप उदाहरण-द्वारा स्पष्ट करते हुए बहुत ही भ्रान्ति मे फँसे दिखाई देते है। डा० विपिन बिहारी त्रिवेदी तथा डा० उषा गुप्त की एक पुस्तक 'काव्य विवेचन' देखने मे आई। डाक्टर-द्वय की भ्रान्तियो का कहाँ तक उल्लेख करे! उनके द्वारा प्रकट किए गए स्थायी भावो के लक्षण-उदाहरण अत्यन्त भ्रान्तिपूर्ण है। अनेक उदाहरण रसो के ही उदाहरण है। कई उदाहरणो मे सचारी भाव ही स्थायीभाव माने गए है। क्रोध स्थायीभाव का यह उदाहरण प्रस्तुत किया गया है—

सुनि अस लिखा उठा जरि राजा। जानहुँ देवतडपि घन गाजा॥
का मोहिं सिंघ देखावसि आई। कहौ तौ सारदूल धरि खाई॥

और कहा गया है—"बादशाह अलाउद्दीन का पत्र मिलने पर राजा रत्नसेन के क्रोध की व्यजना यहाँ दिखाई गई है।"[1] किन्तु रत्नसेन के इस क्रोध से हमारा तादात्म्य हो जाने के कारण, यह रौद्ररस का उदाहरण स्पष्ट है। रत्नसेन की अनुभूति अवश्य लौकिक क्रोध की होगी। लेखको ने इस तथ्य को स्पष्ट नही किया। इसी प्रकार स्थायी भाव जुगुप्सा के उदाहरण-स्वरूप पद्‌माकर जी का यह छन्द प्रस्तुत किया गया है—

आवत गलानि जो बखान करौ ज्यादा यह,
मादा मल मूत और मज्जा की सलीती है।
कहै 'पद्‌माकर' जरा तौ जागि भीजी तब,
छीजी दिन रैन जैसे रेनु ही की भीती है।
सीतापति राम के सनेह-बस बीती जो पै,
तौ तो दिव्य देह जम-जातना मे जीती है।
रीती राम नाम ते रही जो बिन काम तो, या
खारिज खराब हाल खाल की खलीती है।

विद्वान् लेखको का कथन है कि "यहाँ शरीर को 'मादा मल मूत और मज्जा की सलीती' तथा 'खाल की खलीती' कहकर ग्लानि व्यजित की गई है और बीभत्स

---

१. काव्य-विवेचन, पृ० ३०

रस का परिपाक नही हुआ हे । ।[1] काव्यरसिको को बताने की आवश्यकना नही, कि यह शातरस का विषय है, बीभत्स रस का नही, और यहाँ ग्लानि सचारी भाव के रूप मे आयी है, स्थायी-रूप मे नही । यहाँ अनुभूति का पक्ष लौकिक भी नही है, क्योकि कवि या वक्ता जो हो, सत्वोद्रेक की अवस्था मे ही यह उद्‌गार प्रकट करेगा । इसी प्रकार उनके द्वारा प्रस्तुत 'आश्चर्य' स्थायीभाव के उदाहरण भी कम आश्चर्यजनक नही ।

वस्तुत काव्यगत विभावादि के योग से पूर्व रत्यादि स्थायीभावो का ज्ञान शाब्दिक ही हो सकता है । लौकिक विभावादि की व्यजना द्वारा भी स्थायीभाव का लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है ।

अत स्थायीभाव और रस मे भेद है, किन्तु यह भेद केवल भाव की सुप्त अवस्था और पुष्ट अवस्था का भेद ही है । जिस प्रकार मिट्टी मे ही उसकी गध सुप्त रहती है, उसी प्रकार सामाजिक के मन मे ये स्थायी भाव सुप्त रहते हैं, और जैसे जल-सिचन से मिट्टी की वही गध प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार विभावादि के द्वारा स्थायी भाव ही पुष्ट होकर रस-रूप मे अभिव्यक्त हो जाता है। इस दृष्टि से स्थायी भाव ही रस है, यह भी कहा जा सकता है ।



१ वही, पृ० ३२ ।

४

रस और अनौचित्य--रस-दोष

●

रस-शास्त्र मे औचित्य का प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है। पिछले अध्यायो मे हम स्पष्ट कर चुके है कि काव्य या साहित्य की कसौटी उदात्त रस है, रस की सर्वश्रेष्ठ सिद्धि उदात्त रस के रूप मे ही प्राप्त होती है और जिस रचना मे उदात्त रस की सिद्धि जितनी ही अधिक होगी, उतनी ही वह श्रेष्ठ रचना मानी जायगी। काल और देश की प्राचीरो को लाघकर वही साहित्य युग का सार्वभौम साहि.य बनता है, जो उदात्त रस से ओत-प्रोत होता है। बाल्मीकि, व्यास, कालिदास, तुलसीदास, होमर, शेक्सपियर, गेटे, दाँते आदि विश्वकवियो का काव्य इस बात का सबूत है कि काल की कसौटी पर उदात्त रसपूर्ण काव्य ही ठहरता है। बाल्मीकि और व्यास आदि के समय मे भी अनेक अन्य कवि रहे होगे, ठीक उसी प्रकार जैसे हर युग मे होते है, आज भी है, पर काल की दीर्घ पट्टी से उन सबका नाम मिटता जाता है, जिनकी प्रतिष्ठा काल-विशेष की सीमित दृष्टि मे प्रचारवाद अथवा 'अभाव मे भाव' या अन्य कारणो से हो जाती है और जिनकी रचनाओ मे उदात्त रस-परिपाक नही हो पाता। हम यह नही कहते कि उन विस्मृत कवियो का कोई महत्त्व ही नही या उनकी कविता व्यर्थ का प्रयत्न होती है। वास्तव मे महत्त्व उनका भी है, क्योकि उनका काव्य कम-से-कम युग-साहित्य की ऐसी खाद बनता है, जिससे साहित्य-भूमि उर्वरा होकर किसी वाल्मीकि, व्यास या कालिदास को जन्म देती है। आज भी जो अनेक कवि इधर-उधर, घर-घर दिखाई देते है, काल की कसौटी पर उनमे शायद ही कोई ठहरे, पर उनके प्रयास भी विफल नही जायेगे। कवि-कर्म के वर्तमान विस्तृत वाक्-जाल मे जो कुछ मनोहर भावो-विचारो-शैली-प्रयोगो की मछलियाँ उपलब्ध हो जाती हैं, वे भी किसी भावी बाल्मीकि, व्यास या कम-से-कम जयशकर-प्रसाद की काव्य-भूमि के लिये खाद सिद्ध होगी। अत वर्तमान प्रयासो की नितात अवहेलना हमे नही करनी चाहिये। किन्तु इस तथ्य को भी कवियो के सम्मुख अवश्य रख देना चाहिये कि उनका प्रयास काल की दीर्घ कसौटी पर कहाँ तक टिका रह सकता है।

हम पहले निवेदन कर चुके है कि काव्य की परिभाषा या परिधि तो अत्यन्त व्यापक है। ध्वनिकार ने भी रस-ध्वनि के अतिरिक्त अलकार-ध्वनि और वस्तु-ध्वनि ही नही, अपितु ध्वनि के अभाव मे चित्र-काव्य को भी काव्य-परिधि मे मान लिया, क्योकि कवि का कोई ऐसा वर्णन नही हो सकता जो किसी वस्तु या भाव से सम्बन्ध न रखता हो। पर काव्य की कसौटी ध्वनिवादियो ने भी रस-ध्वनि को ही माना। हमने रस-ध्वनि के स्थान पर उदात्त रस-ध्वनि या उदात्त रस को ही कसौटी मानना उचित ठहराया है, क्योकि रस-ध्वनि के ऐसे रूप भी होते है जिनमे उदात्त तत्त्व विशेष नही होता, जैसे शृगार का ऐकान्तिक बाह्यपक्ष-प्रधान चित्रण, हास्य का कोरा हास्य-वर्णन, कोरा विस्मयकारी अद्भुत रस-चित्रण, रसाभासादि।

अनौचित्य अब प्रश्न यह है कि रस-चित्रण या रस-प्रक्रिया मे यह कमी किस कारण उपस्थित होती है जिससे कोई रस-चित्रण उदात्त रस की अपेक्षा कोरा रसास्वाद या उससे भी निम्नस्तर का रसाभास, भावाभास, अलकार-ध्वनि या वस्तु-ध्वनि-मात्र बनकर रह जाता है। इस सम्बन्ध मे औचित्य ही रस-प्रक्रिया का मापक बनता है। हमने रसो का जो उदात्त स्वरूप ऊपर उद्घाटित किया है, रस-सामग्री मे उदात्तता की जो स्थिति स्पष्ट की है वह रस-चित्रण का उचित रूप है। कवि एव साहित्यकार की अनुभूतियाँ इसी औचित्य मे प्रकट होनी चाहिये। वास्तव मे उदात्त भाव-अनुभूतियो मे यह औचित्य स्वत ही आ जाता है। जहाँ अनुभूति मे भाव-उदात्तता की कमी आई, वही उदात्त रस-सिद्धि मे कमी आ जायगी और रस-सामग्री या रस-प्रक्रिया मे अनौचित्य उत्पन्न हो जायगा। विभाव-अनुभाव और सचारी भावो मे उदात्तता न होना ही अनौचित्य है। प्राचीन रस-शास्त्र मे इस अनौचित्य को रसाभास कहा गया है। किन्तु इस अनौचित्य से काव्य के कई अपूर्ण रूप प्रकट होते है। उदात्त रस-प्रक्रिया मे अनौचित्य से काव्य के ये रूप प्रकट होते है—(१) **कोरा रसानन्द प्रदान करने वाला काव्य,** (२) **रसाभासयुक्त काव्य,** (३) **भावाभासयुक्त काव्य।**

कोरे रसानन्द से मेरा अभिप्राय उस काव्य से है जिसमे जीवन की उदात्त भावनाएँ तो विशेष प्रकट नही होती, किन्तु रस का आनन्द पर्याप्त रहता है। विभाव-अनुभावादि की शास्त्रीय योजना भी रहती है, किन्तु उस योजना मे जीवन के उच्च मूल्यो का विशेष विधान नही होता। यह स्थिति अधिकतर शृगार रस के स्थूल ऐकान्तिक भोगपक्ष, हास्य रस के शुद्ध हास, अद्भुत रस के कोरे कौतुहल-चमत्कार मे ही मुख्य रूप से पाई जाती है। रीति-कवियो का शृगार-चित्रण अधिकतर ऐसा ही है। हास्य के अनेक ऐसे उदाहरण जिनमे सामाजिक या वैयक्तिक चारित्रिक विकृतियो के प्रति परिहास, उपहास या व्यग्य नही होता, कोरे हास के ही उदाहरण होते है। इन हासपूर्ण उदाहरणो से मनोरजन तो हो सकता है, पर जीवन की उच्च प्रेरणाएँ प्राप्त नही होती। इसी प्रकार चमत्कारपूर्ण ऐसे विस्मयकारी प्रसग

जो केवल पाठक की उत्सुकना-वृद्धि करते है, जीवन की मार्मिक अनुभूतियाँ नही कराते, कोरे अनुरजनकारी प्रसग ही कहे जायेगे। अभिव्यक्ति के कोरे चमत्कार को भी ऐसा ही समझना चाहिए।

कुछ विद्वान् उदात्त रस और रस के कोरे आनन्दात्मक रूप मे अन्तर स्वीकार नही करते। मुझे याद है, जब १९६०-१९६१ की पजाब भाषा-विभाग की वार्षिक लेखक-गोष्ठी मे पढे गए अपने शोध-पत्र मे मैने यह मत प्रस्तुत किया था, तब रस के उदात्त-अनुदात्त रूपो की कल्पना पर कुछ सज्जनो ने आक्षेप किया था। उनका कहना था कि रस को अनुदात्त कहना अनुचित है। दिल्ली की एक साहित्य-गोष्ठी मे भी ऐसा ही हुआ। यहाँ तक कि डा० नगेन्द्र ने मेरी इस उदात्तता वाली बात का खण्डन करते हुए कहा था कि रस का—विशेषत शृगार रस का भोग-पक्ष भी उतना ही श्रेष्ठ है, जितना गहन मानसिक साधना-पक्ष। उन्होने मेरी इस बात को शुक्लजी से प्रभावित बताया था। शुक्लजी के प्रभाव को मै मानता हूँ। मैने इस बारे मे कई बार विचार किया है और विचारपूर्वक इस तथ्य पर पहुँचा हूँ कि उदात्त रसानुभूति और कोरी रसानुभूति मे निश्चय ही अन्तर है। त्याग, सेवा, बलिदान, परोपकार, कष्टसहन आदि उदात्त वृत्तियो से पूर्ण प्रेम-चित्रण मुझे नायक-नायिका के ऐकान्तिक प्रेम-व्यापार से कही श्रेष्ठ अनुभव होता है। जिस हास्य मे जीवन की विकृतियो के प्रति परिहास, व्यग्य और उपहास रहता है, वह हास्य मुझे कोरी हँसी से अधिक मार्मिक प्रतीत होता है। फिर रस के उदात्त रूप तथा कोरे अनुरजनकारी रूप मे अन्तर क्यो न माना जाय ? निश्चय ही उदात्त भाव-वृत्तियो के अभाव मे जो रसानुभूति होगी, वह प्रबुद्ध सहृदय पाठक को अपेक्षाकृत निम्न स्तर की अनुभूति प्रतीत होगी।

रसाभास

बहुत-सी रचनाओ मे जब विभावादि रस-सामग्री की योजना मे अनौचित्य या दोष उत्पन्न हो जाता है, वहाँ रसास्वाद मे कुछ मनोवैज्ञानिक व्याघात उत्पन्न हो जाता है और पाठक रस की निर्दोष अनुभूति नही कर पाता। ऐसी रचनाओ मे रस-दोष के कारण पूर्ण रसानुभूति न होने से रसाभास की स्थिति रहती है। रसाभास के बारे मे डा० राकेश गुप्त ने कहा है कि रसाभास की स्थिति अस्वीकार्य है, क्योकि काव्यानुभूति मे केवल दो ही दशाएँ होती हैं—या तो रसास्वाद होगा या बिल्कुल न होगा। वास्तव मे रसाभास के बारे मे भी भ्राति का कारण उसका शाब्दिक अर्थ ग्रहण करना है। रसाभास से यह अभिप्राय नही कि ऐसी अनुभूति मे रस के स्थान पर रस का आभास-मात्र होता है। अपितु रसा-भास से अभिप्राय है रस मे अनौचित्य या दोष उत्पन्न होना। ऐसी दोष की स्थिति मे रसानुभूति की परमपुष्ट तुष्ट दशा प्राप्त नही होती, रसानुभूति मे कुछ मनो-

वैज्ञानिक दोष खटकने लगता है, रस-व्याघात उत्पन्न हो जाता है। अत होती तो यह भी रसानुभूति ही है, पर कुछ अपूर्ण सी, कुछ खोई-सी-कुछ अनुचित-सी। यह स्थिति ठीक वैसी समझनी चाहिए जैसे किसी प्रबन्ध या कथा-साहित्य मे किसी पात्र के चरित्रचित्रण मे कोई एकाध मनोवैज्ञानिक दोष खटकने लगता है, इसी प्रकार रस-चित्रण मे जब कोई मनोवैज्ञानिक कमी रह जाती है तो रसानुभूति मे वह कमी खटकने लगती है। काव्यानुभूति के सम्बन्ध मे दो टूक यह नही कहा जा सकता कि या तो रसास्वाद होगा या अनास्वाद ही रह जायगा। हमने काव्यानुभूति की उदात्त रसानुभूति और कोरी आनन्दानुभूति मे भी अन्तर स्पष्ट किया है। काव्यानुभूति मे भिन्नता और अन्तर न हो तो रचनाओ की श्रेष्ठता-अश्रेष्ठता का प्रश्न ही समाप्त हो जाय। अत रसाभासयुक्त रचनाओ मे रसानुभूति या काव्यानुभूति का निर्दोष रसानुभूति की अपेक्षा निम्न स्तर रहता है। रस मे अनौचित्य रहने के कारण इस दशा मे सहृदय पुष्ट और तुष्ट रसानुभूति नही पाता। रसाभास मे रस-दशा का सर्वथा लोप नही होता। अत रसाभास भी इस दृष्टि से रस-दशा ही है। पडितराज जगन्नाथ ने कहा है कि अनुचित होने पर भी किसी वस्तु का स्वरूप नष्ट नही होता। किसी अश्व को दोषयुक्त देखकर हम उसे अश्वाभास नही कहने लगते। अत रसाभास को भी रस ही कहना चाहिए। हमारा निवेदन है कि जिस प्रकार परखने या छाँटने वाले व्यक्ति को यह सकेत करना आवश्यक हो जाता है कि अमुक घोडे मे अमुक दोष है, इसलिए यह निर्दोष घोडो से अलग रखना चाहिए—वह उसे सदोष घोडा कहे बिना अपनी परख सिद्ध नही कर सकता, उसी प्रकार रस-प्रक्रिया मे दोष होने से समालोचक या रसज्ञ पाठक उसे रसदोष अवश्य कहेगा, यही रसदोष रसाभास है।

किसी रस की नकल रसाभास नहीं डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित ने रसाभास को रस की अनुकृति या नकल मानकर उसके महत्त्व का बखान किया है। उनका कहना है कि "काव्य मे रसाभास का महत्त्व कम नही है। वह काव्य का एक अनिवार्य अग है।"[1] उन्होने वामन और अभिनवगुप्त के आधार पर रसाभास मे पौर्वापर्य की स्थिति को अनिवार्य मानने की भूल की है। रसाभास मे यह अनिवार्य नही है कि 'पूर्व प्रसग या पूर्वापर-सम्बन्ध के विवेक के अनन्तर ही रसाभास की स्थिति' उत्पन्न हो। उन्होने रावण के सीता के प्रति रति-मोह-भाव का जो उदाहरण रसाभास माना है, वह किसी प्रकार शृगार-रसाभास नही माना जा सकता। अभिनवगुप्त से सकेत लेकर उन्होने रसाभास को गलत समझ लिया है और इस प्रकार रसाभास से हास्य रस की सिद्धि मानने की भूल की है। उनका कथन है, "सीता की उपेक्षा और रावण की मोहासक्ति उस रति को एकागी बनाकर रसाभास मे परिवर्तित किये दे रही है। ऐसा विचार

---

१ रस-सिद्धान्त स्वरूप-विश्लेषण, पृ० २५६।

आते ही रावण का यह सम्पूर्ण चित्र हास्य का विभाव हो जायगा। इसी प्रकार अन्य रसो से भी हास्य रस की अवतारणा हो सकती है। यहाँ तक कि शातरसाभास से भी हास्य की उत्पत्ति सभव है।" हमारा निवेदन है कि न तो रति के एकागी होने से रसाभास होता है और न यहाँ रावण की मोहासक्ति का चित्र श्रृगार-रसाभास के कारण हास्य का विषय बना है। यह स्वतन्त्र रूप से हास्य का प्रसग ही है। रावण की रति प्रस्तुत करना कवि का उद्देश्य नही है, बल्कि उसकी हँसी उडाना ही उद्देश्य है। अत यह स्थिति श्रृगाराभास से हास्योत्पत्ति की स्थिति नही मानी जा सकती। वास्तव मे अभिनवगुप्त ने भरत के इस सीमित मत का खण्डन करने के लिए ही कहा था कि केवल श्रृगार की अनुकृति या आभास से हास्य उत्पन्न नही होता, बल्कि सब रसो की अनुकृति या विकृति से हास्योत्पत्ति सभव है। रसाभास से अभिप्राय उस रस की विकृति या अन्य रस मे परिणति मानना भ्रातिपूर्ण ही है। किसी रस की नकल (अनुकृति) अर्थात् मजाक हास्य का स्वतन्त्र विषय बन जाता है। जहाँ रस की नकल है अर्थात् कृत्रिम रस है, वहाँ रसाभास नही माना जा सकता। अत जहाँ श्रृगार रसादि के स्थान पर उनकी नकल है, उनका झूठा प्रदर्शन है, वहाँ श्रृगारादि रसाभास नही माना जा सकता। आश्चर्य है कि एक ओर तो ये विद्वान् रसाभास को भी रस मानते है अर्थात् श्रृगार रसाभास को भी श्रृगार रस ही मानते है, दूसरी ओर जहाँ श्रृगार नही है, उसकी नकल-मात्र है, उसे ही श्रृगाराभास कहने लगते है। अत श्रृगाराभासादि रसाभास से तात्पर्य है श्रृगारादि उसी रस की ऐसी अनुभूति जिसमे कुछ मनोवैज्ञानिक दोष हो।

रसाभास की भिन्न-भिन्न स्थितियाँ रस-प्रक्रिया मे अनेक प्रकार से दोष उपस्थित हो सकता है। अत रस-दोष की सब अवस्थाएँ रसाभास ही कही जायेगी। कुछ मुख्य दशाएँ इस प्रकार गिनाई जा सकती है—(१) विभाव मे अनौचित्य की अवस्था, (२) विभाव-पक्ष या विभावादि रस-सामग्री की अपूर्ण प्रतिष्ठा अर्थात् विभावादि के सजीव चित्रण का अभाव, (३) किसी अलौकिक या अमनोवैज्ञानिक कारण से रस मे व्याघात उत्पन्न होने की दशा, (४) दो विरोधी रसो के एक साथ एक ही आश्रय मे चित्रण की अवस्था, (५) किसी रस का असमय आगमन, जैसे शोक की स्थिति मे हास्य का आगमन।

(१) विभाव मे अनौचित्य विभाव मे अनौचित्य कई प्रकार से प्रकट हो सकता है। यदि कोई कवि इतिहास-पुराण-सस्कृति के विरुद्ध किसी प्रसिद्ध सत् पात्र को असत् और असत् को सत्-रूप मे चित्रित करने लगे तो उसका यह विभाव-परिवर्तन अनुचित ही माना जायगा। उदाहरण के लिए, श्री आनन्द कुमार का 'अगराज' लीजिए। इसमे इतिहास-पुराण और परम्परा तथा सस्कृति के विरुद्ध कौरवो को सज्जन और पाण्डवो को दुर्जन-रूप मे चित्रित किया गया है। भाव और रस मानसिक सस्कारो से ही सम्बन्ध रखते है। अत जिन पात्रो के सम्बन्ध मे हमारी

पूर्व-धारणाएँ श्रद्धा-भाजन के रूप मे सस्कार—वद्ध हो चुकी है, उनका यह परिवर्तित रूप हमारे सस्कारी मन को मान्य नही हो सकता। 'अगराज' के कवि ने बड़ी विचित्रता के साथ पाण्डवो को असत् पक्ष के रूप मे चित्रित किया है। कवि के अनुसार, युधिष्ठिर आदि पाण्डव वास्तव मे अपनी धूर्त्तता के बल पर धर्मात्मा बने हुए थे, उन्होने ही कौरवो के विरुद्ध षड्यन्त्र किया, और उनके विरुद्ध झूठा प्रचार किया। उन्होने स्वय ही लाक्षा-गृह मे आग लगाई थी, और स्वय झूठा प्रचार किया था कि दुर्योधन ने शत्रुता के नाते हमे मारने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार पाण्डवो को छली-कपटी दुर्जन वताया गया है—

"कुरुशासन मे प्रबल हुआ था षड्यन्त्री समुदाय।
महीपाल धृतराष्ट्र अधताकारण था निरुपाय ॥
पाण्डुपुत्र उसे मानकर स्थानापन्न नरेश।
स्वय राजसत्ता पाने को उत्सुक थे सविशेष ॥
× × ×
पाण्डुकुमारो को असह्य था दुर्योधन-उत्थान।
रहे कूट योजना बनाते नित वे पूर्व-समान ॥

जहाँ महाभारत और उस पर आधारित काव्यो मे दुर्योधन, दु शासन आदि दुष्ट पात्र हमारी घृणा के आलम्बन बनते है, द्रौपदी का चीर हरण करने वाले दु शासन-दुर्योधन आदि के प्रति हमारी तीव्र घृणा जगती है, वहाँ 'अगराज' के लेखक ने उलटा द्रौपदी और पाण्डवो के छल-कपट तथा अविनय की बात चलाकर उन्हे ही नीच-प्रकृति दिखाने का प्रयत्न किया है। भरी-सभा मे जिस द्रौपदी का अपमान हुआ, कवि ने उसे ही उच्छृ खल, कर्कशा और असभ्य दिखाया है—

दुश्शासन अवलोक कोपना का दुस्साहस घोर।
बलपूर्वक ले चला उसे तब द्यूत सभा की ओर ॥
उस भामा ने किया प्रदर्शित दुर्दम चित्तोन्माद।
आई वह अविराम सुनाती असहनीय दुर्वाद ॥
× × ×
हुई मर्म-भेदी वाक्यो से वह पूर्वाधिक क्रुद्ध।
नीच भाषिका रही बोलती सभ्य समाज-विरुद्ध ॥
हास्तिनेश तब आत्ममूर्ति से बोला वहाँ अभग्न।
मौन न हो तो इसी सभा मे इसे बना दो नग्न ॥[1]

इन पक्तियो से स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने मौलिकता के मोह मे व्यर्थ ही इतिहास-पुराण-सस्कृति के विरुद्ध दुर्योधन का पक्ष लिया है। सभवत कर्ण को सत्यपथ का पथिक दिखाने के लिए—अपने नायक का गौरव रखने के लिए, ऐसा किया

१. 'अगराज' श्री आनन्दकुमार, पृ० ७६-७७ (प्रथम सस्करण)।

गया हो, पर यह कितना अनुचित है ! कर्ण का नायकत्व बिना सस्कार बिगाडे भी, उसी प्रकार सिद्ध हो सकता था, जैसे महाभारत मे ही कौरव-पक्ष लेने पर भी भीष्म और द्रोणाचार्य की सज्जनता स्वयसिद्ध है। 'अगराज' मे आलम्बन-विपर्यय का यह प्रयास भी बहुत लचर है। स्थान-स्थान पर मिथ्या-आरोपण प्रतीत होता है। कवि ने दुर्योधनादि की अपेक्षा पाण्डवो के प्रति घृणा जगानी चाही है। हमारे सस्कारी मन को ग्राह्य न होने के कारण, ऐसे आलम्बन-परिवर्तन मे अनौचित्य-दोष आ जाने के कारण, रसानुभूति मे व्याघात ही उत्पन्न होता है। ऐसे प्रसगो मे बीभत्स रसाभास ही कहा जायगा।

शृगार रसाभास के अन्तर्गत पर-नारी के प्रति अनुचित प्रेम, नारी का पर-पुरुष से अवैध प्रेम, पुरुष का बहु-नारी-प्रेम तथा नारी का बहु पति-विषयक अवैध प्रेम, किसी वृद्ध का किशोरी या युवती के प्रति प्रेम आदि प्रसग विभाव पक्ष के अनौचित्य से ही सम्बन्ध रखते है। ऐसे आलम्बनो की अवतारणा हमारी नैतिक भावना के विरुद्ध-सी पडती है, इसी से रस-दोष पैदा होता है।

वीररस मे किसी तुच्छ या नीच कार्य मे साहसोत्साह का वर्णन वीर रसाभास बनता है। कार्य जितना तुच्छ होगा, रस मे उतना ही अनौचित्य आ जायगा। यदि कार्य बिल्कुल नीचता का होगा और पाठक या सहृदय का ध्यान नीचता पर ही रहेगा, साहसोत्साह पर नही, तो वीर रसाभास की भी स्थिति नही रहेगी, बल्कि नीच व्यक्ति हमारी घृणा का ही आलम्बन बन जायगा और बीभत्स रस की स्थिति होगी। डाकुओ के साहसोत्साह मे वीर रसाभास की अनुभूति होती है, क्योकि उनका साहसोत्साह अपने स्वार्थो की पूर्ति के हेतु प्रकट होता है, किसी उच्च उद्देश्य से नही। यदि डाकुओ का कर्म अत्यधिक जघन्य या क्रूर होगा तो वीरता की बात न रहेगी। वीर रस मे शत्रु-पक्ष की वीरता भी वीर रसाभास ही होती है। शत्रु जितना ही दुष्ट होगा, उसकी वीरता का वर्णन उतना ही अधिक अनौचित्य-युक्त होगा। महाभारत मे जहाँ अर्जुन, कृष्ण, भीम आदि की वीरता उदात्त वीर रसानुभूति कराती है, वहाँ दुर्योधनादि की वीरता मे रसाभास ही है। भीष्म, द्रोण और कर्ण की वीरता मे हलका-सा वीर रसाभास है, क्योकि ये वीर स्वय तो दुर्योधन-शकुनि आदि की तरह दुष्ट नहीं, पर असत् पक्ष की ओर होने से इनकी वीरता मे हल्का-सा अनौचित्य अवश्य माना जायगा। वीररस मे असमान या निर्बल शत्रु पर विजय पाने के सरल कार्य मे भी कुछ अनौचित्य प्रतीत हो सकता है।

इसी प्रकार हास्य रस मे गुरु, माता-पिता आदि पूजनीय व्यक्तियो को हास्य का आलम्बन बनाना अनुचित समझा जा सकता है। अद्भुत रसाभास मे तिलस्मी या ऐसे ही बुद्धि-तर्क-असम्मत कार्यों मे विस्मय की स्थिति अनुचित-सी प्रतीत होगी। इसी प्रकार सब रसो मे आलम्बन या विभाव-पक्ष का नैतिक या बौद्धिक दृष्टि से अनुचित प्रतीत होना ही रसाभास कहा जायगा।

२ **विभावादि का अपूर्ण चित्रण** भी रसानुभूति को पुष्टि प्रदान नही करता जिन रचनाओ मे आलम्बनत्व अस्पप्ट रह जाता है या विभावादि रस-सामग्री पूरी तरह चित्रित न होकर कथित रह जाती है, उन रचनाओ मे भी रसानुभूति पूरी तरह नही हो पाती। मस्कृत के कुछ काव्य तथा नाटक ऐमे ह, जिनमे आलम्बनत्व पुष्ट न हो पाने के कारण रस-दोष आ गया है। 'शिशुपाल वध' काव्य और 'वेणीसहार' नाटक को लीजिए। इनमे रस-परिपाक की पूरी सगति नही बैठ पाई। 'वेणीसहार' मे दुर्योधन के घृणित आचरणो की व्यजना अपूर्ण रह गई है, और लेखक ने पाठक या दर्शक के सस्कारी मन पर ही बहुत-सी बाते छोड दी है—अर्थात् सभवत इस विचार से दुर्योधन के अत्याचारो को प्रकट नही किया कि महाभारत का प्रत्येक जानकार—प्रत्येक भारतीय—उमे जानता ही है। यह स्थिति रस परिपाक की दृष्टि से बहुत आपत्तिजनक है। जब तक काव्य मे आलम्बन की पूर्ण प्रतिष्ठा नही होती, तब तक पक्ष-विपक्ष का पूरा निर्णय और लेखक के कथ्य से तादात्म्य स्थापित होना कठिन होता है। 'वेणीसहार' मे पाठक या दर्शक के सम्मुख दुर्योधन और दु शासन पूरे अपराधी अथवा घृणा के पूर्ण पात्र बनकर नही आते। इमी से न तो पाठक का पूर्ण तादात्म्य भीम के क्रोध से ही पूरी तरह हो पाता है, और न ही दुर्योधन के प्रति सवेदना या सहानुभूति जगती है। न तो रौद्र रस का ही उचित परिपाक हो पाता है, न बीभत्स रस का और न ही दुर्योधन आदि के शोकपूर्ण प्रसगो मे करुणरस की ही उचित अनुभूति होती हैं। पक्ष-विपक्ष के स्वरूप की यह अनिश्चित स्थिति रस-दोष ही कही जा सकती है।

इसी प्रकार 'शिशुपाल वध' महाकाव्य मे भी शिशुपाल का आलम्बनत्व अपूर्ण रह गया है। इसमे कृष्ण आदि को खरी-खोटी सुनाने या गालियाँ देने के अतिरिक्त शिशुपाल के अन्य जुगुप्साकारक कृत्यो और आचरणो का विशेष चित्रण नही हुआ है, जिसके कारण वह घृणा या क्रोध का पूर्ण पुष्ट आलम्बन कम ही बनपाता है।पाठक के सस्कारी मन के भरोमे ही सभवत कवि ने आलम्बनत्व को अधूरा छोड दिया है। पर हमारा मत है कि इस प्रकार विभावपक्ष को अपूर्ण रखना सर्वथा अनुचित है।

'पचदश सर्ग' मे जब वह भगवान् कृष्ण की निन्दा करत है, और भीष्मादि को भी बुरा-भला कहता है, तो पाठक का सस्कारी मन ही उसके कथनो की अवज्ञा करके उसे अपनी घृणा का पात्र बना सकता है, अन्यथा कवि के कथ्य से उसका घृणित रूप विशेष नही उभरता। यद्यपि द्वितीय सर्ग मे बलरामजी उसे कृत्रिम शत्रु कहते है, और उसके द्वारा द्वारिका नगरी को घेरने और यदुवशियो की स्त्री के अपहरण की बात चलाते है, तो भी शिशुपाल की दुष्टता को कवि पूरी तरह उभार नही पाया है। उसका 'लोक-पीडक' रूप पाठक के सम्मुख अच्छी तरह प्रस्तुत नही हो पाया है और मै समझता हूँ कि रस की दृष्टि से (काव्य की दृष्टि से) यही इस काव्य या महाकाव्य का बडा दोष है। यदि शिशुपाल की दुष्टता कथित-रूप मे प्रस्तुत

होन की बजाय, सजीव रूप मे पाठक के सम्मुख प्रस्तुत होती, तो पाठक का पूर्ण तादात्म्य कृष्ण-पक्ष से हो जाता, और उस अवस्था मे बीभत्स, रौद्र और वीररस का जैसा सुन्दर परिपाक होता, वैसा अब नही हो पाया है। अत विभाव-पक्ष की पूर्ण मिद्धि का अभाव इस काव्य की बडी दुर्बलता है। सभवत कवि ने अपने सस्कारी मन मे पहले से ही शिशुपाल की दुष्टता का भाव धारण किया हुआ है और पाठक मे भी उसे सिद्ध मानता है, इसीमे काव्य मे उसे सजीव रूप मे चित्रित करने की आवश्यकता ही उसने नही समझी। किन्तु हम इसे काव्यगत दोष ही मानते है। रस-सचार के लिए आलम्बनत्व की पूर्ण प्रतिष्ठा अत्यन्त आवश्यक है। 'पचदश सर्ग' मे शिशुपाल जो निदा करता है, वह एक तो इतनी क्षोभकारी नही कि रौद्र रस या बीभत्स रस का पूर्ण आलम्बनत्व सिद्ध करे, दूसरे, कवि ने अपने इस कथन से कि "श्री कृष्ण शिशुपाल के कटु वचन से भी विकृत (क्षुब्ध) नही हुए, क्योकि सत्य पर स्थिर रहने वाले सज्जन को कटु वचन से भी चचल करने मे कौन समर्थ होता है?"—थोडी-बहुत उत्पन्न घृणा या क्रोध को ठडा कर दिया है। अत इसके पश्चात् भीष्म और अन्य राजाओ के रोष मे रौद्र रस का विशेष आवेग नही रह जाता। आरभ के सर्ग मे नारदमुनि शिशुपाल के पूर्व चरितो—हिरण्यकशिप व रावण आदि का तो विस्तारपूर्वक कथन करते हैं किन्तु शिशुपाल के कुकृत्यो का इस सर्ग मे भी विशेष चित्रण नही हुआ है। इस प्रकार हमारा मत है कि महाकवि माघ के 'शिशुपाल वध' मे वीर, रौद्र और बीभत्स रस का विभावपक्ष विशेष पुष्ट नही हुआ है। यही विभाव-पक्ष की अपूर्णता इस काव्य का बडा दोष है।

हिन्दी की बहुत-सी प्रगतिवादी रचनाओ मे भी जहाँ-जहाँ आलम्बनो की स्वरूप-प्रतिष्ठा अच्छी तरह नही हो पाई है, कविता रसानुभूतिपूर्ण नही बन सकी है। द्विवेदी काल की इतिवृत्तात्मक रचनाओ मे भी विभावादि रस-सामग्री के चित्रण की कमी से रस-परिपाक नही हो पाया है। प्रगतिवादी लेखको की रचनाओ मे समाज की रूढियो तथा पूँजीवादी और जमीदारी पद्धतियो, पूँजीपतियो और जमी-दारो आदि शोषको के प्रति घृणा का उद्देश्य रहता है, किन्तु बहुत बार जब यह उद्देश्य रस सामग्री के बिम्ब रूप की बजाय कथित रूप मे प्रकट होता है तो उसमे रस की प्राणधारा कम रह जाती है। काव्य-रस को कसौटी न मानने वाले हमारे इन साहित्यकारो से हमारा नम्र निवेदन है कि वे अपनी रचनाओ की प्रभाव-न्यूनता को स्वय अनुभव करे, और शुष्क कथनो के स्थान पर विभावादि का चित्रण करे, तो उनकी रचनाओ मे अपूर्व सप्राणता आ सकती है—वे अत्यन्त प्रभावशाली सिद्ध हो सकती हैं, और उस अवस्था मे उनके सिद्धातो और विचारो या दृष्टिकोण का प्रभाव भी अधिक सभव है। रस की अवहेलना से कोई रचना सशक्त नही बन सकती। विभावादि की अपूर्ण योजना के कारण ही बहुधा इनकी रचनाओ मे पूँजीवादियो-जमीदारो या सामाजिक रूढियो के प्रति तीव्र घृणा नही जगती। नागार्जुन के

उपन्यास 'बाबा बटेसरनाथ' को लीजिए। १५० पृष्ठो के इस उपन्याम के १०० से अधिक पृष्ठ थोथे वर्णन और विवरण से भरे हुए है। यद्यपि लेखक का उद्देश्य इन पृष्ठो मे भी पूँजीवादी-जमीदारी पद्धति का विरोध करना है, पर इस इतिवृत्तात्मक शैली मे कोई जान प्रतीत नही होती। पढ-लिखकर शहरी-पूँजीवादी या जमीदारी जीवन बिताने वालो के प्रति लेखक अपनी घृणा इस प्रकार के इतिवृत्तात्मक वर्णन से प्रकट करता है—"किस गरीब की जमीन बिकने वाली है, कौन निपूता कितनी जायदाद छोडकर मरा है, नाबालिग लडके वाली किस विधवा की क्या हैसियत है, शादी या श्राद्ध के मौको पर कौन-सा काश्तकार कितनी रकम कर्ज लेगा, मुकदमा लडने वाले कौन-कौन से लोग अदालती खर्च के लिए अपने खेतो को रहन रखना चाहते है—इस प्रकार के तथ्यो की आवश्यक जानकारी के अतिरिक्त गाँव की बाकी बातो मे उन्हे जरा भी रस नही मिलता।"[1] और हम अपनी बात कहे तो ऐसे वर्णनो मे लेखक के विचारो या ऐतिहासिक 'तथ्यो की आवश्यक जानकारी के अतिरिक्त' काव्य-रस विशेष नही मिलता। बाबा बटेसरनाथ के ऐसे वर्णन रस-परिपाक से दूर ही है। शुक्लजी के शब्दो मे 'काव्य-साहित्य मे कथन-मात्र से काम नही चलता, बिम्ब-ग्रहण अपेक्षित होता है'। काश ! कि नागार्जुनजी अपने पात्रो के आचरण बिम्ब-रूप मे प्रकट करके अपने उद्देश्य की पूर्ति करते ! तभी ऐसे शोषको और समाज-शोषी पद्धतियो के प्रति तीव्र घृणा उत्पन्न होती। हमारा निश्चित मत है कि आलम्बनो की बिम्बात्मक पूर्ण प्रतिष्ठा के अभाव से नागार्जुन अपने ही उद्देश्य मे सफल नही हो सके है। इसीसे उपन्यास रोचक और प्रभावशाली नही बन सका है। उनका 'रतिनाथ की चाची' नामक अन्य उपन्यास भी उपर्युक्त दोष से मुक्त नही है। इसमे भी कई जमीदारो, महाजनो, अफ्सरो, पुरातनपथी ब्राह्मणो आदि के कुकृत्यो का उल्लेख अधिक है, मार्मिक चित्रण कम है। इसी से पूर्ण रस-परिपाक नही हो पाता।

इस प्रकार विभावादि रस-सामग्री के अपूर्ण चित्रण से रस-दोष या रसानुभूति मे कमी उत्पन्न होती है। यह विभावादि की कमी भी रसाभास के अन्तर्गत ही समझनी चाहिए।

३ किसी अलौकिक या अमनोवैज्ञानिक कारण से भी रसानुभूति मे व्याघात उत्पन्न हो सकता है। जैसे, तुलसीदास के 'रामचरितमानस' मे कई स्थानो पर यह दोष पाया जाता है। दैविक या अलौकिक कल्पनाओ के कारण तुलसी के कई पात्रो का स्वतत्र व्यक्तित्व और चरित्र पनप नही पाता। जहाँ 'रामचरितमानस' मे उदात्त रस का पर्याप्त चित्रण हुआ है, जिसके कारण तुलसीदास हिन्दी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवियो मे गिने जाते है, वहाँ तुलसी की अतिशय भक्ति-भावना और

---

१ नागार्जुन 'बाबा बटेसरनाथ' (१९५४ ई०), पृ० १३-१४।

अलौकिकता कई स्थानो पर रस-व्याघात भी उत्पन्न करती है। राम की कृपा से ही हनुमानादि अपनी वीरता दिखाते है, समुद्र लाघ जाते है, कभी लघु-रूप धारण कर लेते ह, कभी विशाल। ऐसे अलौकिक चामत्कारिक वणन आज के बुद्धिवादी पाठक को अस्वाभाविक ही प्रतीत होते है। अयोध्या काण्ड मे मथरा ने जो कुचाल चली, उसके मूल मे भी अलौकिकता की कल्पना की गई है। तुलसीदासजी की अलौकिक कल्पना के अनुसार देवताओ ने सरस्वती देवी के चरणो मे विनय की कि हमारी विपत्ति को देखकर वही कीजिए जिससे राम बन को चले जाये और देवताओ का सब कार्य सिद्ध हो। इस प्रकार देवताओ की प्रार्थना सुनकर और आगे के शुभ कार्य का विचार करके सरस्वती ने ही मथरा की बुद्धि फेर दी। तुलसीदास ने 'गई गिरा मति फेरि' कहकर घृणा के इस आलम्बन को हल्का बना दिया। दैव-वाछा की यह कल्पना एक तो अमनोवैज्ञानिक है, अलौकिक है, जिसकी सगति पाठक की बुद्धि मे नही बैठती, दूसरे, इससे मथरा इतनी दोषी नही रहती। मथरा के प्रभाव मे आकर राम को निर्वासित करने वाली कैकेयी भी इसी दैव-सम्बन्ध से तीव्र घृणा का आलम्बन नही बन पाती। निश्चय ही यहाँ अलौकिकता के कारण रस-दोष उत्पन्न हुआ है। ऐसे और भी कई उदाहरण 'रामचरितमानस' से दिये जा सकते है, जिनमे तुलसी की अलौकिक भावना वीर, बीभत्स आदि रसो मे व्याघात उत्पन्न करती है। यदि 'मानस' मे यह रस-दोष न होता तो यह विश्व-साहित्य की बेजोड रचना सिद्ध होती।

४ प्राचीन आचार्यो ने रस-दोष के अन्तर्गत एक दोष यह बताया है कि एक रस-चित्रण के प्रसग मे विरोधी रस के अग (विभावादि) उसी आश्रय मे नही आने चाहिये। इस सम्बन्ध मे आचार्यो ने रस-विरोध और रस-मैत्री पर विस्तृत प्रकाश डाला है। इस दृष्टि से करुण और हास्य का, वीर और भयानक का, शृगार और बीभत्स का, रौद्र और शृगार का, रौद्र और भयानक का पारस्परिक विरोध रहता है। इन विरोधी रसो के आलम्बन और आश्रय एक-दूसरे के आलम्बन और आश्रय नही बन सकते। शृगार का आलम्बन (प्रेम-पात्र) और आश्रय (प्रेमी) बीभत्स रस का आलम्बन (घृणा-पात्र) और आश्रय नही बन सकता। इस बात पर विचारते हुए डा० राकेश गुप्त ने कहा है कि यदि पूर्व घटनाएँ और परिस्थितियाँ ऐसी है कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से दो या दो से अधिक तथाकथित विरोधी भावो को प्रकट करती है, तो हम उनके सह-आगमन को अनुचित नही कह सकते।[1] अपनी बात को पुष्ट करने के लिए उन्होने प्रसादजी की 'आकाशदीप' कहानी से उदाहरण देते हुए कहा है कि 'आकाशदीप' कहानी मे चम्पा के हृदय की बुद्ध गुप्त के प्रति रति और घृणा की दोनो विरोधी भावनाएँ एक साथ प्रकट हुई है। अपने पिता का

1 Psychological Studies In Rasa, p 173

घातक होने के सदेह से वह उसमे घृणा भी करती है, किन्तु प्रेम के उत्कट भाव से भी भरी हुई है। वह बुद्ध गुप्त को कहती है—"मै तुम्हे घृणा करती हूँ, फिर भी तुम्हारे लिये मर सकती हूँ। अवेर है, जल-दस्यु ! मै तुम्हे प्यार करती हूँ !"

इस सम्बन्ध मे हमारा निवेदन है कि यह भाव-द्वन्द्व का उदाहरण है। इसमे रति और घृणा मे सघर्ष की स्थिति हे, दोनो एक-दूसरे को बाहर धकेलने के लिए कमर कसे हुए है। दोनो भावो की एक साथ निश्चित स्थिति यहाँ नही मानी जा सकती। चम्पा तर्क-वितर्क करती है। कवि चम्पा के हृदय का द्वन्द्व ही प्रकट करना चाहता है। फिर एक बात और, व्यक्ति के प्रति आकर्षण और प्रेम तथा उसके किसी कार्य से घृणा की स्थिति तो काव्यो मे खूब रहती है, जैसे कोई नारी अपने प्रिय को दिल-जान से चाहती हुई भी, उसकी शराब पीने की आदत या किसी अन्य व्यसन मे प्रवृत्ति के प्रति घृणा दिखा सकती है। ऐसे स्थानो पर घृणा भाव सचारी भाव के रूप मे ही आ सकता है। 'नाट्यशास्त्र' मे जुगुप्सा को शृगार का सचारी नही माना गया। पर बाद के आचार्यो ने शृगार मे सब सचारी मान लिए। शृगार के साथ घृणा सचारी रूप मे तो आ सकती है, किन्तु स्वतत्र स्थायी भाव रति के साथ स्थायी भाव घृणा का एक आलम्बन और एक आश्रय मे एक साथ प्रकट होना सभव नही है। यह स्थिति मनोवैज्ञानिक सत्य हो ही नही सकती। हाँ, परिस्थितियो के बदल जाने पर एक के बाद दूसरे रस या भाव की स्थिति हो, तो यह दूसरी बात है। उस अवस्था मे आलम्बनत्व ही परिवर्तित हो जायगा। विरोधी रसो की सामग्री का एक साथ प्रयोग करने से निश्चित ही रस-दोष उत्पन्न होता है, जैसे, "मान मा कुरु तन्वङ्गि ज्ञात्वा यौवनमस्थिर", अर्थात् हे तन्वङ्गि ! तू यौवन को अस्थिर जानकर मान मत कर।" इस कथन मे शृगार रस की सिद्धि मे यौवन की नश्वरता का उल्लेख जो शात रस का विषय है, व्याघात-सा ही उत्पन्न करता है। अत इसके उल्लेख से शृगार रस मे दोष ही आया है।

५ किसी भाव का असमय आगमन भी हमारे आचार्यो ने रस-दोष बताया है, जो निस्सदेह मनोवैज्ञानिक है। किन्तु डा० गुप्त ने इस पर भी आक्षेप करते हुए कहा है कि 'वेणी सहार' के दूसरे अक मे दुर्योधन का प्रणय-प्रसग रसदोष कैसे माना जा सकता है, जबकि कवि ने शृगार का पूर्ण चित्रण किया है। अत जब रणभूमि मे वीरो की लाशो का ढेर लग जाता है, तब शृगार का यह प्रसग असमय होते हुए भी उचित हे। इस सम्बन्ध मे भी हमारा निवेदन है कि यह प्रसग असमय भाव-आगमन नही माना जा सकता। 'वेणी सहार' मे भाव-चित्रण की स्थिति बडी सदिग्ध है, यह हम ऊपर स्पष्ट कर चुके है। यहाँ केवल इतना कह देना पर्याप्त है कि यदि दुर्योधन का यह प्रणय धृतराष्ट्र-द्वारा अपने पुत्र की मृत्यु के शोक या दुर्योधन द्वारा ही अपने भाई के निधन पर शोक की व्यजना के तुरन्त बाद प्रकट होता, तब अवश्य असमय कहलाता। ऐसी असमय अवतारणा अनुचित-सी अवश्य प्रतीत होती है। हमारी

न्याय-भावना के विरुद्ध जो भी चित्रण होगा, वह अनुचित ही होगा। अत किसी भाव का असमय आगमन रस-दोष अवश्य बनता हे, इसमे सदेह नही होना चाहिए। शोक के तुरन्त बाद या साथ-साथ उसी आश्रय मे, बिना परिस्थिति-परिवर्तन के, हास्य का वर्णन करना हास्यास्पद और अनुचित ही कहा जायगा। यह रस-दोष ही होगा। अत आचार्यों की रस-दोष-सम्बन्धी यह धारणा भी व्यर्थ नही समझनी चाहिए।

डा० राकेश गुप्त ने 'रस-दोष' पर विचार करते हुए भी आचार्यो की मान्यताओ का खण्डन किया है। वास्तव मे, जैसा कि पहले कह आए है, डा० गुप्त ने साहित्यिक अनुभूति की दृष्टि से आचार्यो की रस-दृष्टि का अध्ययन नही किया। 'रस-दोष' से आचार्यो का अभिप्राय यही था कि यदि किसी कवि के काव्य मे आलम्बनत्व अयुक्त है, अथवा अनौचित्य पर आधारित है, तो उसका काव्य-चित्र रस की दृष्टि से सफल नही बन पायेगा। रस-दोष से अभिप्राय यह नही कि पहले रस की अनुभूति हुई और फिर दोष दिखाई दिया, बल्कि रस-परिपाक मे कमी रहने का नाम ही रस-दोष है। आचार्यो ने नाम-कथन से रस-दोष भी इसीलिए माना कि यदि रस-चित्रण के स्थान पर रस-कथन कही होगा, तो उस अवसर पर रस परिपाक पूर्णरूप से न रहने के कारण रस-दोष आ जायेगा। इसमे सदेह नही कि नाम-कथन केवल वही रस-दोष माना जायेगा, जहाँ रस-परिपाक पूरी तरह न होगा। यदि कही रस-परिपाक पूरी तरह हो जाता है और नाम-कथन भी हो तो रस-दोष नही माना जायगा। कन्हैयालाल पोद्दार[1] तथा हेमचन्द्र आदि कुछ आचार्यो ने भी स्थायी भाव और सचारी भाव के नाम-कथन को वहाँ सदोष नही माना, जहाँ रस या भाव की अनुभूति पूरी तरह हो जाती है। डा० राकेश गुप्त का मत है कि नाम से कथन रस-दोष कहा ही नही जा सकता।[2] उन्होने नाम-कथन से केवल नाम लेना ही समझकर इस तथ्य का बिल्कुल खण्डन कर दिया है। यह तो ठीक है कि कोरे नाम-कथन से रस की स्थिति ही नही होगी, फिर रस-दोष कैसा ? किन्तु इस सम्बन्ध मे हमारा नम्र निवेदन है कि काव्यो मे ऐसी स्थिति भी तो सभव है, जहाँ रस का आभास तो होता है, अर्थात् रस-विशेष की अनुभूति तो कुछ जगती है, किन्तु उसके पूरे चित्रण के अभाव से पूर्ण रस-परिपाक सभव न हुआ हो, और कवि ने अधूरे चित्रण और नाम-कथन से काम चला कर अपनी लेखनी बन्द कर दी हो, या चाहते हुए भी वह पूर्ण रस-योजना न कर पाया हो, ऐसे अवसर पर उसका अपूर्ण चित्रण या नाम-कथन रस-दोष ही कहा जायगा। हमने ऊपर 'वेणी सहार', 'शिशुपाल वध' आदि काव्यो के उदाहरणो से सिद्ध किया है कि किस प्रकार इन काव्यो मे आलम्बनत्व की

---

१ काव्य-कल्पद्रुम, पृ० ३७४-३७५।
2. Psychological Studies In Rasa, p 172

अधूरी प्रतिष्ठा रस-दोष रही है। रस अभिव्यक्त होता है, कथित नही—इसी तथ्य को स्पष्ट करने के लिए आचार्यो ने नाम-कथन (चित्रण के अभाव मे) का निषेध किया। इमी दृष्टि को स्पष्टत जागरूक रखने के लिए ही उन्होने रस के कथित रूप को रस दोष ठहराया। अस्तु, आचार्यो द्वारा प्रतिपादित रस-दोष व्यर्थ की कल्पना नही है, मनोवैज्ञानिक साहित्यिक सत्य है। काव्यो मे जहाँ कही भी जिस कारण से भाव-प्रकाशन मे अनौचित्य होगा, वही रस मे व्याघात उत्पन्न होने से रसाभास की स्थिति होगी। इसके और भी अनेक रूप हो सकते है। न केवल वस्तु-भाव-वर्णन मे अपितु भाषा के प्रयोग मे अनौचित्य होने से भी रस दोष या रसाभास उत्पन्न हो सकता है।

कथा-काव्यो या उपन्यास, नाटक आदि मे कथा-तत्त्व, चरित्र-चित्रण आदि जिस अग या तत्त्व मे दोष होगा, वह भी रस दोष ही माना जायगा। जिस प्रकार अगी को भूलकर गौण रस को प्रमुखता देना प्रबध मे रस-दोष ला देता है, उसी प्रकार आधिकारिक वृत्त के स्थान पर प्रासगिक वृत्त को प्रमुख बना देना भी कथा-दोष के साथ-साथ रस-दोष कहा जा सकता है। इसी प्रकार कथा-नियोजना मे सब प्रकार का अनौचित्य रस-दोष ही बन जाता है। पात्रो के चरित्र-चित्रण मे यदि कोई दोष होगा तो वह भी रस की पूर्ण सिद्धि मे बाधक होने से रस-दोष ही होगा। इसी प्रकार वार्तालाप, वातावरण आदि के चित्रण मे भी जहाँ-जहाँ दोष या कमियाँ आ जायेगी, वही रस-दोष उत्पन्न होगा।

वास्तव मे कवि या लेखक की समूची रचना-प्रक्रिया मे जहाँ-कही भी भाव, विचार, रचना-शैली आदि किसी भी दिशा मे कोई दोष होगा, वह सब काव्यदोष रस-दोष ही कहलाएगा, क्योकि रचना के समूचे तत्त्वो मे सामजस्य तथा पूर्णता का समष्टि-प्रभाव ही रस-परिपाक होता है। जहाँ जिस कारण से रचना के उचित सामजस्य और पूर्णता मे कमी होगी, वही समष्टि प्रभाव या रस-परिपाक मे कमी प्रतीत होगी। अत रसाभास या रस-दोष केवल विभावानुभाव आदि रस-सामग्री मे दोष से ही उत्पन्न नही होता, अपितु रचना के समूचे रचना-विधान मे किसी भी रचना-तत्त्व मे कमी आने से रस-दोष उत्पन्न हो सकता है। एक उदाहरण लीजिए। नन्ददास की निम्न पक्तियो मे कवि के अप्रस्तुत-विधान मे अनौचित्य होने से रस-दोष उत्पन्न हो गया है—

जाकौं सुन्दर श्याम-कथा छिन-छिन नई लागै।
ज्यौ लम्पट पर-जुवति-बात सुनि अति अनुरागै॥ (रास पचाध्यायी)

यहाँ नन्ददास ने श्याम-कथा-श्रवण के आनन्द की उपमा लम्पट के 'पर-जुवति-बात'-श्रवण के आनन्द से देकर रसाभास-सा उत्पन्न कर दिया है। उपमा का यह अनुचित प्रयोग रस मे व्याघात उत्पन्न कर रहा है।

प्रबध-रचना-विधान मे दोष का एक उदाहरण और देखिए। 'गोदान' के

कथा-प्रबध मे धनुष-यज्ञ का प्रसग ३०-३२ पृष्ठो का विस्तृत प्रसग है। इसमे पत्रकार ओकारनाथ का उल्लू बनाने और मेहता के खान बनकर उपस्थित होने के दृश्य बडे अस्वाभाविक हे। पत्रकार ओकारनाथ को जिस ढग से मालती बनाती हैं, उसमे मनोवैज्ञानिक कचाई स्पष्ट नजर आती है। जो मालती पहले ओकारनाथ का विरोध और मजाक कर रही है, उसके बाद के प्रशसात्मक शब्दो पर एकदम ओकारनाथ ने कैसे विश्वास कर लिया? एक साधारण व्यक्ति भी इस खोखले मजाक को समझ सकता था, न जाने पत्रकार-जैसा सतर्क प्राणी उसे क्यो नही समझ सका! लगता है बेचारे ओकारनाथ की प्रेमचन्द ने व्यर्थ ही दुर्गति कराई है। कोई बौद्धिक चतुराई इस प्रसग के मूल मे न होने से हास्य रस मे व्याघात पैदा हुआ हे। साथ ही ओकारनाथ के चरित्र-चित्रण मे मनोवैज्ञानिक दोष खटकता है। इसी प्रकार मेहता का खान बनकर आ उपस्थित होना और उसकी आकृति, आवाज आदि का पहचाना न जाना अस्वाभाविक ही है। अत धनुष-यज्ञ का यह विस्तृत छठा परिच्छेद रस-व्याघात के कारण न तो विशेष सरस ही बन सका और न ही कथा के विकास मे इतना सहायक ही सिद्ध हुआ है। इसका सक्षिप्त होना ही अच्छा था। अगला शिकार-वर्णन का परिच्छेद भी ३५-३६ पृष्ठो का है। इन दोनो खण्डो के ६५-७० पृष्ठो मे फैल जाने से होरी-गोबर की अधिक रोचक, अधिक सवेदनापूर्ण आधिकारिक कथा मे व्याघात ही उपस्थित हुआ है। पाठक की उत्सुकता और रुचि उस कथा मे अधिक थी, इसलिए इन प्रसगो को पढते हुए पाठक के मन मे पूर्व कथा की अग्रगति जानने की जितनी उत्सुकता बनी रहती है, उतनी इन प्रसगो मे रुचि वह नही ले पाता। यदि ये प्रसग सक्षिप्त होते और अधिक स्वाभाविक होते तो इनकी रोचकता भी बढ जाती और पाठक की रसानुभूति मे व्याघात उत्पन्न न होता। अत 'गोदान' की प्रबध-रचना मे ये कथा-चरित्रगत दोष रस-व्याघात ही उत्पन्न करते है। कथा-चरित्र आदि मे अनौचित्य भी रसाभास या रस-दोष ही उत्पन्न करता है।

भावाभासयुक्त काव्य

भावाभासयुक्त काव्य भी मुख्य दो प्रकार का हो सकता है, (१) वस्तु-चित्रात्मक भावाभास और (२) वक्तव्यमय भावाभास। भावाभास की स्थिति रसास्वाद की स्थिति नही होती। अत भावाभासयुक्त काव्य और भी निम्न स्तर का काव्य होता है। इसमे न विभावादि रस-सामग्री का विधान होता है, न रस-परिपाक, अपितु कवि का चित्रण या वर्णन या तो किसी वस्तु-चित्र को उपस्थित करता है और उसके सश्लिष्ट चित्रण से पाठक को किसी दृश्य की झाकी या अनुभूति होती है, अथवा किसी बिम्ब-बिधान या रूप-विधान अथवा आलकारिक प्रयोग से किसी विचार या भाव की ओर सकेत करता है। खेद से कहना पडता है कि आज

की अधिकाश नई कविता, जिसे प्रयोगवादी कविता कहा जाता है, भावाभास की कविता ही है । हमने आगे नई कविता की रसवादी समीक्षा करते हुए नई कविता के भावाभास रूप को पूरे विस्तार से प्रस्तुत किया है । यहाँ केवल उसके स्वरूप को स्पष्ट करता हूँ । जहाँ उदात्त रसानुभूति, कोरी रसानन्दानुभूति तथा रसाभास के सब रूप रसास्वाद कराते है, अर्थात् उनमे रस-प्रक्रिया या रस-सामग्री अर्थात् विभावादि का उचित या कुछ अनुचित नियोजन रहता है, वहाँ भावाभास की दशा केवल किसी वस्तु, विचार या भाव का आभास कराती है, भावानुभूति नही जगाती । प्राचीन आचार्यो ने जिसे भावाभास कहा है, वह हमारा भावाभास नही है । प्राचीनो ने भाव के अनुचित वणन या रसाभास के अग-रूप मे वर्णन को भावाभास कहा है । परन्तु उस अवस्था मे भावाभास भी रसाभास होता है, क्योकि रसाभास का सचारी भाव भी रसाभास का ही अग होता है । अत चाहे अनुचित हो, वह भी रस-प्रक्रिया का अग बन जाता है और कुछ-न-कुछ रसास्वाद से ही सम्बध रखता है ।

भावाभासयुक्त काव्य से हमारा तात्पर्य रसानुभूति-शून्य विचाराभास काव्य से है । रस की अनुभूति न होने से भी ऐसी रचनाएँ दो कारणो से काव्यान्तर्गत ही सम्मिलित कर ली जाती है—एक तो इसलिए कि उनमे वस्तु-चित्रण का कुछ सौन्दर्य रहता है या इसलिए कि विचार या भाव का आलकारिक कथन रहता है । यदि चित्र-विधान या कथन के सौन्दर्य के बिना ही कोई विचार या तथ्य प्रस्तुत किया जायगा तो वह साहित्य-क्षेत्र की वस्तु नही मानी जायगी । कबीरदासजी ने दार्शनिक तथ्य को इस प्रकार व्यक्त किया है—

जल मै कुभ, कुभ मैं जल है, बाहर-भीतर पानि ।
टूटा कुभ जल जलहि समाना, यह तत्थ कह्यो ग्यानी ।।

इन पक्तियो मे कोई रस-योजना नही है, विभावादि की भाव-सामग्री नही है, केवल आत्मा-परमात्मा की अभिन्नता का दार्शनिक विचार प्रकट किया गया है । माया के कारण ही जीवादि दृश्यमान् जगत् भिन्न प्रतीत होता है, माया का पर्दा हटने से भिन्नता समाप्त हो जाती है । अत. विषय-वस्तु की दृष्टि से यह दर्शन की वस्तु है, काव्य की नही । तो भी कवि ने जिस उपमान-विधान द्वारा सुन्दर ढग से बात कही है, उससे अभिव्यक्ति का साहित्यिक सौन्दर्य प्रकट हो ही गया है । इसीसे इसे कविता मे स्थान प्राप्त है । किन्तु भावानुभूति के मार्मिक सौन्दर्य के अभाव मे यह आलकारिक तथ्य-कथन भावाभास-मात्र है । उच्च कोटि की कविता मे ऐसी रचनाएँ कदापि स्थान नही पा सकती ।

हमने अद्भुत रस पर विचार करते हुए पीछे कहा था कि हर प्रकार का कौशल अद्भुत रस के स्थायी भाव विस्मय का आलम्बन होता है । कवि का अभि-व्यक्ति-कौशल भी हमने विस्मय का जनक माना है । अत भावाभासयुक्त रचनाओ

मे, अर्थात् जिन रचनाओ मे कवि की अनुभूति किसी प्रकार की रसानुभूति नही कराती, जहाँ वस्तु-चित्रण अथवा तथ्य-कथन-मात्र अद्भुत आलकारिक चमत्कार से ओत-प्रोत होता है, वहाँ कवि के कथन के कौशल अर्थात् अभिव्यक्ति के अनूठेपन से पाठक की विस्मय भावना जागृत होती है और वह कोरा अनुरजनकारी अद्भुत रसानन्द प्राप्त करता है। ऐसी रचनाएँ भावाभासयुक्त कोटि के स्थान पर कोरे रसानन्दात्मक काव्य की श्रेणी मे ही आयेगी। जहाँ कवि-कर्म अधिक कुशल न होगा अर्थात् अभिव्यक्ति मे अधिक चमत्कार न होगा, वहाँ हल्के कवि-कौशल से केवल विस्मय भाव ही जगकर रह जायगा। अत ऐसे आलकारिक प्रयोग विस्मय की तीव्रता से रस कोटि मे, तथा बहुत हल्के चमत्कार से भावाभास मे गिनने चाहिएँ। ऊपर उदाहृत कबीर के दोहे मे अभिव्यक्ति का हलका चमत्कार ही है, जो साहित्य-पाठक को अधिक चमत्कृत नही करता। अत इसे भावाभाव ही कहा गया है। जिन पद्यो मे अधिक अनूठापन तथा विशेष कौशल प्रतीत होगा उन्हे रसास्वादक काव्य की कोटि मे स्थान देगे। परन्तु यह ध्यान रहे कि कोरा आलकारिक चमत्कार रसास्वादक रूप मे भी कोरा मनोरजक रसास्वाद कराता है, उदात्त रसानुभूति नही।

आलकारिक चमत्कार को अद्भुत रसानुभूति मानने मे आपत्ति नही होनी चाहिए। हमने पीछे यह बात स्पष्ट कर दी है कि अद्भुत रस का आलम्बन कोई भी विस्मयकारक घटना, वस्तु या कर्म हो सकता है। अत कवि का चमत्कारपूर्ण अभि-व्यक्ति-कर्म भी विस्मयकारी होने से हमारी विस्मय-जागृति का कारण (आलम्बन) बना होता है। अत हमे अद्भुत रसानुभूति ही कराता है। इसमे सदेह नही कि यहाँ केवल आलम्बन से ही रसानुभूति होगी। अत कोई आपत्ति कर सकता है कि विभा-वादि की पूर्ण योजना के बिना रसानुभूति कैसी? इस सम्बन्ध मे हम पहले भी कह चुके है कि विभावादि मे से किसी एक का चित्रण भी रसयुक्त होता है। जैसे प्रकृति का केवल आलम्बन-रूप मे चित्रण रस-बोध कराता है वैसे ही यह आलम्बनत्व से उत्पन्न भावानुभूति भी रसानुभूति ही होती है। इसमे काव्यगत आश्रय और उसके अनुभाव-सचारी भाव न होते हुए भी हम स्वय आश्रय बन जाते है। जितना अधिक यह आलम्बनपक्ष पुष्ट होगा अर्थात् जितना अधिक चमत्कारक कवि-कथन होगा, उतना ही अधिक रसास्वाद होगा। सूक्ति काव्य को भी इसीलिए नीरस नही कहा जा सकता, क्योकि उसमे भी हमारी विस्मय भावना कुछ-न-कुछ आनन्द अवश्य लेती है। अत आलकारिक चमत्कारपूर्ण रचनाओ को भी अद्भुत रस के अन्तर्गत स्थान देकर हम उन्हे सरस अर्थात् रसास्वादकारी रचनाएँ मानते है। किन्तु उनका यह रसास्वाद उदात्त रसास्वाद न होकर केवल मनोरजन कराने वाला रसास्वाद होगा। इस दृष्टि से भावाभासयुक्त काव्य मे केवल बहुत थोडी ऐसी रचनाएँ ही आयेगी जिनमे कवि वस्तु-वर्णन अथवा तथ्य-कथन या वक्तव्य मे विशेष चमत्कार उत्पन्न करने मे भी समथ न हुआ होगा। बिहारी का यह प्रसिद्ध दोहा लीजिए—

कनक कनक तै सौ गुनी, मादकता अधिकाइ।
उहि खाइ बौराइ जग, इहि पाई बौराइ॥

इसमे 'धन के नशे' का तथ्य व्यक्त किया गया है। धन की बुराई के भाव की ओर भी सकेत ग्रहण किया जा सकता है किन्तु इसमे कवि-अनुभूति की दृष्टि से रसानुभूति की कोई बात नही है। केवल कथन के अनूठेपन के कारण ही इसमे सरसता पाई जाती है। इसीसे हम इसे भावाभास-मात्र न कहकर रसयुक्त रचना कहेगे। किन्तु जहाँ कथन का अनूठापन भी विशेष नही होता, वहाँ तथ्य-बोध भावाभास ही मानना चाहिए। नई कविता मे अधिकतर यही तथ्य-बोध कुछ कथन के नये ढग मे अथवा नवयुग के नये तथ्य साधारण-असाधारण ढग से व्यक्त होते है। प्रयागनारायण त्रिपाठी की इस कविता मे तथ्य-बोध अथवा कथन मे हमे तो कोई नवीनता नजर नही आती, फिर भी न-जाने किस कारण उसे नई कविता की विशेष सज्ञा प्राप्त हुई है—

सौदा सौदा है तभी, अगर सेवा है,
सेवा सेवा है तभी, अगर अर्पण है।
अर्पण अर्पण है तभी, अगर पीडा है,
पीडा पीडा है तभी, अगर सोऽह है।
सोऽह जब त्व हो जाय तभी सोऽह है,
सोऽह का त्व मे लय ही लक्ष्य परम है। —तीसरा सप्तक

हमारा निवेदन है कि ऐसी भावाभासयुक्त रचनाएँ किसी भी भाषा का गौरवपूर्ण स्थायी काव्य नही बन सकती। केवल विचारो का सकेत करना या भावानुभूति-शून्य तथ्य-निरूपित करना कवि-कर्म नही होता। कवि तो अपने विचारो को रूप प्रदान करता है—भावानुभूति के रूप-परिधान पहनाता है।

यह वक्तव्यरूप-भावाभास या विचाराभास का स्वरूप हुआ। अब वस्तु-चित्रात्मक भावाभास का स्वरूप समझिये। इसमे कवि की दृष्टि किसी भाव-सौन्दर्य पर न जाकर वस्तु-दृश्य पर जाती है और वह अपनी कल्पना के सहारे उसका चित्र उपस्थित कर देता है। जब यह वस्तु-चित्रण कवि की उदात्त भावानुभूति के रूप मे प्रकट होता है, तब तो भावाभास नही रहता, रसानुभूति ही कराता है, जैसे प्रकृति का आलम्बन-रूप मे आह्लादक चित्रण, किन्तु जब कवि केवल भावानुभूति-शून्य चित्रण करता है, तो वह वस्तु-चित्र-मात्र बनकर रह जाता है और कोई मार्मिक अनुभूति नही जगाता। इसीसे उसे भावाभास कहना पडता है। वस्तु-चित्रात्मक भावाभास मे भी अलकार-योजना हो सकती है, पर इसमे चित्र प्रस्तुत करना कवि का मुख्य उद्देश्य होता है। वस्तु-ध्वनि किसी विचार या भाव की ओर भी सकेत कर सकती है, किन्तु किसी उदात्त स्थायी भाव की रसानुभूति नही करा पाती।

वस्तु-चित्रात्मक कविता का एक बढिया उदाहरण—सुहृद्वर डा० रमेश कुतल मेघ की निम्न कविता, देखिए—

जैसे हो बद रीले सिनेमा की
खुलती ही खुलती चली जायँ—
वैसे ही स्टेशन पर स्टेशन जाते है निकल,
वैसे ही खिडकी से जाते है फिसल,
नीले सिघाडो के पोखरे, मटमैले गाँव,
भूरे उनीदे सारस के जोडे, कजलाए मेघो के बीच,
यूँही खिडकी से—
जैसे मलमल के मीलो लम्बे थान झनझना जाये
प्रिया की अगूठी के छल्ले से।
यह स्टेशन है
रीछो-से बडे-बडे एजन।
यह स्टेशन है
बुझते-से प्लेटफार्म, हारे हुए प्रेमी के
अतिम प्रणय-पत्र-से सूने है।
यह स्टेशन है
मगही-मैथिल लोग लोक-गीतो की नदिया जैसे
बहते जाते है।
यह स्टेशन है
काले कौवे सदेश ले लेकर
ग्राम-युवतियो के
बूढे-बट पर पातियाँ बाँचते है।
यह स्टेशन है
कचनार, कर्णिकार, रतनार के वृक्ष
खडे-खडे हर गाडी को फहराते है
विदा की रूमाले।
ये नीरव तारो के खभे है
उत्सव मे बच्चो-से खिलखिला भगते है।
सरसो के खेत पीत-गोटो-से
अथवा हल्दी की लोई-से
उबटन लगा लगा फैलते है कूलो के, कछारो के।
लगता है ब्याह हो रहा है—
नदियो का बगुलो से, मेघो का युवतियो से,

स्टेशन का गाँवो से, मेरा इन ऋतुओ से ।
यूँ ही तो खुलते फिर खुलते
रीलो जैसे—
स्टेशन पर स्टेशन गुजरते जाते है ।
भोर के पियालो पर
पहाडी नदियो की भाप फैल जाती है,
लगता है आग लगी,
अथवा दुही गागर
जिसको छलकाते है हवा के ग्वाले ।
बज उठती है रेल की वशियाँ
स्टेशन से स्टेशन तक गूँजती प्रतिध्वनियाँ ।[1]

समूची नई कविता मे वस्तु-चित्र या दृश्य-विधान का ऐसा सरस अनूठा उदाहरण शायद ही दूसरा मिले । कवि ने बहुत सुन्दर उपमान योजनाएँ की हैं । मेल गाडी से गुजरते दृश्यो का सिनेमा की रीलो-जैसा गत्यात्मक चित्रण निश्चय ही कवि की अद्‌भुत कल्पना-शक्ति का परिचायक है । सूने अँधियारे गुजरते प्लेटफार्मो की विफल प्रणय-पत्रो से, रेल की खिडकी से गुजरते दृश्यो की सिनेमा की रीलो तथा प्रिया की अगूठी से झनझना दिए गए ढाके की मलमल के थानो से उपमाएँ बहुत बढिया है । इसी प्रकार कचनार, कर्णिकार आदि वृक्षो द्वारा रुमाल हिलाकर हर गाडी को विदा देना, खेत की सरसो का हल्दी का उबटन आदि एक से एक बढिया उत्प्रेक्षाएँ है । कवि 'मेघ' ने 'मेघो का युवतियो से' तो नही, 'मेरा इन ऋतुओ से' ब्याह होना कहकर प्राकृतिक अनुराग भी व्यजित कर दिया है । अत यह कविता भावाभास नही कही जा सकती, चमत्कारपूर्ण अभिव्यक्ति तथा प्राकृतिक अनुराग के कारण सरस या रसानुभूतिपूर्ण ही कही जा सकती है । परन्तु इसमे भी उदात्त भावानुभूति की न्यूनता ही हैं । यदि कवि इसे अपनी अनुभूतियो से और रग देता तो और सरस उदात्त रसानुभूतिपूर्ण बन जाती ।

अब इसके साथ कीर्ति चौधरी की 'कम्पनी बाग' कविता पढिए—

लतरे है, खुशबू है, पौधे है, फूल है ।
ऊँचे दरख्त कही, झाड कही, शूल हैं ।
लान मे उगाई तरतीबवार घास है ।
इधर-उधर बाकी सब मौसम उदास है ।
आधी से ज्यादा तो जमीन बेकार हैं ।
उगे की सुरक्षा ही माली को भार है ।

---

१ 'ज्ञानोदय', मार्च १९६२ ।

लोहे का फाटक है, फाटक पर बोर्ड है ।
दृश्य कुछ यह पुराने माडल की फोर्ड है ।
भँवरो का बुलबुल का सौरभ का भाग है।
शहर मे हमारे यही कम्पनी बाग है ।

—तीसरा सप्तक

इस कविता मे न तो कोई आल्लादक चित्रमयता है, न बिम्ब विधान और न ही व्यग्य उभर सका है । 'पुराने माडल की फोर्ड' की उपमा भी व्यर्थ-सी लगती है । कुल-मिलाकर कविता अकविता-सी ही प्रतीत होती है। इसे वस्तु-चित्रात्मक भावाभास कहते भी सकोच हो रहा है । न-जाने इसमे क्या विशेषता देखकर 'नई कविता के आचार्य' ने इसे अपनाया है ! फिर भी यदि किसी को इसमे किसी विचार या भाव अथवा वस्तु-चित्र का सकेत मिलता हो तो वह इसे भावाभासयुक्त कविता मान सकता है । किन्तु हम यह साफ कह देना चाहते है कि ऐसी कृत्रिम बेसाखियो पर टिकाने से कविता टिक नही सकती ।

अत कोरे वस्तु-चित्रण मे भी यदि कवि अभिव्यक्ति का कोई चमत्कार पैदा नही कर पाता तो उसका प्रयास भावाभास ही कहा जायगा । जहाँ कोरे वस्तु-चित्रण मे बिम्ब-विधान अथवा अन्य आलकारिक चमत्कार होता है, वहाँ वस्तु-चित्रण भी भावाभास के स्थान पर मनोरजक अद्भुत रसास्वादक बन जाता है ।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हुआ होगा कि भावाभास काव्य-साहित्य का निकृष्टतम रूप है । इस कोटि मे वे अत्यन्त हल्की कविताएँ ही रह जाती है, जिनसे न तो कोई भावानुभूति जगती है और न ही कलागत सौन्दर्य-बोध होता है । ऐसी रचनाएँ गद्य मे तो साहित्य-कोटि से बाहर की ही वस्तु होती है । कविता मे उन्हे इसलिए साहित्य-परिधि मे रख लिया जाता है कि उनमे सगीत-लय-अभिव्यक्ति का कुछ गुण या सौन्दर्य प्रतीत हो सकता है ।

इस उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन से सिद्ध होता है कि काव्य-रचना-प्रक्रिया मे रस-औचित्य से ही काव्य उदात्त रसानुभूतिपरक बन सकता है । औचित्य का जितना ह्रास होता जायगा, अथवा यो कहे कि अनौचित्य का जितना अधिक समावेश होता जायगा, काव्य उतना ही अपना गौरव खोता जायगा । पूर्ण अनौचित्य अर्थात् रसानुभूति का सर्वथा अभाव उसे भावाभास ही बना देता है—एक तरह साहित्य-परिधि से ही खारिज कर देता है । अत जो कवि अपनी रचना को अनौचित्य से जितना बचायगा, उतना ही उसकी रचना गौरव पाती जायगी । अनौचित्य का सर्वथा अभाव ही उदात्त रसपूर्ण काव्य कहलाता है ।



५

काव्य में अश्लीलता का प्रश्न

●

साहित्य मे श्लीलता-अश्लीलता का प्रश्न भी रस-औचित्य-अनौचित्य से सम्बन्ध रखता हे। निश्चय ही रस की औचित्यपूर्ण सिद्धि मे अश्लीलता की बात पैदा ही नही होती। जहाँ कवि रस की औचित्य-सीमा का अतिक्रमण कर जाता है, वही अश्लीलता का प्रश्न पैदा होता है। अश्लीलता का प्रश्न आज के युग मे विशेष रूप से साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न बना हुआ है। यद्यपि श्लील का अर्थ शिष्ट, सभ्य, उत्तम आदि है और शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से अश्लील या अश्लीलता का अर्थ अशिष्ट, असभ्य, भद्दा या अशिष्टता, भद्दापन, फूहडपन आदि ही ठहरते है, किन्तु काव्य मे अश्लीलता का अर्थ नग्न यौन-प्रदर्शन के रूप मे रूढ हो गया है। हमारे प्राचीन आचार्यो ने अश्लील को काव्य-दोष माना, और उसे अश्लील शब्द-दोष, अश्लील पदत्व दोष, अश्लील प्रकरण-दोष, भाव-दोष आदि अनेक रूपो मे विवेचित किया। अश्लीलता से अभिप्राय अधिकतर यौन-चित्रण से ही रहा है।

प्राय सभी आचार्यो ने अश्लीलता को काव्य-दोष बताया है, किन्तु मम्मट आचार्य आदि ने साथ ही यह भी कहा है कि 'अश्लील क्वचिद् गुण'—अर्थात् अश्लीलता का दोष भी कही-कही गुण हो जाता है। मम्मटाचार्य का कथन है कि "जुगुप्सादायक अश्लील अर्थ शात रस के प्रकरण मे गुण-विशिष्ट माना जाता है"। उदाहरण-रूप मे यह श्लोक प्रस्तुत किया गया है—

> उत्तानोच्छूनमण्डूकपाटितोदर सन्निभे।
> क्लेदिनि स्त्रीव्रणेसक्तिरक्रमे कस्य जायते ॥३०४॥
>
> —काव्य प्रकाश, सप्तम उल्लास।

अर्थात् "औंधे मुँह सूजे हुए मेढक के फटे पेट के समान क्लेद (मलिन जल) से युक्त जो स्त्रियो का वरागरूप शरीर का फटा हुआ भाग है, उसमे कीडो-मकोडो के समान कृमि (नीच प्राणियो) को छोड और कौन आसक्त हो सकता है ?"

मम्मटाचार्य ने यहाँ शात रस का प्रकरण माना है। किन्तु शात रस का

स्पष्ट विषय न होकर, वस्तुत इस श्लोक मे जुगुप्सा ही है। घृणित विषय मे आसक्ति रखने वाले घृणित नीच प्राणियो के प्रति घृणा ही यहाँ व्यजित हुई है। कवि या कथन-कर्त्ता की स्पष्ट घृणा और ग्लानि ही यहाँ व्यक्त हुई है। यदि यही भाव सासारिकता का निषेध करके तत्वज्ञानजन्य निर्वेद और आध्यात्मिक प्रवृत्ति दिखाता तभी शात रस बनता। अस्तु, ऐसे शात और वीभत्स रस के प्रकरण मे गुप्त अगो का इस प्रकार का जुगुप्सापूर्ण स्पष्ट चित्रण भी आचार्यो ने गुण स्वीकार किया है। ऐसी स्थिति मे यह प्रश्न स्वभावत बडा जटिल बन जाता है कि साहित्य मे हम किसे अश्लील कहे, किसे श्लील। अश्लीलता की कसौटी क्या हो ?

अश्लील साहित्य की आजकल खूब वृद्धि हो रही है। इसे रोकने की समस्या आज की बटी जटिल समस्या बनी हुई है। परन्तु अश्लीलता का मापदण्ड हमारे पास कोई नही है, जिसके कारण न तो साहित्यकार एकमत होकर किसी रचना को अश्लील घोषित कर सकते है, न न्याय की रक्षक सरकार ही अश्लील रचना को अपने कानून की जद मे लाने मे समर्थ है। कुछ साहित्यकार साहित्य मे श्लीलता-अश्लीलता के प्रश्न को निरर्थक कहकर टाल देना चाहते है। अज्ञेय आदि का कथन है कि कला की पूर्णता मे अश्लीलता का प्रश्न ही नही रहता। परन्तु कलात्मक मूल्य क्या है, और किस कलात्मक सिद्धि मे अश्लीलता दोष नही रहती, यह तथ्य उक्त विद्वानो ने उद्भासित नही किया। मम्मट आचार्य ने जो 'क्वचिद् गुण' वाली बात कही है, ये विद्वान् एक तरह उसी बात का समर्थन करते प्रतीत होते है। किन्तु उनके उक्त कथन से भी इस समस्या का समाधान नही होता, अश्लील रचनाओ के श्लील-अश्लील होने की बात या यो कहे कि अश्लील रचनाओ के कलात्मक-अकलात्मक होने की कसौटी सामने नही आती।

डा० नामवरसिह ने 'ज्ञानोदय' मे प्रकाशित अपनी लेख-माला मे साहित्य मे अश्लीलता के प्रश्न को एक महत्त्वपूर्ण और जटिल समस्या मानते हुए कई प्रकार के प्रश्न उठाये है। उनका कथन है—"अश्लील साहित्य की वृद्धि हो रही है। इसे रोकने के लिए कानून बनाने की भी आवश्यकता अनुभव की जा रही है। ताजि-रातेहिन्द मे अश्लीलता-सम्बन्धी धाराएँ पहले ही है। परन्तु प्रश्न है कि अश्लीलता का मानदण्ड क्या है ? कोई रचना या उसका अश कहाँ तक श्लील है और कहाँ अश्लील—इसका निर्णय कैसे हो ? सरकार की जैसी चिता है, उससे कम यह साहित्यकार की चिता का विषय नही है। अदालत मे भी निर्णय कैसे हो ? क्या अदालती निर्णय और साहित्यिक निर्णय मे अन्तर है ? इस मापदण्ड के अभाव मे कैसी गडबडी रहती है, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण 'लेडी चैटरलीज लवर' है। अदालत ने निर्णय दिया —"अश्लील तो है किन्तु साहित्य के हित को ध्यान मे रखते हुए इसे अपराध-मुक्त किया जाता है।" किन्तु क्या यह निर्णय सतोषप्रद है ? यह छूट कैसी ? क्या जो साहित्य का हित है वह अश्लील भी हो सकता है ? क्या साहित्य का हित और

जीवन का हित अलग-अलग वस्तु हैं ? साहित्य-समीक्षा मे भी, अदालत की तरह, किसी कृति की अश्लीलता को उसके कलात्मक गुणो के कारण क्षमा कर दिया जाता है। "अश्लील तो है, पर कलात्मक है।"—ऐसे कथन कलावादी दृष्टि के ही परिचायक है—या क्या कहे ? अश्लीलता की साहित्यिक परिभाषा क्या सभव नही है ? क्या श्लील-अश्लील की कोई शाश्वत और आत्यन्तिक परिभाषा नही हो सकती ? क्या ये केवल समय (Convention) है जो समाज और परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते है ? अश्लीलता का प्रश्न देश-काल-सस्कृति-सापेक्ष कहकर टाला नही जा सकता। इसमे सदेह नही कि देश-काल की दृष्टि मे कुछ अन्तर रहता हे, जैसे रगमच पर चुम्बन भारत मे मर्यादा के विरुद्ध है तो पाश्चात्य देशो मे नही। किन्तु तो भी अश्लीलता एक शाश्वत वस्तु है—शाश्वत समस्या है।

अश्लील साहित्य का निर्णय करना ही जटिल नही है, बल्कि अश्लील साहित्य के सामाजिक नियत्रण की समस्या भी अत्यन्त जटिल है। साक्षरता और शिक्षा के प्रसार से यह और भी जटिल होगी। जब बच्चे भी शिक्षित होगे, स्त्रियाँ भी, किशोर भी, तो कैसे उनसे अश्लील साहित्य को छुपा कर रखा जा सकता है ? कई फिल्मो मे जो "केवल प्रौढो के लिए" वाली बात होने से नियत्रण हो जाता है, वह लिखित साहित्य मे कहाँ सभव होगा ? और फिर जो बात किशोरो के लिए घातक है, वह प्रौढो के लिए क्यो घातक न होगी ?

कुछ इस प्रकार के प्रश्नो को उठाकर ही डा० नामवरसिंह ने अपने निबध समाप्त कर दिये। जिस उत्साह से उन्होने ये प्रश्न उपस्थित किये थे, लगता था कि लेखक स्वय अश्लीलता का कोई मापदण्ड प्रस्तुत करेगा, अश्लील साहित्य के निर्णय की कोई कसौटी देगा, पर उन्होने ऐसा कुछ नही किया है। समस्या ज्यो-की-त्यो बनी रही है। हमारा निवेदन है कि "अश्लील तो है, पर कलात्मक है" ऐसे कथनो को तभी बर्दाश्त किया जा सकता है जबकि उनसे यह अभिप्राय हो कि इस रचना से अलग तो यह वर्णन अश्लील ही कहा जायगा, किन्तु यहाँ अश्लील नही है, कला का अग बन गया है, कलात्मक है। एक रचना अश्लील भी हो और कलात्मक भी, यह सभव ही नही है। अश्लीलता निश्चय ही साहित्य के कलात्मक या रसानुभूति के मूल्य के विरुद्ध पडेगी। किसी रचना मे यदि कुछ अश ही अश्लील है, अधिकाश उत्तम काव्य है, तो उसके भी अश्लील अश को कलात्मक दोष मानकर हटवाना जरूरी होगा। वास्तव मे अश्लीलता अनौचित्य है और अनौचित्य रचना मे दोष (रस-दोष या काव्य-दोष) का ही कारण बनता है। अश्लीलता के बारे मे दोहरी बात पैदा हो जाती है। एक तो यह काव्य-साहित्य मे अनौचित्य या रस-दोष उत्पन्न करने के कारण अवाछनीय होती है, कला की रक्षा के लिए वर्जनीय हो जाती है, दूसरे इसके समावेश से नैतिक प्रश्न भी पैदा हो जाता है। अश्लील साहित्य नैतिक

दोष या नैतिक समस्या भी उत्पन्न करता है। वास्तव मे साहित्यिक और नैतिक प्रश्न दोनो एक-दूसरे से सम्बद्ध-रूप मे आ उपस्थित होते है।

अश्लीलता मानसिक व्यभिचार है। और व्यभिचार चाहे प्रत्यक्ष क्रियात्मक हो अथवा मानसिक, वह नैतिक बुराई भी है और काव्य-दोष भी। कोरा यौन-चित्रण व्यभिचार ही है। जब शृगार या प्रेम के नाम पर कोरा यौन चित्रण किया जाता है, तो वह किसी प्रकार भी कलात्मक नही माना जा सकता। विचित्र बात तो यह है कि यौन-प्रवृत्ति (Sex) को मनोवैज्ञानिक मानकर निर्दोष बताया जाता है। डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने अपने ग्रथ 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' मे परकीया या उपपति भाव को मनोवैज्ञानिक बताया है। इस सम्बन्ध मे उनका कहना है—"और फिर जिस समाज मे अपनी विवाहिता स्त्री का मुख देखना भी दुर्लभ हो, उस समाज का कवि परकीया की ओर आकृष्ट हो तो क्या पाप है। इसलिए साहित्यिक परकीया को क्रूर दृष्टि से देखना उचित नही।" उनकी यह बात तो समझ मे आ सकती है, किन्तु जब वे इससे आगे बढकर कहते है—"वैसे भी 'व्यभिचारिणी' कही जाने वाली किसी स्त्री को घृणा और क्रोध की दृष्टि से देखना स्त्री-जाति की मूल प्रकृति से अनभिज्ञता प्रकट करना है," तथा, "विवाह होते ही प्रेम का आवेग मन्द पड जाता है। उस समय ससार की अनिद्य सुन्दरी एक साधारण स्त्री रह जाती है और ससार का सर्वश्रेष्ठ पुरुष एक महत्त्वहीन स्थान ग्रहण कर लेता है। इस मनोवैज्ञानिक सत्य के प्रकाश मे परकीया व्यभिचारिणी नही ठहरती।" उनके इस कथन से सहमत होना कठिन है। विवाह होते ही जिस प्रेम का आवेग मन्द होने की बात उन्होने कही है, उससे उनका तात्पर्य कामवासना से ही है। खेद है कि विद्वान् लेखक ने प्रेम और काम को यहाँ एक बना दिया है। परकीया-प्रेम की अभिव्यक्ति तो सभव है, किन्तु मनोवैज्ञानिक सत्य के नाम पर काम-वासना के प्रचार या केवल काम-प्रेरित व्यभिचार की बात समाज-घातक ही मानी जायगी। विद्वान् लेखक ने पाश्चात्य व्यभिचार प्रवृत्ति (Prostitution Complex) को इतनी दूर तक मान लिया है! यदि ६५ प्रतिशत लोगो मे व्यभिचार की प्रवृत्ति मनोवैज्ञानिक सत्य है, तो इससे कम प्रतिशत लोगो मे लोभ, हिसा, क्रोध आदि की दूषित प्रवृत्तियाँ नही है। तो क्या मनोवैज्ञानिक सत्य के नाम पर उन सब का खुला प्रदर्शन या प्रचार स्वीकृत किया जायगा? जब साहित्य मे इस प्रकार के कथन या आशय स्पष्ट या परोक्ष रूप से व्यक्त किये जायेगे, तो क्या मनोवैज्ञानिक सत्य के नाम पर इन्हे उचित कहा जायगा?—

वेश्याजघनरथस्थ
कुलनारी क सचेतनो गच्छेत्।
नहि रथमतीत्य कश्चिद्
गोयानेन व्रजेत् पुरुष ॥

अर्थात् "वेश्या के जघन-रूपी रथ पर चढा हुआ ऐसा कौन चेतन प्राणी है जो कुलनारी की परवाह करे ? कोई ऐसा पुरुष नही जो रथ को छोडकर बैलगाडी की सवारी चाहेगा ?"[1]

हम पीछे शृगार रस पर विचार करते हुए भी ऐसे कामोत्तेजक प्रसगो को शृगार रस से बाहर कोरा मानसिक व्यभिचार मान चुके है। इस प्रकार की कोरी कामोत्तेजना कभी कलात्मक नही मानी जा सकती। इसमे वही व्यक्ति आनन्द ले सकता है जिस की मानसिक प्रवृत्ति दूषित हो गई हो। इस प्रकार के चित्रण किसी प्रकार भी रसास्वाद (कला) का विषय नही बन सकते, उलटा उनसे नैतिक बुराई का सामाजिक दोष (खतरा) पैदा हो जाता है। अत साहित्य मे ऐसे चित्रण अश्लील ही कहे जायेगे।

अश्लीलता के इस जटिल प्रश्न का समाधान भी रस-शास्त्र ही प्रस्तुत कर सकता है। रस सिद्धात ही श्लीलता-अश्लीलता की कसौटी या मानदण्ड निर्धारित कर सकता है। अश्लीलता का सम्बन्ध नग्न-यौन-प्रदर्शन से है, यह ऊपर कह चुके है। यह यौनप्रदर्शन प्राय तीन रूपो मे प्रकट होता है—१ प्रेमपूर्ण वासना के चित्रण-रूप मे, २ परिस्थिति-जन्य वासना-चित्रण के रूप मे तथा ३ बलात्कार या अवैध कोरा यौन-प्रदर्शन। जब कवि या लेखक पति-पत्नी या प्रेमी-प्रेमिका के स्वाभाविक प्रेम की मन-प्राण और शरीर के एकाकार-रूप मे परिणति दिखाता हुआ यौन-चित्रण करता है, तब उसका यह चित्रण यदि सयमपूर्ण है तो अश्लील नही माना जाना चाहिए। वास्तव मे अश्लील वर्णन वही है, जो हमारा मानसिक स्खलन करता है। जब कबीर भक्ति या प्रेम के आवेश मे प्रिय की सेज और एकमेक भाव से मिलन आदि की बात करते है तो इसमे अश्लीलता का तत्त्व मानकर इसे अनैतिक कहना व्यर्थ ही है। काव्य का प्रत्येक वस्तु चित्र किसी भाव या विचार का उद्बोधक होना चाहिए। यदि किसी प्रकार का भावोद्बोध किसी वस्तु-चित्र से नही होता और केवल शारीरिक भूख (काम-वासना) उत्तेजित होती है, तो वह साहित्यिक दृष्टि से निरर्थक है और नैतिक दृष्टि से हेय, क्योकि वासना-उत्तेजक वर्णन से यौनाचार की प्रवृत्ति बढती है, मानसिक स्खलन होता है, जो निश्चय ही वैयक्तिक और सामाजिक हानि के द्योतक है।

प्रेम की पराकाष्ठा के रूप मे जो सयत यौन-चित्रण हमने उचित और कई बार वाछित बताया है, उसके अतिरिक्त यदि यौन-चित्रण किसी भाव से सम्बन्ध रखता है, तो वह है घृणा। बलात्कार या अवैध यौन-चित्रण बीभत्स रस का ही (विषय) है। यदि बलात्कार या अवैध यौन-वर्णन अथवा परिस्थिति-जन्य वासना-चित्रण से ग्लानि या घृणा उत्पन्न करना लेखक का उद्देश्य नही है—स्पष्ट शब्दो मे यदि

---

१. चतुर्भाणी शृङ्गारहाट, पृ० ११०।

पाठक ऐसे वर्णन पढकर उन कृत्यो को बीभत्स और घृण्य अनुभव नही करता, अर्थात् उसके मन मे उनकी बुराई से घृणा पैदा नही होती, वह बीभत्स रसानुभूति प्राप्त नही करता तो वे यौन-दृश्य सर्वथा अनुचित है, हेय है, अश्लील है। यदि अवैध यौन-चित्रण, बलात्कार, व्यभिचार, वेश्यावृत्ति आदि पाठक के मन मे घृणा उत्पन्न कर देते है—इन बुराइयो से दूर रहने और समाज मे इन्हे दूर करने की प्रेरणा देते है—तो पाठक के मानसिक स्खलन की सम्भावना नही रहती, बल्कि भावना के औदात्त्य के कारण मानसिक स्वास्थ्य-लाभ ही होता है। ऐसे चित्रो मे ही अश्लीलता का दोष भी दोष नही माना जा सकता। प्रेम या घृणा की अनुभूति के बिना अश्लील चित्रो के मानसिक होने की बात सार्थक ही नही रहती। शात रस की सिद्धि मे भी घृणा (विषय-वासना के प्रति घृणा) ही काम करती है। अत सिद्ध हुआ कि काव्य मे अश्लील वर्णन वही सह्य या दोष-मुक्त होगा जो हमारी प्रेम या घृणा की उदात्त वृत्तियाँ जगायगा। उसे ही हम कलात्मक कहना चाहे तो कलात्मक भी कह सकते है, क्योकि उदात्त वृत्तियो की अनुभूति ही कला या साहित्य का उद्देश्य है। यदि शारीरिक अनुभव भावनात्मक अनुभूति बन गया तो उसमे अश्लीलता नही रहती। शारीरिक अनुभव भावनात्मक अनुभूति दो ही रूपो मे हो सकता है—एक प्रेम और दूसरे घृणा के रूप मे।

प्रेम और घृणा की उदात्त वृत्तियो के आश्रय भी कवि या लेखक को शारीरिक वर्णन मे सयम से ही काम लेना चाहिए, क्योकि यदि वह शारीरिक वर्णन को अधिक विस्तृत और नग्न कर देगा, तो उसकी ही मानसिक धुरि खो जाने का डर है। उसके साथ ही उसके पाठक की भी मानसिक भावना पर शारीरिक चटक हावी हो जायगी। अत जहाँ तक हो सकेतो से काम चलाना ही उचित रहता है, तभी रचना सर्वथा दोषमुक्त बनी रह सकती है।

एक उदाहरण लीजिए। जायसी ने अपने 'पद्मावत' मे पदमावती-रत्नसेन की भेट का वर्णन करते हुए पति पत्नी के सभोग का चित्रण इस प्रकार किया है—

कहौ जूझि जस रावन रामा। सेज बिधसि बिरह सग्रामा।१।
लीन्ह लक कचन गढ टूटा। कीन्ह सिगार अहा सब लूटा।२।
औ जोबन मैमत बिधसा। बिचला विरह जीव लै नसा।३।
लूटे अग अग सब भेसा। छूटी मग भग भे केसा।४।
कचुकि चूर-चूर भै ताने। टूटे हार मोति छहराने।५।
बारी टाड सलोनी टूटी। बाहू कगन कलाई फूटी।६।
चदन अग छूट तस भेटी। बेसरि टूटि तिलक गा मेटी।७।
पुहुप सिगार सँवरि जौ जोबन नवल बसत।
अरगज जेउँ हिय लाइ कै मरगज कीन्हे कत॥

इस शय्या-सग्राम के वर्णन की यद्यपि कोई आवश्यकता नही थी, क्योकि इस

शारीरिक उत्तेजक वर्णन के बिना भी पति-पत्नी के प्रगाढ प्रेम और तन-मन-प्राण से एकीकरण की व्यजना सकेतात्मक शैली से हो सकती थी, फिर भी काव्य-प्रबध मे यह वर्णन इसलिए विशेष अनिष्टकारी नही रहता, क्योकि इससे कवि ने पति-पत्नी के सम्पूर्ण एकात्मत्व—मन-प्राण से ही नही, देह-धर्म से भी एकीकरण की ही सिद्धि का उद्देश्य अपनाया है। नैतिक दृष्टि से भी यह बुराई नही, क्योकि पति-पत्नी का यह शारीरिक मिलन भी जीवन की वास्तविकता है। इस पूरे सदर्भ मे यह वर्णन इतना अश्लील नही कहा जा सकता, क्योकि आगे जब सखियाँ पद्मावती से सुहागरात का अनुभव पूछती है, तो पद्मावती कहती है—'आज मै यह मर्म पा गई कि जैसा प्रिय प्यारा होता है वैसा और कोई नही—'आजु मरम मै पावा सोई। जस पियार पिउ औरु न कोई'। और अब पद्मावती को मन-प्राणो मे ही नही, तन मे भी वही प्रियतम रमा हुआ अनुभव होता है—

जौ जिउ महँ तौ उहै पियारा। तन महँ सोइ न होइ निनारा।
नैनन्ह माह तौ उहै समाना। देखउँ जहाँ न देखउँ आना।

इस प्रकार यह शारीरिक मिलन प्रेम-भावना का अभिन्न अग बन गया है। अत अश्लील या अनैतिक नही कहा जा सकता। फिर भी ऐसे नाजुक प्रसग को सकेतात्मक रखना ही अधिक श्रेयस्कर होता है। अब एक उदाहरण और देखिए। दक्खिनी हिन्दी के 'कुतब-मुश्तरी'[1] नामक प्रसिद्ध प्रेम-काव्य मे गोलकुण्डे के कुतबशाही बादशाह मुहम्मद कुली कुतबशाह के प्रेम की कहानी है। कवि वजही ने अत मे बादशाह और उसकी प्रिया मुश्तरी के मिलन और सयोग का वर्णन किया है। यह वर्णन अत्यन्त नग्न और अश्लील हो गया है—

कधी कये कि सर्दी ते तन सर्द हे। कधी लेवे ब्हाना कि सिर दर्द है।
लगी शह सो तलतल तपाने सकी। कि नई देती टुक हात लाने सकी।
कि उस काम को भोत कचवाय है। सहेलियाँ मने न्हाट कर आय है।
सकी को भोत छन्द सो सपडाय कर। दो रानाँ की बदिश मने उस जकड।
जो शह कीली दबटे कुफल ले तलार। खुले धन के तबले सो लाल आय भार।
सुघड शह सो सग्राम धन की अहै। कि याकूत दावन मे भर ली अहै।
शहशाह सो धन सेज पर आई थी। सिराना जो था सो हुआ पाईथी।
सुहाते थे शह धन सो इस वक्त यूँ। कि हिरनी को ले बैटता बाग ज्यूँ।
चल्या तग कुचे मे शह का तुरग। हुआ सुस्त आखिर कि था ठार तग।
लगी ठेस उस हौर हुआ लग पाय। किया तग कूचे मने आय जाय।
खिल्या फूल तन का मदन बाऊ ते। कि खुश है वो सभोग की चाऊ ते।

---

१. इस रचना का हमने सपादन कर लिया है और हिन्दी मे पहली बार प्रकाशित करा रहे हैं।

चचल चुलबुला जो उठी शोर कर। सिराना चल्या पाईती के ऊधर।
पिरित का झुटत शह झुटे उससो जब। बिछाना हुआ घागरा घोल सब।
किये रात भो बात धन सात यकग। बजर के वो पाये बजर का पलग।
सुहाती है धन शाह खुशफाम सो। कि गमती है सीता मगर राम सो।

"सयोग की अवस्था मे वह सुन्दरी बादशाह मे सशरीर मिलने मे तरह-तरह के बहाने करने लगी। कभी कहे कि सर्दी से तन ठण्डा है, कभी सिर-दर्द का बहाना लेवे। वह सखी इस प्रकार बादशाह को तिल-तिल तपाने लगी कि जरा भी हाथ लगाने नही देती। वह उस काम (काम-क्रीडा) से बहुत हिचकिचाती थी और भाग कर सहेलियो के बीच आ जाती थी। एक बार बादशाह ने उसे बडे यतन से पकड कर अपनी दो रानो की बदिश मे जकड लिया। बादशाह ने ताले को तले करके कीली-चाबी फसाई तो उस धन (नारी) के खजाने से लाल बाहर निकल आए। दृढ बादशाह से सुन्दरी का रति-सग्राम शुरू हो गया। शहशाह और सुन्दरी सेज पर सग्राम करने लगे। सिरहाना पाईथी बन गया। सुन्दरी को दबाये हुए बादशाह इस समय ऐसा लग रहा था, जैसे हिरनी को बाघ ने दबोच रखा हो।" इसके आगे की पक्तियो का अर्थ स्पष्ट करना हमारे बस की बात नही। इसलिए केवल शब्दार्थ देते है। "बादशाह का घोडा तग गली मे चला। जगह तग थी, इसलिए कुछ सुस्त हुआ। उसे ठेस लगी और लगडा हुआ। आखिर उसने तग गली मे रास्ता बना लिया। उसका शरीर मदन-तरग से खिल उठा। वे सभोग के आनन्द से प्रसन्न हुए। वह चचल सुन्दरी चुलबुला उठी। सिरहाना पाईथी की ओर इधर-उधर हो गया। जब बादशाह ने उसके साथ प्रीत का झूला झूला, तो बिछौना और घाघरा सब घुल-मिल गए। बादशाह ने उस धन के साथ रात भर बहुत प्रकार से सग किया। वह पलग भी वज्र का था और उसके पावे भी वज्र के थे। वह सुन्दरी बादशाह के सग ही सुहाती है, क्योकि सीता केवल राम मे ही गमती है।"

यद्यपि यहाँ भी दम्पति की रति का ही चित्रण है, किन्तु यह इतना नगा, इतना ऐन्द्रिक और इतना कुरुचिपूर्ण हो गया है कि एकदम अश्लील प्रतीत होता है। निश्चय ही कवि का मानसिक व्यभिचार यहाँ उभरा हुआ है। आश्चर्य है कि मुल्ला वजही ने इतना नगा वर्णन कैसे नि सकोच कर डाला। इस नग्न यौन-चित्रण को सर्वथा हेय माना जायगा। इसमे प्रेम-भाव की भी कोई पुष्टि नही हुई है। इस प्रकार का ऐन्द्रिक उद्वेलन उत्पन्न करने वाला चित्रण सर्वथा वर्जनीय है—काव्य की कलात्मक रक्षा-हेतु भी और नैतिकता की दृष्टि से भी। इससे पढने वाले का मानसिक स्खलन ही होगा, मानसिक व्यभिचार या यौनाचार की प्रवृत्ति ही भडकेगी। अत रसास्वाद की दृष्टि से निरर्थक होने के कारण तथा नैतिक अनौचित्य से ऐसा यौन-चित्रण अश्लील होता है। इसी प्रकार बिहारी के ऐसे दोहे भी अश्लील ही कहे जायेगे—

परयौ जोरु विपरीत रति, रुपी सुरत रनधीर ।
करति कोलाहल किंकनी, गहती मौन मजीर ।।

श्री मन्मथनाथ गुप्त के 'होटल डी ताज' उपन्यास मे आधुनिक होटलो के कलंकित, दूषित वातावरण का चित्रण हुआ है। इस रचना मे दो-तीन स्थानो पर अनुचित यौन चित्रण हुआ है। होटल मे ठहरने वाला सेठ जगबहादुर रात को दस बजे 'लाल बीबी' की माग करता है। वह ल्यूकोडरमा का रोगी है। उसे कोढी समझकर कोई लडकी उसके पास जाने को तैयार नही होती। होटल का मालिक एक वेश्या का प्रबध करता है। जगबहादुर क्रोध मे आकर बेचारी के साथ अनुचित व्यवहार करता है। उसकी चीखे, कराहना सुनकर होटल का मालिक कमरे मे जाता है। वह क्या देखता है कि वह तवायफ जमीन पर आधी नगी पडी हुई थी। बुरी तरह कराह रही थी। वह लोहू-लुहान वाकिंगस्टिक को देखकर सिहर उठा। निश्चय ही यह समूचा व्यभिचारपूर्ण वातावरण घृणा को जगाता है। जगबहादुर के प्रति तीव्र घृणा जगती है। कितना जघन्य अमानुषिक आचरण है उसका! मानव का इससे वीभत्स रूप और क्या हो सकता है? लेखक ने होटल के मालिक तथा जगबहादुर-जैसे व्यभिचारियो के प्रति घृणा जगाई है। किन्तु किशन और तारा का तथा एक कोठी वाले बाबू जी का प्रभा नामक लडकी से व्यभिचार ऐसे प्रसग है जिनमे लेखक ने सयम को हाथ से छोड दिया है। लेखक किशन और कोठी वाले बाबू जी के प्रति घृणा जगाता-जगाता स्वय उस व्यभिचार मे मजा लेता-सा दिखाई देता है। प्रभा को झासा देकर किशन एक वकील के पास ले चलने के बहाने एक बाबू साहब की कोठी मे ले जाता है। बाबू साहब पहले ही चढाकर तैयार बैठे होते है। किशन चुपके से खिसक जाता है और बाहर की कुण्डी लगा देता है। "थोडी देर मे ही बाबू साहब ने अपना असली रूप धारण कर लिया। उसने अपने मुवक्किल को अपने पास घसीट लिया। वह बहुतेरी चिल्लाती रही, पर वहाँ तो कोई सुनने वाला नही था, **और थोडी ही देर मे बाबू साहब ने प्रभा के चिल्लाने को शात कर दिया।**" इस वर्णन की अतिम पक्ति विशेष रूप से इस बात की गवाही दे रही है कि लेखक ने सयम खो दिया है। चाहिए तो यह था कि नारी को इस प्रकार अपनी कुवासना का शिकार बनाने वाले इस नर-पिशाच के प्रति घृणा उत्पन्न कराई जाती। किन्तु सयम खो बैठने के कारण, या तटस्थ-सा हो जाने की वजह से लेखक चाहते हुए भी ऐसा करने मे सफल नही हुआ। यहाँ तक कि इन बाबू साहब का परिचय भी पाठक को नही होता। इससे भी अधिक उत्तेजक किशन और तारा का यौन-मिलन है। ऐसे यौन-चित्रण या व्यभिचार तभी सार्थक माने जाते जबकि लेखक व्यभिचारियो के प्रति तीव्र घृणा जगाता हुआ ऐसे व्यभिचार की स्पष्ट शब्दो मे निन्दात्मक प्रतिक्रिया साथ-साथ प्रस्तुत करता। अत ऐसे यौन-चित्र भी अश्लील ही कहे जायेगे। इस प्रकार के बलात्कारो या व्यभिचारो को बीभत्स रस (घृणा स्थायीभाव) का पूर्ण आलम्बन

बनाये बिना प्रकट करना उचित नही है। बीभत्स रस के आश्रय तो इनका अश्लीलत्व क्वचिद् गुण या ग्राह्य बन सकता हे, अन्यथा नही। अपने नग्न रूप मे ये मानसिक व्यभिचार को ही उत्तेजित करते है और इनसे पाठक का मानसिक स्खलन होता है।

अत ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हुआ कि प्रेम और घृणा (शृगार रस और बीभत्स रस) के आश्रय ही सयत यौन-चित्रण साहित्य मे उचित कहला सकता है, अन्यथा नही। इन अवस्थाओ मे भी कवि या लेखक को शारीरिक स्थूलता बचानी चाहिए, क्योकि शारीरिक स्थूल चित्रण से मानसिक प्रेम और घृणा भाव विशेष पुष्ट नही होते। सयम को खोकर तटस्थ हो जाना तो किसी प्रकार भी उचित नही माना जा सकता। अत अश्लीलता के प्रश्न का उत्तर भी रस-शास्त्र ही देता है, अश्लीलता का मापदण्ड भी रसानुभूति ही है।

६

दुःखात्मक भावों से आनन्द और सौन्दर्यानुभूति



स्थायी भावो मे शोक, घृणा, क्रोध और भय दुखात्मक भाव है, तथा सचारी भावो के रूप मे असूया, ग्लानि, अमर्ष, चिंता, आशका, निराशा आदि अनेक दुखात्मक भाव सुखात्मक स्थायी भावो मे सचरण करके उनकी सुखात्मकता मे दुखात्मक छाया छोडते है। रति (प्रेम) के वियोग पक्ष मे दुखात्मक छाया विशेष घनीभूत हो जाती है। अत प्रश्न यह उठता है कि करुण, बीभत्स, रौद्र और भयानक रसो मे तथा अन्य संचारी भावो के दुखात्मक सचरण मे आनन्दानुभूति कैसे होती है। जिस प्रकार करुण-रस मे शोकपूर्ण दृश्यो से आनन्द-प्राप्ति कैसे सभव होती है—यह प्रश्न उठता है, उसी प्रकार बीभत्स, भयानक, और रौद्र रस मे भी यह प्रश्न पैदा होता है कि बीभत्स और घृणात्मक या भयावह दुखद दृश्यो से काव्यानन्द की प्राप्ति कैसे सभव होती है। क्या करुण, बीभत्स, भयानक, रौद्र रसानुभूति आनन्दानुभूति ही है ? क्या उसमे खिन्नता या दुख का भाव बिलकुल नही होता, क्या उसमे दुख का पुट नही होता ? यदि होता है तो दुख होते हुए भी आनन्द-प्राप्ति का क्या रहस्य है ? करुण रस, भयानक, रौद्र तथा बीभत्स रसो मे ये प्रश्न समान-रूप से उठते है। बल्कि बीभत्स और भयानक रस मे हमारे सामने एक और समस्या उपस्थित होती है। वह यह कि बीभत्स और भयानक रस के आलम्बन आदि भी बीभत्स, कुरूप, विद्रूप भयावह और अरुचिकर होते है, फिर उन कुरूप विभावादि से भी सौन्दर्यानुभूति कैसे होती है ? बीभत्स भयानकादि रसो मे सौन्दर्य तत्त्व का क्या रहस्य है ?

किसी वस्तु या दृश्य मे हमारी आत्मा की रुचि या आकर्षण अथवा प्रवृत्ति ही आनन्द या सौन्दर्य-भावना का कारण है। वे सब वस्तुएँ हमे आनन्द प्रदान करती है, जो हमारी इन्द्रियज या मानसिक अनुभूति को रुचती हैं। आनन्द या सौन्दर्य वस्तुगत (विषयगत) है अथवा विषयीगत, इस सम्बन्ध मे बडा मतभेद पाश्चात्य विचारको मे पाया जाता है। मूल रूप मे आनन्द आत्मा की ही वस्तु है, क्योकि वस्तु के सुन्दर या आह्लादक होने पर भी यदि हमारी मानसिक या आत्मिक स्थिति

विपरीत है, तो हमे उसमे आनन्द नही आता । फिर भी सामान्य रूप से सुन्दर स्वादु, और आकर्षक वस्तुओ के देखने, चखने आदि से आनन्द प्राप्त होता ही है । अत सौन्दर्यानुभूति या आनन्दानुभूति के लिए दो बाते आवश्यक है—एक तो हमारे मन या आत्मा का प्रकृतिस्थ अवस्था मे होना, अर्थात् यदि हमारा मन किन्ही अन्य कारणो से अन्यथा क्षुब्ध, तृप्त, श्रात नही है या व्यक्तिगत कारणो से विपरीत नही है, तो वह स्वादिष्ट वस्तु देखने या चखने से हमे आनन्द अवश्य प्रदान करेगी । अत मन का ठीक देखने, चखने या अनुभूति प्राप्त-करने के लिए तैयार होना पहली शर्त है, यह विषयीगत बात हुई । दूसरी शर्त है विषय-वस्तु का सुन्दर होना—आकर्षक या स्वादु होना । आनन्द इन्द्रियज भी होता है और मानसिक भी । अर्थात् जिह्वा का रस स्वादिष्ट भाजन होता है, कान का रस मधुर शब्द तथा सगीतमय ध्वनि है, आख का रस सुन्दर दृश्यो से प्राप्त होता है, घ्राण का रस सुगधित वस्तुओ से और इसी प्रकार त्वचा का रस किसी कोमल स्निग्ध स्पर्श से प्राप्त होता है । यह आनन्द इन्द्रियज आनन्द है । यद्यपि यह भी मानसिक आनन्द बन जाता है, हम किसी स्वादिष्ट वस्तु को खाकर यही कहते है कि मन प्रसन्न हो गया, मन आनन्दित हो गया तो भी इसका प्रत्यक्ष कारण पचेन्द्रियाँ ही है । इस आनन्द के प्राप्त करने से मन की भावनाओ को कोई उत्तेजना प्राप्त नही होती । अर्थात् हम सतरे का रस पीकर आनन्दित तो होते हैं, पर उसमे हमारे मन मे कोई उदात्त भावना नही जगती । इसी प्रकार जब हम एक सुन्दर पुष्प को देखते है, तो आनन्दित होते है, पर यह केवल आनन्दानुभूति या सौन्दर्यानुभूति है, उदात्त भावानुभूति नही है । यह अनुभूति उदात्त भावानुभूति तभी बनती है, जब हम उस पुष्प के सौन्दर्य से प्रभावित होकर उससे अनुराग स्थापित करते है, उसके रचयिता किसी विश्वात्मा की कल्पना करते है, उसके क्षणिक किन्तु परोपकारपूर्ण जीवन से प्रभावित होते है अथवा उसके शीघ्र मुरझा जाने पर खिन्न होते है । पुष्प के प्रति ऐसी भावनाएँ जब काव्य मे प्रकट होती है, तब वह कोरा इन्द्रियज सौन्दर्य-बोध नही रहता । किन्तु इन भाव-कल्पनाओ के बिना पुष्प-दर्शन इन्द्रियानुभूति ही होता है । यही बात किसी चित्र के देखने से प्रकट होती है । यदि चित्र के पीछे कोई स्पष्ट भावना नही है तो चित्रगत सौन्दय नयनाभिराम होने से इन्द्रियज आनन्दानुभूति ही करायेगा ।

जब हम ताश खेलते है, या सर्कस का तमाशा अथवा किसी नट का कौशल या कोई और खेल-तमाशा-नाच आदि देखते है, तो भी आनन्द-लाभ करते है । यह आनन्द भी यद्यपि नेत्रेन्द्रिय के माध्यम से ही मिलता है, पर यह होता है मानसिक आनन्द । इस आनन्द का सीधा हृदय से सम्बन्ध है । किन्तु प्राय यह आनन्द भी उदात्त भावानुभूति का आनन्द नही होता । यह आनन्द इसीलिए प्राप्त होता है कि खेलने-खिलाने तथा विचित्र कार्य देखने मे विस्मय अनुभव करने से हमारा मन रुचि लेता है, इनसे मनोरजन होता है । इन खेल-तमाशो से भी जीवन की उदात्त

अनुभूतियाँ विशेष नही जगती। ये भी इन्द्रियज आनन्द की तरह कोरा रसानन्द प्रदान करते है, कोरा मनोरजन कराते है। हाँ, जहाँ खेल-तमाशो से उदात्त भावानुभूतियाँ जगती है, वे खेल-तमाशे भी उदात्त भावानुभूति या उदात्त रस प्रदान करने वाले माने जायेगे, और उदात्त काव्यानन्द की कोटि मे गिने जायेगे। यदि किसी हाकी के मैच को देखने से हम एक टीम के कैप्टन की सदाशयता, साहस, सहृदयता आदि गुणो से प्रभावित होकर खिलाडी की सदाशयता (Sportsman spirit) का गुण ग्रहण करते हैं, तो हमारी आनन्दानुभूति उदात्त भावानन्द के रूप मे भी प्रकट होगी। यह अनुभूति उदात्त काव्यानन्द से मिलती-जुलती अनुभूति होगी। अत खेल-तमाशो की मानसिक अनुभूति भी अनिवार्य-रूप से उदात्त भावानन्दानुभूति नही मानी जा सकती। हम पहले भी कह चुके है कि उदात्त काव्यानन्द इन्द्रियज आनन्द तथा खेल-तमाशे के कोरे मानसिक आनन्द से भिन्न उदात्त भाव-जन्य आनन्द होना है। कोरा मनोरजनकारी काव्य-रसास्वाद खेल-तमाशे के आनन्द-जैसा ही होता है।

जिन वस्तुओ और दृश्यो को हमारा मन चाहता है, वे उसके लिए आकर्षक और सुन्दर होती है। जिस प्रकार सुन्दर पुष्प, मनोहर चित्र, सुगधित वायु तथा स्वादिष्ट भोजन हमे रुचिकर होते है, उसी प्रकार भावानुभूतियाँ भी रुचिकर और आह्लादक होती हैं। जैसे सब व्यजन-पदार्थ रुचिकर नही होते, केवल सुन्दर और स्वादिष्ट वस्तुएँ ही आनन्ददायक होती है, वैसे ही कुछ सुन्दर भाव या भावनाएँ ही हमे आह्लादक प्रतीत होती है, सब भाव नही। अब प्रश्न यह है कि वे सुन्दर भाव या भावनाएँ कौन-कौन सी हैं, जो आनन्दानुभूति कराती है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उदात्त भाव ही हमे स्पृहणीय होते है। अत इनके अनुभव मे हमे आनन्द मिलता है। काव्य की इस भाव-जन्य आनन्दानुभूति के लिए भी वह दो शर्ते आवश्यक है, एक भावो का सुन्दर और उदात्त होना, दूसरे हमारे मन का अनुभूति के लिए तैयार होना। हम स्थायीभाव आदि पिछले प्रकरणो मे कहते आये हैं कि हमारे स्थायीभाव और सम्पूर्ण रस-सामग्री उदात्त और सुन्दर रूप मे प्रकट होनी है। काव्यगत स्थायी भाव शोक, रति आदि सब स्पृहणीय होते है, उदात्त होते है। इन भावो की अनुभूति से हमारा मन आनन्दित हो उठता है। ये जीवन के सुन्दरम् और शिवम् से सम्बन्ध रखते है। जीवन की सत्यता के कारण इनमे सत्यम् भी विद्यमान रहता है। चित्त की अनुकूलता मे—अर्थात् जब हमारा मन सत्त्वोद्रेक की स्थिति मे होता है, व्यक्तिगत स्वार्थ-सम्बन्धो से दूर होता है— इन उदात्त या स्पृहणीय भावो की अनुभूति आनन्द-मय ही होती है। अत भावानुभूति मे आनन्द या सौन्दर्य तत्त्व दो बातो से उत्पन्न होता है। एक तो अनुभूति-काल मे हमारे मन की अवस्था व्यक्तिगत योग-क्षेम से परे हो दूसरे भाव उदात्त हो। उदात्त भावो मे सौन्दर्य-तत्त्व रहता ही है, क्योकि सुन्दर और उदात्त भावनाओ मे हमारी प्रवृत्ति होती है, वे हमे स्पृहणीय लगती हैं, और जिन वस्तुओ मे हमारी स्वत प्रवृत्ति होती है, जो हमे

स्पृहणीय लगती है, वे आकर्षक और सुन्दर होती ही है। अत हृदय की मुक्तावस्था या सत्त्वोद्रेक की दशा मे उदात्त और सुन्दर भावो की अनुभूति आनन्दमयी सौन्दर्यानुभूति होती है। यह सौन्दर्य नेत्रेन्द्रिय-द्वारा प्राप्त दृश्य वस्तुगत सौन्दर्य जैसा ही मानसिक भावनाओ का सौन्दर्य है। इन्द्रियज सौन्दर्यानुभूति या आनन्दाभूति भी इसमे सम्मिलित होकर, इसकी सहायक सिद्ध होती है। और जहाँ यह इन्द्रियज सौन्दर्यानुभूति चित्रकला, भवननिर्माणकला, सगीत-नृत्यकला, अभिनयकला, मूर्ति-कला आदि के रूप मे इस भावसौन्दर्यानुभूति की सहायक बन जाती है, जैसे नाटक, सिनेमादि मे, वहाँ यह भावसौन्दर्यानुभूति अपने चरम पर पहुँच जाती है।

उदात्त और सुन्दर शोक, घृणा, क्रोधादि दुखात्मक भावो से भी रसानुभूति या आनन्दानुभूति प्राप्त होती है, यह तथ्य उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट हो गया होगा। किसी व्यक्ति को हम, धार्मिक विद्वेष के कारण, अन्य धर्मावलम्बी किसी व्यक्ति से घृणा करते देखते है, तो उसकी यह घृणा हमे स्पृहणीय नहीं लगती, किन्तु यदि वह व्यक्ति किसी अत्याचारी-दुराचारी के पापाचरण के प्रति घृणा व्यजित करता ह, तो उसकी घृणा हमे स्पृहणीय लगेगी। यही सुन्दर और उदात्त घृणा है। यही बात सुन्दर क्रोध, भय आदि के बारे मे कही जा सकती है। इसमे मानसिक प्रवृत्ति या स्पृहा होने के कारण, सौन्दर्य-तत्त्व विराजमान रहता है। अत उदात्त और सुन्दर क्रोध, भय, शोक-घृणानुभूति सुन्दर भी होगी और आह्लादक भी। इनका सौन्दर्य भावना का सौन्दर्य है। इनका आनन्द न कोरा इन्द्रियज आनन्द है, न भाव-प्रवृत्ति-शून्य मानसिक आनन्द, अपितु यह आनन्द भाव-जन्य मानसिक आनन्द है।

शोक, घृणादि से आनन्दानुभूति प्राप्त होती है, यह सिद्धान्त मान लेने पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-द्वारा उठाये गये ये प्रश्न बडे महत्त्वपूर्ण विवेच्य प्रश्न हो जाते है कि "क्या क्रोध, शोक, जुगुप्सा, भय आदि आनन्द का रूप धारण करके ही श्रोता के हृदय मे प्रकट होते है, अपने प्रकृत रूप का सर्वथा विसर्जन कर देते है, उसे कुछ भी लगा नही रहने देते ? क्या 'विभावत्व' उनका स्वरूप हरकर उन्हे एक ही स्वरूप—सुखका—दे देता है ? क्या दुख के भेद सुख के भेद-से प्रतीत होने लगते है ? क्या मृत पुत्र को लिए विलाप करती हुई शैव्या से राजा हरिश्चन्द्र का कफन माँगना देख-सुन कर आँसू नही आ जाते, दाँत निकल पडते है ? क्या कोई दुखात कथा पढ कर बहुत देर तक उसकी खिन्नता नही बनी रहती ? 'चित्त का यह द्रुत होना' क्या आनन्दगत है ?[1] आचार्य शुक्ल ने उन लोगो के प्रति आक्रोश भी प्रकट किया है, जो काव्य को केवल आनन्द की वस्तु कहा करते है—"इस आनन्द ने काव्य के महत्त्व को बहुत-कुछ कम कर दिया है—उसे नाच-तमाशे की तरह बना दिया है।"

---

१ रस मीमांसा, पृ० १०१।

जो विद्वान् कहते है कि शोक के आँसू करुणरस अनुभूति मे सुख के आँसू होते है, शुक्ल जी ने उनका भी विरोध किया है। निस्सदेह करुणा मे प्रकट होने वाले आँसुओ को सुख के आँसू मानना भ्रातिपूर्ण ही है। वस्तुत वे आँसू तो शोक के ही होते है पर उदात्त भावना से सम्बन्ध होने के कारण यह शोक और इसके आँसू भी स्पृहणीय होते है, हम बार-बार इस तरह रोना चाहते है। इसी प्रकार क्रोध, भय और घृणा या बीभत्स की अनुभूति मे भी घृणा आदि भाव दुखात्मक ही होते है, पर वह दुख लौकिक दुख से भिन्न उदात्त दुख होता है और हमे अच्छा ही लगता है, हम चाह कर उसे अपनाते है।

दुखद दृश्यो से आनन्द कैसे प्राप्त होता है, इसका समाधान एक और विचार मे करते है। वास्तव मे हम दुःख मे निवृत्ति चाहते है, इसीलिए करुणा मे आनन्द प्राप्त करते है। जब हम कुरूपता के प्रति अनिच्छा या घृणा प्रकट करते है, तभी हमे सौन्दर्यानुभूति होती है। हम दुःखी को देखकर रो पडते है तो इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि हम उसे दुखी देखना नही चाहते। उसका दुखी होना हमे अच्छा नही लगता। इसका मतलब यह हुआ कि हम उसे सुखी देखना या कम-से-कम दुख-रहित देखना चाहते है। बस इसी चाह के कारण—दुख-निवृत्ति के कारण—हमे आनन्द प्राप्त होता है। प्रश्न उठ सकता है कि फिर हम बार-बार दुखपूर्ण चित्र या कुरूप दृश्य देखने क्यो जाते है? वास्तव मे हम उन्हे इसीलिए बार-बार देखना चाहते है कि हम बार-बार अपनी दुःख-विनिवृत्ति चाहते है। हमारी उनमे प्रवृत्ति इसी लिए रहती है कि हम बार-बार ऐसी दुखद घटनाओ या दुखी व्यक्तियो के दुखो से मर्माहत होकर, अपनी भावना का यही निर्णय देना चाहते है कि मानव को ये दुख नही होने चाहिएँ। हम बार-बार ऐसे वर्णन पढने या सुनने को तैयार होते है तो इसीलिए कि हम जगत् मे किसी को दुखी देखना नही चाहते, किसी को कुरूप और घृणित आचरण वाला बनते देखना नही चाहते। यह भी दुख की ही निवृत्ति का एक प्रकार है। जिस प्रकार परोपकार करना या दूसरो के दुःखो मे सहानुभूति प्रकट करना, उनके दुख दूर करना या दुख दूर होने की इच्छा करना ही है, उसी प्रकार काव्यगत दुखियो के दुःख मे आँसू बहाना उन्हे दुख-मुक्त देखने की इच्छा ही है। दूसरो को दुखी देखने से हृदय मे जो चोट लगती है, उसे परोपकार, सहानुभूति-प्रदर्शन आदि के द्वारा हम दूर करने का प्रयत्न करते है, इसी प्रकार काव्यानुभूति-द्वारा हम दुखी व्यक्ति के प्रति अपनी सवेदना या सहानुभूति प्रदर्शित करके अपनी चोट या दुख की ही निवृत्ति करते है। अत उससे उसी प्रकार का आनन्द पाते हैं जैसा आनन्द परोपकारी व्यक्ति दुखियो के दुख दूर करने मे प्रवृत्त होकर पाता है। हमे सहानुभूति या सवेदना-जन्य आनन्द मिलता है। निश्चय ही दया, कृपा, क्षमा आदि का आनन्द दुख की निवृत्ति

---

१ देखिए आचार्य विश्वनाथ का मत, साहित्यदर्पण हि०, पृ० ११६-११७।

का ही हेतु हे । हमारी सहानुभूति का विस्तार भी दुख की निवृत्ति का हेतु होता है, और इस प्रकार हम दुखपूर्ण दृश्यो से भी आनन्द प्राप्त करते है ।

करुणा मे आनन्दप्राप्ति के मूल मे सहानुभूति-सिद्धान्त प्राचीन काल से विद्वानो को मान्य रहा है । हम आरम्भ मे प्लेटो के उद्धरण से सहानुभूति सिद्धान्त की मान्यता को प्रस्तुत कर चुके हे । आधुनिक विचारको ने भी इस सिद्धान्त पर विचार किया है । 'सहानुभूतिपूर्वक ताटस्थ्य' सिद्धान्त के मानने वालो मे डा० वॉटवे का नाम उल्लेखनीय है । उनका कथन है कि काव्य-विषय से हमारी सहानुभूति जाग्रत होती है, अत हमे आनन्द मिलता है । यह सहानुभूति हमारी तटस्थ दशा मे ही होती है, इसी से हमारे व्यक्तित्व का पूर्ण विलय भी नही होता । इसमे किसी को सदेह नही हो सकता कि मानव दूसरो के दु खो मे सहानुभूति प्रकट करके सच्चा आत्मिक आनन्द अनुभव करता है ।

अब प्रश्न यह है कि करुणा एव भयानक रस मे तो करुणा-पात्र तथा भयभीत निरीह प्राणी के प्रति सहानुभूति जगने से सहानुभूति-सिद्धात स्पष्ट लागू होता दिखाई देता है, किन्तु बीभत्स रस मे और रौद्र मे यह सिद्धान्त कैसे मान्य हो ? बीभत्स रस मे सहानुभूति किसके प्रति जगती है ? डा० आनन्द-प्रकाश दीक्षित ने बीभत्स रस मे सहानुभूति सिद्धान्त की सिद्धि पर सदेह प्रकट करते हुए कहा है कि 'कम-से-कम बीभत्स रस के प्रसग मे इस सहानुभूति पूर्वक ताटस्थ्य सिद्धात की सिद्धि किसके प्रति सहानुभूति प्रकट करने से होगी, यह नही बताया जा सकता' ।[१] सभवत बीभत्स रस के परम्परागत मास-मज्जा-रुधिर वाले रूप के कारण ही सहानुभूति का पात्र इस रस मे कोई दिखाई नही देता । परन्तु हम देखते हे कि सामाजिक और व्यक्ति-चरित्रो पर आधारित हमारी मानसिक घृणा मे समाज या मानवता अथवा व्यक्ति-विशेष या स्वय अत्याचारी-पापी अथवा उससे पीडित-दुखित प्राणी की हानि का विचार रहने से उनके प्रति सहानुभूति की भावना अवश्य रहती है । एक प्रकार की करुणा या सहानुभूति का जो बीज भाव वीर रस के आश्रय मे रहता है, वह घृणा या बीभत्स रस मे भी अवश्य मान्य होना चाहिए । आत्मग्लानि-रूप बीभत्स रस और दयामिश्रित घृणा मे तो सहानुभूति का विस्तार उतना ही स्पष्ट प्रतीत होता है, जितना करुण रस मे । अत हमारा निश्चित मत है कि बीभत्स रस की आनन्दानुभूति के मूल मे यह सहानुभूति सिद्धात भी अवश्य काम करता है, यद्यपि यही अपने मे पूर्ण नही है । डा० गुलाबराय का कथन है कि 'साहित्य मे वर्णन होने के कारण उनका (काव्य-विषय का) विभावन या साधारणी-करण हो जाता है और उसीके साथ उसका भयावनापन या घृणापन जाता रहता है और केवल आनन्द रह जाता है । घृणोत्पादक वस्तुओ का वर्णन घृणोत्पादक नही

---

१ रस-सिद्धान्त स्वरूप-विश्लेषण, पृ० १५५ ।

होता। यद्यपि उसमें कोई आदमी यह नहीं चाहता कि घृणोत्पादक वस्तुओं का वर्णन ही लिखा या पढ़ा करे। तथापि बीभत्स का वर्णन युद्ध की भयंकरता को पुष्ट करने अपने प्रतिद्वन्द्वियों के प्रति घृणा प्रकट कर उनमें प्रतिकार की आत्मा को शांत करने बुरे को बुरा कह कर उसको दूर करने में समाज के साथ सहानुभूति प्रकट करने का आनन्द उत्पन्न करता है।"[1]

बाबूजी के उपर्युक्त वक्तव्य की आरम्भिक पंक्तियों के बारे में हमें आपत्ति है किन्तु उनका अंतिम वाक्य सहानुभूति सिद्धांत की स्पष्ट पुष्टि करता है। हम उन को इस बात से सहमत नहीं हो सकते कि घृणोत्पादक या भयावह दृश्य घृणोत्पादक या भयावह नहीं रहते। वास्तव में रहते तो वे घृणोत्पादक या भयावह ही है, पर घृणा या भय भाव स्पृहणीय हो जाते हैं। विषय या दृश्य तो भय या घृणाजनक अग्राह्य ही रहेंगे, पर अनुभूति ग्राह्य हो जाती है। इसी से सब कोई यही चाहता है कि घृणोत्पादक वस्तुओं या दृश्यों का वर्णन लिखा या पढ़ा करे। बाबूजी की इसके विपरीत उक्ति मान्य नहीं हो सकती।

बीभत्स और रौद्र रस में आनन्द-प्राप्ति के एक और कारण पर विचार करना आवश्यक है। जिस स्थान पर या जिन बातों में हम अपना प्रभुत्व पाते हैं, वहाँ हमारा मन आनन्द और प्रसन्नता का अनुभव करता है। जिस प्रकार हम हाकी, फुटबाल, शतरंज आदि खेलों में दूसरों को हराने के लिए—अपनी श्रेष्ठता का डंका बजाने के लिए—प्रवृत्त होते हैं, और जीतने पर अत्यधिक प्रसन्नता का अनुभव करते हैं, उसी प्रकार बीभत्स और रौद्र रस में भी हम अपनी श्रेष्ठता को प्रमाणित करते हैं। घृणा या क्षोभज वस्तु, व्यक्ति या दृश्य की तुच्छता प्रकट करके हम अपने आत्म-भाव या अहं भाव को तुष्ट करते हैं, अतः आनन्द प्राप्त करते हैं। बाबू गुलाबराय का इस सम्बन्ध में भी कथन है—"बीभत्स-रस-सम्बन्धी वर्णन कभी-कभी दया के भाव उत्पन्न कर समाज-सुधार में सहायक होते हैं। बीभत्स रसात्मक वर्णन घृणित पदार्थों की तुच्छता प्रकट कर हमारे आत्म-भाव की तुष्टि करते हैं, और इस प्रकार मनुष्य की प्रसन्नता के कारण होते हैं।"[2]

इन क्रोध, घृणा आदि भावों के मूल में एडलर का प्रभुत्व-कामना-सिद्धान्त (Superiority Complex) स्पष्ट रहता है। अतः हमारी यह प्रभुत्व-प्रतिष्ठा भी हमारे आनन्द का कारण अवश्य बनती है। यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि काव्य-रसों में आनन्द का प्रमुख कारण तो उदात्त या सुन्दर भावों का अपना सौन्दर्य है, अर्थात् उदात्त घृणा, उदात्त शोक आदि भाव अपने में आनन्द और सौन्दर्योत्पादक है, अतः उपर्युक्त सहानुभूति सिद्धान्त या आत्म-भावना का सिद्धान्त गौण रूप में ही

१ बाबू गुलाब राय नवरस, पृ० ५०२ (द्वितीय संस्करण १९३४ ई०)।
२ वही, पृ० ५०४।

उदात्त भावो की आनन्दानुभूति मे सहायक होते है। ये उदात्त भावानुभूति के साथ ही लगे हुए है, उससे पृथक नही है। अत उपर्युक्त आत्मभाव या अहम् भाव से अभिप्राय अभिमान नही हो सकता। यह प्रभुत्वकामना भी विकृत नही होने पाती। मराठी के श्री वामन मल्हार जोशी ने जो 'आत्मक्रीडा आत्मरति का सिद्धान्त काव्यानन्द के मूल मे बताया है वह भी उपर्युक्त आत्म-भाव सिद्धान्त से ही मिलता-जुलता है। यह सिद्धान्त आनन्दानुभूति का एकमात्र पूर्ण सिद्धान्त नही माना जा सकता। कुछ विद्वानो ने 'अनासक्त तन्मयता' तथा 'तादात्म्य सिद्धान्त' आदि का भी प्रतिपादन किया है। काव्य मे कवि की अनुभूतियो से तादात्म्य होता है, यह हम पहले ही कह चुके है। काव्यगत आश्रय से भी तादात्म्य होता है, पर काव्य मे आश्रय की स्थिति अनिवार्य नही है। फिर उदात्त अनुभूतियो मे तन्मयता और तादात्म्य स्वय-सिद्ध है। अत ये सिद्धान्त भी आशिक रूप मे ही आनन्दानुभूति की समस्या का समाधान करते है।

नाट्यदर्पणकार आदि कुछ प्राचीन विद्वानो ने शोक आदि को दुखात्मक मानते हुए भी यह कहा है कि हमारे उनमे आनन्द लेने का कारण यही है कि नाटककार या अभिनेताओ ने उस करुण या बीभत्स दृश्य को भी बडे कलात्मक ढग से प्रकट किया है। यही बात कुछ पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्री कहते है कि त्रासदी मे सौन्दर्यानुभूति का रहस्य यही है कि स्रष्टा ने उसे पूर्ण कलात्मक रूप प्रदान किया है। परन्तु यह सिद्धान्त वैसे ही ऊपरी-सा है, जैसे भट्टलोल्लट और शकुक ने काव्यानन्द को चमत्कार-जन्य बताकर छुट्टी पा ली थी। वास्तव मे इसका हल भी हमे मानस-शास्त्र से ही खोजना चाहिए। उपर्युक्त उदात्त भाव-सौन्दर्य का सिद्धान्त ही इसका वास्तविक हल है। कवि-कर्म-कौशल या अभिनयादि की कुशलता से उत्पन्न चमत्कार का विस्मयकारी आनन्द भी इसके मूल मे रह सकता है, प्राय रहता है, किन्तु आनन्द या सौन्दर्य का मुख्य कारण भाव-सौन्दर्य ही है।

अभिनवगुप्ताचार्य ने मन की विश्रान्ति प्राप्त होने के कारण ही सब रसो को सुखात्मक बताया है। उनका कथन है—"रस स्वसाक्षात्कारात्मक आस्वाद-रूप ज्ञान के आनन्दमय होने से सुखप्रधान (आनन्दमय) होते है। जैसे कि केवल शोकानुभूति के आस्वादन मे भी उसके निर्विघ्न विश्रान्त-रूप होने से लोक मे (अत्यन्त सुकुमार हृदय) स्त्रियो को भी हृदय की विश्रान्ति (आनन्द) प्राप्त होती है। (हृदय की) अविश्राति का नाम ही दुख है। इसीलिए साख्य दर्शन के मानने वाले (कपिल के अनुयायियो) ने (दुख को) रजोगुण की वृत्ति कहकर, चचलता (अविश्राति) को ही दुख का प्राण कहा है। इसलिए (जब करुण रस तक मे हृदय की विश्राति प्राप्त होती है तो) सब रसो की आनन्दरूपता ही है। किन्तु उपरञ्जक विषयो के कारण, वीर रस के समान उनमे भी दुख का स्पर्श रहता है, क्योकि वह (वीर रस) क्लेश-

सहिष्णुतादि-प्रधान होता है ।"[1] चित्त की यह विश्रांति उदात्त रसानुभूति या उदात्त भावानुभूति का ही परिणाम है। अत उदात्त या सुन्दर भावो की अनुभूति मे ही आनन्द प्राप्त होता है ।

कुरूप दृश्यो से भी सौन्दर्यानुभूति

हम आरभ मे भी बता चुके है कि भरत मुनि ने शृगार रस को 'उज्ज्वल-वेषात्मक' कहा है। व्याख्याकार शकुक ने 'वेष' शब्द का सामान्य अर्थ लेकर यह शका उठाई है कि 'विक्रमोर्वशीय' नाटक मे शृगार रस होते हुए भी उन्मादावस्था मे पुरुरवा के अनुज्ज्वल वेष का और तापस-'वत्सराज-चरित' मे वासवदत्ता के मर जाने का विश्वास दिला दिए जाने के बाद तापस वत्सराज उदयन के अनुज्ज्वल वेष का वर्णन पाया जाता है। इन दोनो मे अनुज्ज्वल वेष के कारण शृगार रस की सिद्धि कैसे होगी ? यह समस्या उठाकर स्वय ही व्याख्याकार शकुक ने यह समाधान दिया है कि बाह्य उज्ज्वल वेष न होने पर भी उनके भीतर की उत्तम रति विद्यमान रहती है, इसलिए वहाँ शृगार रस के मानने मे कोई दोष नही।[2] शकुक के इस कथन से जो तथ्य प्रकाशित हुआ है, वह यह कि केवल बाह्य सौन्दर्य ही सौन्दर्यानुभूति का कारण नही होता, अपितु आन्तरिक सौन्दर्य, आभ्यन्तर श्रेष्ठता, अन्तर की उत्तमता भी सौन्दर्यानुभूति कराती है। उदयनादि की आन्तरिक सुन्दर प्रकृति ही यहाँ आकर्षण या सौन्दर्य-बोध की परिचायक है।

शृगार, भक्ति आदि रसो के अतिरिक्त बीभत्स, भयानक आदि कुछ रसो मे सौन्दर्य-बोध की समस्या कुछ जटिल-सी बन जाती है। बीभत्स रस का आलम्बन बाह्य रूप मे तो कुरूप होता ही है, क्योकि सुन्दर किन्तु कुलटा नारी का बाह्य सौन्दर्य भी सौन्दर्य नही रहता—साथ ही शृगार रस के उपर्युक्त उदाहरण के विपरीत, उसका अन्तर-पक्ष भी कुरूप होता है। अत बीभत्स रस मे सौन्दर्य बोध की समस्या सर्वाधिक जटिल बन जाती है। इस रस मे अन्तर-बाह्य से बिल्कुल कुरूप आलम्बन भी सौन्दर्यानुभूति कैसे कराता है ? विषय (आलम्बन) के प्रति विकर्षण होते हुए भी भयानक-बीभत्स मे विषयगत (रसगत) आकर्षण कैसे रहता है ?

वास्तव मे सौन्दर्य भी आनन्द की तरह आत्मा का ही गुण है। बाह्य सुन्दरता भी बीभत्स हो सकती है। सौन्दर्य को (बाह्य सौन्दर्य को) अलौकिक और अति पवित्र मानने वालो को सुन्दरता के कुकृत्यो एव बीभत्स व्यापारो का अवलोकन करना चाहिए। फ्रेंच उपन्यासकार ड्यूमा की म्लैडी, या प्रताप नारायण श्रीवास्तव के 'वेदना' की लौरा जैसी सुन्दरियाँ अपने सौन्दर्य-बल पर अनेक निरीह प्राणियो के

---

१. हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ४७८ ।
२. हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ५४४-५४५ ।

निर्मम प्राणात तथा अन्य बीभत्स व्यापारो का कारण बनती है। इन सुन्दरियो के असुन्दर कार्यों के प्रति घृणा का भाव भी क्या सुन्दरम् की रक्षा नही करता ? वस्तुत आलम्बन मे कुरूपता और विद्रूपता होते हुए भी, उसके प्रति भय या घृणा-भाव सुन्दरम् की ही रक्षा करता हे। जैसा कि कहा जा चुका ह, "काव्य का आधार केवल बाह्य सौन्दर्य पर ही अवलम्बित नही है, उसमे हृदय की अन्तर्वृत्ति का विश्लेषण ही मुख्य है। जो भाव विस्तृत जन समाज के हृदय के साथ सामजस्य रखता है, उसी से काव्य मे यथार्थ सौन्दर्य का विधान किया जाता है। काव्य ही एक ऐसा स्थल है, जहाँ घृणा, क्रोध, उपहास, ईर्ष्या, तिरस्कार आदि मे भी सौन्दर्य है। बाह्य सौन्दय पर ही लुभाने वाले मूढ होते है। अन्तर्वृत्ति का सौन्दर्य ही काव्य का प्राण है।"[1]

बीभत्स और भयानक रस के सम्बन्ध मे प्रश्न यही है कि यह अन्तर्वृत्ति का सौन्दय इसमे कहाँ रहता है ? निश्चय ही इनके आलम्बन मे अन्तर्वृत्ति का सौन्दर्य नही रहता, क्योकि शृगारादि के विपरीत, बीभत्स या भय का आलम्बन तो अन्तर्वृत्ति से अवश्य ही कुरूप, भयावह या घिनौना होता है। तब सौन्दर्यानुभूति कैसे होती है ? आकर्षण किस बात मे ह ? जैसा कि कहा जा चुका है, आनन्द या सौन्दर्य आत्मा का विषय है, अत हम अपनी आत्मा का ही आनन्द या रस लेते हे। हम अपने ही भावो का आनन्द प्राप्त करते हें। बाह्य आलम्बन तो निमित्त-मात्र है। अत जब हम घिनौने दृश्यो से अपने हृदय मे घृणा का अनुभव करते है, तो सौन्दर्य वस्तु (आलम्बन) मे न होकर उस हमारी भावना मे होता है, हमारी आत्मा का ही ओज घृणा भाव के रूप मे हमे आनन्द प्रदान करता है। अत बीभत्स और कुरूप दृश्यो से भी सौन्दर्यानुभूति का रहस्य भी यह भाव-सौन्दर्य ही है। हम यह नही कहते कि 'अहा ! कैसा सुन्दर शराबी अत्याचारी है', अपितु कहते तो यही हैं कि "कैसा दुरात्मा हे, नीच और दुष्ट है।" और उसकी उपस्थिति से नाक-भौ भी चढाते है, पर काव्य मे फिर भी हम उसे देखना चाहते है, बार-बार उसका वर्णन पढना चाहते ह। इसमे यही तथ्य निकलता है कि काव्य मे घृणित दृश्यो मे भी आकर्षण रहता है। हा, वह आकर्षण वस्तुगत या विषयगत न होकर, हमारी ही भावना-द्वारा प्रेरित आत्मगत होता है। अत इस दृष्टि से काव्य का ऐसा भयावह या बीभत्स पक्ष भी सुन्दर है। आलम्बन मे कुरूपता होते हुए भी भावना मे सौन्दर्य होता है। यह भय या घृणा-भाव उदात्त भाव होने के कारण हमे आनन्द तथा सौन्दर्यानुभूति ही कराता है। इसीलिए काव्य मे सुन्दर-असुन्दर दो पक्ष नही, अपितु एक ही पक्ष 'सुन्दर पक्ष' मानना चाहिए। रावण आदि दुष्टो के जिन कार्यो को असुन्दर कहा जाता है, वास्तव मे वे भी काव्यानुभूति के रूप मे हमारी सौन्दर्यानुभूति ही जगाते है। अत हमारी उदात्त भावना के सौन्दर्य से बीभत्स, भयावह दृश्य भी काव्य मे सुन्दर तो नही बनते,

---

१. लक्ष्मीनारायण सुधाशु काव्य मे अभिव्यजनावाद, पृ० ७९।

पर हमे सौन्दर्यानुभूति अवश्य कराते है। भयानक-बीभत्सादि रस अनुभूति मे वे कुरूप और दुखकारक होते हुए भी सौन्दर्यानुभूति तथा आनन्दानुभूति ही करात है। अन आलम्बन चाहे कुरूप हो, पर उनसे अनुभूति हमे सौन्दर्य की ही होती है।

पाश्चात्य विद्वान् और सौन्दर्यशास्त्री जब इस समस्या पर विचार करत है कि भद्दे और कुरूप दृश्यो से सौन्दर्यानुभूति कैसे होती है, तो वे प्राय भाव-सौन्दर्य के इस रहस्य का उद्घाटन न करके अन्य बातो मे ही इस समस्या का समाधान ढूँढते है। सच तो यह है कि काव्य की दृष्टि मे पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्री इस विषय पर विशेष विचार न करके चित्रकला आदि की दृष्टि मे ही सौन्दर्यानुभूति पर अधिक विचार करते रहे है। अरस्तु के अनुकरण-सिद्धान्त मे तो इस प्रश्न का यही उत्तर मिलता है कि 'वस्तु चाहे कितनी ही अग्राह्य या अरुचिकर क्यो न हो, उसकी अनुकृति प्राय ग्राह्य एव रुचिकर होती है।"[1] पाश्चात्य विद्वानो ने अधिकतर इसी आधार पर यह तथ्य प्रकाशित किया है कि कुरूप और असुन्दर वस्तुए भी ललित कलाओ मे सुन्दर इसीलिए प्रतीत होती है कि कलाकार उन्हे पूर्ण कलात्मकता के साथ चित्रित या प्रकट करता है। परन्तु हम देखते है कि यह समाधान भी अरस्तु के कुशल अनुकृति-सिद्धान्त-जैसा ही है। अन्तर केवल इतना ही है कि इसमे विषयीगत दृष्टि अपेक्षाकृत अधिक है। कवि वह कुशल चित्रण कैसे करता है, कुशल चित्रण मे क्या अभिप्राय है, आदि प्रश्न ज्यो-के-त्यो बने रहते है। अत बीभत्स रस मे सौन्दर्यानुभूति की समस्या का हल भाव-सौन्दर्य की दृष्टि से ही समीचीन बैठता है। इस भाव-सौन्दर्य का ध्यान भुलाकर ही कुछ विद्वानो ने बीभत्स रस के बारे मे भ्रातिपूर्ण वक्तव्य दिए है। एक विद्वान-द्वय का कथन है—"बीभत्स रस सौन्दर्य-भावना मे आघात पहुँचाता है, और कदाचित् इसीलिए सौन्दर्य-स्रष्टा सूरदास की प्रकृति ने उसकी उपेक्षा कर दी।"[2] किन्तु कला मे 'कुरूप' और 'असुन्दर' विवादी स्वरो के समान हैं जो मुख्य राग को निखारते है। अर्थात् वे आनन्द और सौन्दर्य-भावना को ही तीव्र करते है, 'सौन्दर्य-भावना मे आघात' नही पहुँचाते।

अब विद्वानो के एक और मत पर विचार करना आवश्यक है। आचार्य रामचन्द्रशुक्ल ने कहा है कि बाह्य प्रकृति के साथ यदि अन्तप्रकृति का सौन्दर्य भी कवि प्रकट करता है, और इस प्रकार प्राकृतिक सौन्दर्य, मानव का बाह्य आकृति-प्रकृतिगत सौन्दर्य और मानवीय आन्तरिक सौदर्य तीनो का यदि सामजस्य घटित हो जाए, तो फिर क्या कहना। इसके लिए उन्होने चित्रकूट के रम्य प्राकृतिक वातावरण मे

---

1 ' that an imitation is often agreeable, though the thing imitated or copied is disagreeable"

—A History Of Aesthetics Bernard Bosanquet p 57

२ डा० रामरतन भटनागर तथा वाचस्पति त्रिपाठी 'सूर साहित्य की भूमिका', पृ० १४६।

अन्त बाह्य मे सुन्दर राम और भरत की अद्भुत सौन्दय-छटा का उदाहरण दिया है। "चित्रकूट-ऐसे रम्य स्थान मे राम और भरत-जैसे रूपवानो की रम्य अन्त प्रकृति की छटा का क्या कहना है।"[१]

इसमे सदेह हो सकता है कि इस दृष्टि से तो भयानक और बीभत्स रस सौंदर्य या आनन्द की ऐसी उत्कृष्टतम स्थिति को पहुँच ही नही सकता, क्योकि भयानक और बीभत्स रस मे अन्त बाह्य के सौदर्य-सम्मिलन का यह रूप प्रकट हो ही नही सकता। अत विद्वानो ने जो यह कहा है कि "जहाँ बाह्य और अन्त सौदर्य का सम्मिलन है, वहा काव्य की भावना अत्यन्त ही ऊँची रस-भूमि पर पहुँच जाती है"[२], यह केवल शृगार वीर आदि रसो मे ही स्पष्टत सम्भव हो सकता है बीभत्स, भयानकादि मे नही। तो क्या बीभत्स और भयानक रस मे 'काव्य की भावना अत्यन्त ही ऊँची रस-भूमि' पर नही पहुचती ? बीभत्स और भयानक रस मे अन्त बाह्य-सम्मिलन का क्या रूप होगा ? होगा भी या नही ?

इस सम्बन्ध मे हमारा मत है कि बीभत्स रस मे जहा घृणा के आलम्बन की आन्तरिक कुरूपता के साथ बाह्य वातावरण की कुरूपता और आलम्बन की व्यक्तिगत कुरूपता का सामजस्य घटित होता है, वहाँ भी घृणा भाव की अत्यन्त ही ऊँची रस-भूमि मानी जा सकती है। जैसे, एक दुराचारी व्यक्ति अपने अत्याचारो और कुकृत्यो से हमारी घृणा का पात्र बनता है। अब यदि वह कुरूप और विद्रूप भी हुआ और साथ ही अपने दुराचार के बीभत्स अड्डे मे प्रकट हुआ, जहाँ का वातावरण भी घिनौना हो, तो उससे हमारी घृणा तीव्रतम होगी। और काव्यगत उदात्त घृणा भाव का तीव्रतम होना ही भाव की अत्यन्त ऊँची रस-भूमि की सिद्धि है। अत जहाँ हम यह कहते है कि अन्त बाह्य सौन्दर्य से हमे पूर्ण आनन्द प्राप्त होता है, वहाँ साथ ही हमे यह भी मानना होगा कि काव्यगत बीभत्स दृश्यो के अन्त-बाह्य से कुरूप और घृणित होने पर भावानुभूति अत्यन्त ही उच्च रस-भूमि को पहुँचती है। आलम्बन अन्तर-बाह्य से जितना ही अधिक कुरूप होगा, उतनी ही अधिक भाव-सौन्दर्यानुभूति प्राप्त होगी। यही बात भयानक रस के बारे मे कही जा सकती है।

बीभत्स और भयानक रस मे भी बाह्य और अन्त सौन्दर्य का सम्मिलन सम्भव है, पर यह सम्मिलन आलम्बन मे न होकर कवि की कला मे होता है। अन्त सौन्दर्य से अभिप्राय भाव-सौन्दर्य से होगा और बाह्य सौन्दर्य कवि या लेखक की कलात्मक अभिव्यक्ति—शब्द, छन्द, सगीत आदि कला-तत्त्वो मे समझना चाहिए। साराश यह कि बीभत्स, भयानकादि रस भी हमे सौन्दर्यानुभूति कराते है, और सुन्दरम् की रक्षा का ही उद्देश्य रखते हैं।

---

१ आचार्य रामचन्द्रशुक्ल चिंतामणि प्रथम भाग, पृ० १६७-६८।

२ लक्ष्मीनारायण सुधांशु 'काव्य मे अभिव्यजनावाद', पृ० ७६।

७

हिन्दी आलोचना के प्रतिमान

●

साहित्य-आलोचना—स्वरूप और क्षेत्र

रस-शास्त्र पर विचार करने के बाद अब हम उसके प्रकाश मे साहित्य-समालोचना और हिन्दी आलोचना पर विचार करते है। आलोचना की प्रवृत्ति मानव की स्वाभाविक मूलभूत प्रवृत्ति है। हम भिन्न-भिन्न वस्तुओ का ज्ञान प्राप्त करना, उन्हे जानना, भली प्रकार समझना और समझाना चाहते है। दृश्यमान जगत् की समस्त वस्तुओ के सम्बन्ध मे हमारी रुचि-अरुचि, आकर्षण-विकषण तथा अन्य अनेक प्रतिक्रियाए प्रकट होती है। वस्तु के यथार्थ रूप की जिज्ञासा और जानकर उसके प्रति बौद्धिक तथा मानसिक प्रतिक्रिया चेतन मानव का स्वभाव है। यही वस्तु को समझना-समझाना, उसके सम्बन्ध मे निर्णय देना उसकी समीक्षा या समालोचना है। आलोचना, समालोचना, समीक्षा या परीक्षा—सब पर्यायवाची शब्द व्यापक अर्थ के द्योतक है। किसी वस्तु को सम्यक् प्रकार से, पूर्ण दृष्टि से देखना, उसके अन्तर-बाह्य—सब पक्षो को समझना और परखना ही आलोचना है। अत साहित्य-समीक्षा से अभिप्राय साहित्य या साहित्यिक कृतियो का ज्ञान, रसास्वादन, परख, उन की उत्पत्ति, स्वरूप, तत्त्व, भेद, अग-प्रत्यग, गुण-दोष, प्रभाव तथा अन्य सब प्रकार का मूल्याकन—सभी-कुछ है।

आलोचना और सृजनात्मक साहित्य का अटूट सम्बन्ध है, दोनो अन्योन्याश्रित है, दोनो एक-दूसरे के पूरक है। मैथ्यू आर्नल्ड-जैसे कुछ विद्वान् आलोचना को रचनात्मक साहित्य की अनुगामिनी-मात्र मानते है। उनका कहना है कि रचना आलोचना मे श्रेष्ठतर प्रवृत्ति है। आलोचना तो केवल रचना की सहकारिणी है। इसके विपरीत, कुछ विद्वानो ने आलोचना को साहित्य का पथ-निर्देश करने वाली प्रेरणा-शक्ति बताया है। पर चाहे हम आलोचना को साहित्य की अनुगामिनी माने, चाहे प्रेरणा-शक्ति कहे, यह निश्चित है कि उसकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता है, स्वतन्त्र

महत्ता है। हमारे प्राचीन आचार्यों ने काव्य-रचना की मुख्य प्रतिभा कारयित्री तथा समीक्षक की मुख्य प्रतिभा भावयित्री बताई है।[1] किन्तु इन दोनों में विरोध समझना भ्रम होगा। राजशेखर ने भी इन दोनों का संयोग माना है क्या भावना के बिना कवि काव्य-निर्माण कर सकता है? इसी प्रकार आलोचक भी मौलिक सूझ-बूझ तथा सृजनात्मक प्रतिभा के बिना पूर्ण भावन नहीं कर सकता। काव्य-मात्र को जीवन की आलोचना[2] कहने वाला विद्वान् आलोचनात्मक शक्ति को सृजन-शक्ति की दासी कैसे मान बैठा यह आश्चर्य की बात है। किन्तु सम्भवतः इस सम्बन्ध में आर्नल्ड का अभिप्राय व्यावहारिक साहित्य-समीक्षा से है। व्यापक दृष्टि से देखें, तो कहना पड़ता है कि सृजन से पूर्व कवि में आलोचक जन्म लेता है। सच तो यह है कि आलोचन-शक्ति के साथ ही सृजन-शक्ति का उदय होता है। अपने विशिष्ट अर्थ में भी समीक्षा साहित्य से जीवन लेती भी है, और उसे जीवन देती भी है। टी० एस० इलियट[3] भी रचना और आलोचना का संयोग प्रायः एक ही व्यक्ति में उपस्थित मानते हैं, और साहित्य-निर्माण में दोनों को एक-दूसरे का पूरक बताते हैं। हडसन महोदय ने आर्नल्ड के विरोध में ही कहा कि काव्य जीवन से प्रेरणा लेता है और आलोचना काव्य से —यह दृष्टिकोण गलत है। वस्तुतः सत्समालोचना भी जीवन से प्रेरणा लेती है।[4]

"असफल लेखक ही आलोचक बन जाता है"—ऐसे वाक्यों में मैं कोई सार-तत्त्व नहीं पाता। वास्तव में ड्राइडन का ऐसा कथन[5] उस युग के निकृष्ट अधकचरे तथाकथित आलोचकों के प्रति रोष का ही सूचक है, जो कवि-कर्म में असफल रहे थे। अतः आस्कर वाइल्ड के कथनानुसार आलोचनात्मक ज्ञान के बिना कला का सुन्दर सौष्ठवपूर्ण निर्माण कठिन ही नहीं, असम्भव है।

समीक्षा के दो पक्ष हैं—१ व्याख्या और २ निर्णय। स्वयं निरीक्षण या समझ-बूझ के पश्चात् औरों को समझाना—परिज्ञाना करना—आलोचना का पहला पक्ष है, तथा गुण-दोष जता कर विधायक मूल्यांकन उसका निर्णय-पक्ष है। व्याख्या

---

१ कवेरुपकुर्वाणा कारयित्री। भावकस्योपकुर्वाणा भावयित्री। सा हि कवेः श्रमम् अभिप्रायं च भावयति। —काव्यमीमांसा (राजशेखर)

2. Poetry is at bottom criticism of life—Arnold

3 T S Eliot—The Use Of Poetry And The Use Of Criticism, p 30

4 Hudson—'An Introduction To The Study Of Literature' p 262

५ "किसी के दोषों का निरूपण करना एक बात है और उसकी टांग खींचना दूसरी बात है। बहुधा निकृष्ट लेखक कठोरतम आलोचक होते हैं क्योंकि सिरके की उत्पत्ति उस समय होती है जबकि सड़ने की प्रतिक्रिया चरम-स्थिति में पहुंच जाती है और तब वह फिर क्रियाशील हो जाती है। इसी प्रकार कवि रूप के विकृत हो जाने पर, उस में आलोचक जन्म लेता है।"

('सैकिंड मिसेलेनी' की भूमिका, से—अनुवादक श्री जगदीश गोयल)

या विश्लेषण आलोचना का कला-पक्ष है, तो मूल्यांकन उसका विज्ञान-पक्ष है। निर्णय देना आलोचना का महत्त्वपूर्ण कार्य है। बिना निर्णय के आलोचना का सही रूप प्रकट नही होता। पर निर्णय कैसा हो ? आलोचना के क्षेत्र मे यह प्रश्न बडा महत्त्व-पूर्ण है। स्वस्थ, निष्पक्ष, योग्य, पूर्ण एव निर्भीक निर्णय के स्थान पर यदि अयोग्य, एकागी और पूर्वाग्रह एव पक्षपात से पूर्ण निर्णय होगा, तो समालोचना सत्-समा-लोचना न रह कर अनर्गल प्रलाप-मात्र ही बन जायगी। आलोचना के अयोग्य और विकृतरूप से ही खीझ कर बहुत से विद्वानो को उसकी आवश्यकता एव उपयोगिता के सम्बन्ध मे सदेह रहा है। इसी कारण चेखोव-जैसे विद्वान् को भी कहना पडा— 'समालोचक तो घोडे पर बैठन वाली वह मक्खी है जो उसे चलने से रोकती है।" शापेन हावर के आधार पर इलाचन्द्र जोशी-जैसे साहित्यकार को भी इसी कारण खेदपूवक लिखना पडा—"किसी अच्छी कृति को ईर्ष्यावश निम्न स्तर की प्रमाणित करने का एक उपाय यह भी काम मे लाया जाता है कि उसकी तुलना मे किसी बुरी कृति की नियत्रण-रहित प्रशसा की जाने लगती है। अत मे एक दिन यथार्थ लेखा-जोखा होता ही है और तब उन आलोचको के मुह मे स्वत कालिख पुत जाती है जिन्होने उस आडम्बरपूर्ण किन्तु निकृष्ट कृति को महान् बता कर उसे साहित्य-जगत पर बलपूर्वक थोपना चाहा था।

'यही हाल उन लोगो का होता है जो किसी विशिष्ट और अच्छी कृति की निन्दा व्यक्तिगत या युग के सामूहिक विद्वेष से प्रेरित हो कर करते है। इसलिये अधिक धूर्त्त और चतुर आलोचक इस तरह का सीधा उपाय काम मे नही लाते। वे एक दूसरा ढग अख्तियार करते है। वे लोग जब देखते है कि कोई वास्तव मे शक्ति-शाली व्यक्ति साहित्य के प्रागण मे उतरा है तो वे आपस मे सलाह करके या व्यक्ति-गत प्रेरणा से उसकी कृतियो के सम्बन्ध मे एकदम मौन धारण कर लेते है। यह विद्वेषपूर्ण मौन, जिसे दूसरे शब्दो मे उपेक्षा' कहा जाता है, एक लम्बे अर्से, तक किसी विशिष्ट प्रतिभाशाली व्यक्ति की ख्याति मे जबर्दस्त बाधा डाल सकती है। पर अत मे, कभी-न-कभी वह मौन भग होता ही है।

"इस प्रकार प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कृति अपने युग को कसौटी पर रखती है। वह इस बात की परीक्षा लेती है कि जिस युग मे इसकी रचना हुई है, वह युग उसकी विशेषता को समझने की योग्यता रखता है या नही' 'सैकडो निकम्मे व्यक्ति गुटो और मित्रो की सहायता से समसामयिक ख्याति जल्दी पा जाते है, जबकि योग्य व्यक्ति बहुत ही सघर्षों के बाद धीरे-धीरे मान्यता प्राप्त करते है।

"इन बातो से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि किसी महान् कृति की रचना के लिये सबसे पहली शर्त यह है कि लेखक अपने समसामयिक आलोचको की बातों पर अधिक ध्यान न दे—उनकी टिप्पणियो, विचारो या सम्मतियो, उनके प्रशसात्मक या निन्दामूलक मतव्यो पर विशेष महत्त्व आरोपित न करे। यदि वह शताब्दियों

तक अपनी कृति का स्थायित्व चाहता है तो उसे सम-सामयिक ख्याति के प्रलोभन से अपने को बचाना चाहिए।"[1]

सत्समालोचना के अभाव मे कितने अनर्थ की सभावना है! अत समीक्षा के उचित मान-दड निर्धारित करने के साथ समीक्ष्यवादी के कर्त्तव्य और प्रसाधनो की जाच अत्यावश्यक है। समीक्षक का कार्य सरल नही होता। उसे पाठक और लेखक दोनो का उत्तरदायी बनना होता है। यदि उसके कार्य से सत्साहित्य के सृजन और विकास तथा पाठको की रुचि के परिष्कार की सिद्धि न हुई, तो उसका प्रयत्न निष्फल ही रहेगा। आलोचना के व्यापक मान-दण्ड इन मूलभूत प्रसाधनो के बिना निरर्थक ही होगे। अत प्रस्तुत विषय के सर्वागीण विवेचन की सरणी इन तीन रूपो मे होगी—

१ आलोचना के आधारभूत अनिवार्य प्रसाधन
२ आलोचना के परिवर्तनीय नियम एव मान-दण्ड
३ समीक्षा के शाश्वत, सार्वभौम मान-दण्ड

अनिवार्य प्रसाधन से मेरा अभिप्राय समीक्ष्यवादी के कर्त्तव्य एव गुण और समीक्षा के ऐसे मूल सिद्धातो से है, जो आदर्श आलोचना के हेतु होते है। समीक्षक की पहली शर्त उसका रस-ग्राही पाठक होना है। हमारे यहाँ भावयित्री प्रतिभा को इसी कारण प्रमुखता दी गई है। इस प्रतिभा का मालिक सहृदय भी होगा, तभी तो वह कवि या लेखक की सम्पूर्ण अनुभूतियो के साथ तादात्म्य स्थापित कर के पूरी तरह रसास्वादन कर सकेगा। सहृदय आलोचक मे ही सम्पूर्ण भाव-सवेदनाएँ जागृत होती है। उसकी कल्पनाएँ भी कवि की तरह सजग होनी चाहिएँ, तभी वह काव्य-रचना के वास्तविक अर्थ और गूढ रहस्यो को पा सकेगा। विद्वत्ता, सम्पूर्ण शास्त्रो तथा कलाओ का ज्ञान, लोक-व्यवहार, विभिन्न भाषा-साहित्यो का तुलनात्मक अध्ययन, शब्द-ज्ञान, अर्थ-ग्रहण की क्षमता, भाषा-व्याकरण-छन्द आदि सब विषयो मे उसे पारगत होना चाहिए। नीर-क्षीर-विवेक और निष्पक्षता के बिना आलोचना का आदर्श स्थापित ही नही हो सकता। निर्णय देने की क्षमता के साथ ही आलोचक मे विराग होना अत्यावश्यक है। ससार की सब भाषाओ का इतिहास साक्षी है कि आलोचना को दूषित करने मे सबसे बडा हाथ पक्षपात या पूर्वाग्रहो का रहा है। आलोचना के क्षेत्र मे किसी प्रकार की राजनीतिक गुटबन्दी, मित्रता-शत्रुता, पक्ष-विपक्ष, प्रान्तीयता और यहाँ तक कि देश-भक्ति के लिये भी कोई स्थान नही है। स्वदेशी के मोह मे हम भले ही देशी वस्तुओ को अपेक्षाकृत अच्छी विदेशी वस्तुओ की तुलना मे बढिया माने तथा उनके ही प्रयोग का प्रचार करे, पर साहित्य के क्षेत्र मे राष्ट्रीय चारण बनना दूषित प्रवृत्ति का ही द्योतक होगा। आलोचना के इस खतरे पर दृष्टि डालते हुए डा० जॉनसन ने कहा है—"कुछ ऐसे पूर्वाग्रह हैं जिनके शिकार

---

१ 'देखा परखा' · इलाचन्द्र जोशी ('साहित्यिक ख्याति और उसका मूल्य' नामक निबध)।

लेखक (आलोचक) निर्विकल्प भाव से हुए है अपने और किसी दूसरे देश के लेखको की तुलना निष्पक्ष भाव से शायद ही कोई सुन सकता हो।'[1]

आलोचक के गुणो पर प्रकाश डालते हुए एम्बीक्राम्बी[2] ने भी उसमे अन्त-दृष्टि, सहानुभूति, कल्पना ग्राह्यता, सामान्यबुद्धि, स्पष्ट अभिव्यक्ति की क्षमता, नीर-क्षीर-विवेक आदि गुणो को अत्यावश्यक ठहराया है। सान्दर्यानुभूति की क्षमता ही आलोचना की कसौटी है। जो आलोचक काव्य-कृति के सब सुन्दर पक्षो का सहज आलोक पा जाता है, वही श्रेष्ठ है। काव्य की आत्मा मे प्रवेश करके जो आलोचक उसके सम्पूर्ण सौदर्य को उद्घाटित कर देता है, वही सफल आलोचक है। कला अपने मे पूर्ण इकाई है। अत उसके किसी अग-विशेष को ही दृष्टि मे लाकर जो एकागी आलोचना की जाती है, वह आदर्श से दूर रहती है। एकागी आलोचना से कला-कृति के वास्तविक स्वरूप का कुछ भी बोध नही होता। इससे अधो के हाथी-दर्शन वाली बात ही निकलती है।

निष्णात विवेचक प्रत्येक वैदग्ध्यपूर्ण कृति को उसी भावना से पढता है जिसमे रचयिता ने उसका प्रणयन किया है। वह सम्पूर्ण कृति को परखता है, देखता है—कहा प्रकृति आन्दोलित होती है तथा आह्लादित मन को भावोष्णता से भर देती है—वह छोटे-छोटे दोष नही देखता और न मात्सर्यमूलक जड प्रसन्नता के निमित्त काव्य-गुण पर मुग्ध होने के उदार आनन्द का परित्याग करता है। प्रकृति की भाँति कविता मे भी जो हमारे मन को प्रभावित करती है वह उसके पृथक्-पृथक् अग-प्रत्यगो की सुडौलता नही होती, हम एक आख, अथवा अधर को सौन्दर्य की सज्ञा नही देते—सौदर्य तो उन सबकी सम्मिलित शक्ति एव निष्पन्न परिणाम की सज्ञा है।[3] जो केवल छन्द, अलकार या भाषा के किसी अन्य प्रसाधन मे ही उलझ जाते है, उसे ही कसौटी बना लेते है, वे काव्य का सौदर्य नही देख सकते। अत आलोचक को सौदर्य-अनुरागी होना चाहिए तथा अपनी सम्पूर्ण बौद्धिक चेतनता और मानसिक सतर्कता के साथ काव्यालोचन मे प्रवृत्त होना चाहिए।

आलोचना के परिवर्तनीय नियम या मान-दण्ड आलोचना या आलोचक के मूलभूत प्रसाधनो का सक्षिप्त विवेचन करने के पश्चात् अब हम आलोचना के ऐसे मान-दण्डो पर प्रकाश डालेगे, जो युग-सापेक्ष होते है तथा जिनका आग्रह सत्समा-लोचना को खतरे मे डाल सकता है। आलोचक को चाहिए कि साहित्य-रचनाओ की परख आलोचना के शाश्वत मान-दण्डो के आधार पर ही करे। समीक्ष्यवादी को

---

१. 'पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा' (प्रधान सपादक डा० नगेन्द्र), पृ० ११२। डा० जॉनसन के 'दी रैम्बलर' से अनूदित।
2. 'The Principles Of Criticism Abercrombie
3 Pope's Essay On Criticism

प्रत्येक युग की प्रत्येक रचना की स्वतन्त्र सत्ता का ध्यान रखना होगा। साहित्यिक मान-दण्ड युग की साहित्यिक धारणाओ से भी प्रभावित होते है। अत युग-विशेष के रूढ नियमो तथा मानो को ही कसौटी बनाने से भी अन्याय की सभावना रहती है। समीक्षा के कुछ बाहरी मानदण्डो और सिद्धान्तो को काव्य-सामान्य के लिये सत्य मानकर समीक्षा करना अनुचित है। रूढ नियमो को कला-कृति मे न पाकर उसे हेय समझ बैठना आलोचना की भारी त्रुटि है। इस सम्बन्ध मे हमारा आग्रह है कि साहित्य समीक्षको को युग-साहित्य के ऐसे नियम बनाते हुए साहित्य के मूलभूत शाश्वत मानदण्डो को नही भुलाना चाहिए। चाहे हम महाकाव्य के लक्षण या नियम बना रहे हो अथवा उपन्यास के, हमे सदा उन तत्त्वो को प्रमुखता देनी चाहिए जो साहित्य के मूल तत्त्व हैं। हमारे प्राचीन आचार्यों ने महाकाव्य के लक्षणो पर प्रकाश डालते हुए छन्द-नियम, सर्ग-सख्या, मगलाचरण आदि बाह्य बातो को भी उतना ही आवश्यक ठहराया जितना रस-परिपाक और उदात्तता आदि अतरग तत्त्वो को। महाकाव्य के व्यापक और शाश्वत मानदण्डो के आधार पर उसके अनिवार्य अतरग तत्त्वो और परिवर्तनीय बाह्य तत्त्वो मे भेद जताकर पूर्ण विवेचना आचार्यों ने नही की। अब यदि कोई समीक्षक किसी आधुनिक महाकाव्य मे मगलाचरण न पाकर अथवा छन्द-परिवर्तन का प्राचीन नियम न देखकर उसे दूषित ठहराने लगे, तो उसकी आलोचना कितनी हास्यास्पद होगी! खेद की बात है कि आज भी हम वही गलती दोहरा रहे है। उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि आधुनिक साहित्य-विधाओ के तत्त्व-निरूपण मे हम मूल तत्त्वो को भुला रहे है। उपन्यास के तत्त्व प्रकाशित करते हुए प्राय सभी आलोचक भावानुभूति—भाव और रस—को गिनाते ही नही। प्रेमचन्द के उपन्यासो की समीक्षा करने वाले प्राय सभी समीक्षको ने भाव-सवेदनाओ को छोड ही दिया है। क्या प्रेमचन्द की महानता केवल इस बात मे है कि उन्होने समाज की विविध समस्याओ का बोध कराया, जो कार्य कि एक समाज-शास्त्री भी कर सकता था? मैं समझता हूँ प्रेमचन्द इसलिये महान् है कि उन्होने जीवन के भिन्न-भिन्न पहलुओ पर हमारी भाव-सवेदनाएँ जगाई। अनुभूति-क्षेत्र के रागात्मक तत्त्व को प्रकाशित किए बिना प्रेमचन्द के उपन्यासो की समीक्षा अधूरी ही कही जा सकती है। अत साहित्य के सम्बन्ध मे व्यापक मानदण्ड निर्धारित करना ही सत्समालोचना का कार्य होना चाहिए।

प्राचीन काल मे नाटक पाँच अको के होते थे, आज तीन अक रखे जाते है। कल और परिवर्तन हो सकता है। अत इन बाह्य रूपो की व्याख्या या इनके आग्रह मे न उलझकर हमे वास्तविक तत्त्वो की ओर ध्यान देना चाहिए। काव्य की शैलियाँ तथा रूप (फॉर्म) बदलते रहते है, अत प्रचलित शैलियो और काव्य-रूपो को ही मान्य नही समझना चाहिए। समय-समय पर क्रातिकारी प्रतिभाएँ रूढ मानो तथा नियमो का विरोध करती और नई शैली तथा नये रूप-विधान का निर्माण करती

आई है। अत युग-विशेष की कला-कृतियो के आधार पर बनाए गए सीमित मान-दण्डो या नियमो का आग्रह करना और यह प्रचारित करना कि इन सिद्धान्तो या नियमो पर आधारित जो साहित्य-सृजन होगा, वही सफल होगा—नितान्त भ्रान्ति है। इससे तो कवियो या लेखको की नैसर्गिक प्रतिभा के कु ठित होने का भारी खतरा पैदा होता है।

समय-समय पर इन परिवर्तनीय नियमो के पुनरुत्थान की आवश्यकता होती है। जिस युग मे यह पुनरुत्थान-कार्य रुक जाता है, उस युग मे या तो किसी क्रातिकारी सृजनात्मक प्रतिभा का अभाव समझना चाहिए, या उस युग मे कवियो या लेखको-द्वारा रूढ नियमो के विरुद्ध आवाज बुलन्द होती है। युग-निर्माता कलाकार रूढ नियमो का बधन मानना अस्वीकार कर देते है। पश्चिम मे उन्नीसवी शती उत्तरार्द्ध मे यही हुआ। अठारहवी शताब्दी की गतानुगत समीक्षा-प्रणाली से असतुष्ट होकर, स्वच्छन्द-चेता कलाकारो ने रूढ नियमो व सिद्धातो की मर्यादा भग करना आरम्भ कर दिया था। स्वच्छन्दतावादी युग की सब कृतियो मे प्राचीन नियमो का विरोध पाया जाता है। यदि युग की कला-कृतियो के अनुसार उस समय प्राचीन नियमो का पुनरुत्थान हो जाता, तो साहित्य के क्षेत्र मे इतनी कटुता उत्पन्न न होती। वर्डस्वर्थ, कीटस्, बाइरन आदि श्रेष्ठ कवियो को न जाने कितने व्यग्य-बाण सहने पडे थे। हिन्दी के छायावादी कवियो की नव-चेतना को न समझकर रूढिवादी आलोचको ने आरभ मे उनका कितना उपहास किया था, यह हिन्दी-पाठक से छिपा नही है। "आलोचना-क्षेत्र के इन रूढिवादी सिद्धान्तो ने सत्-समालोचना की विशेष हानि की है और हमे कुछ ऐसे दृष्टिकोण अपनाने पर विवश किया है जिनसे साहित्य तथा साहित्यकार दोनो की हानि होती चली आई है। इन्ही के कारण हमारी निर्णय-शक्ति दूषित होकर शिथिल पड गई है और हम काव्य की आत्मा अथवा उसके अन्य गुणो की परख मे विफल रहते है। जिस प्रकार ऋतु-सम्बन्धी परिवर्तन जानने के लिये विज्ञानज्ञ ताप-मापक यत्र लगाकर सरदी-गरमी की मात्रा जानने का प्रयत्न करते हैं और अपने मानसिक तथा शारीरिक अनुभव से उसका निर्णय नही करते, उसी प्रकार साहित्य-क्षेत्र के पाठकवर्ग तथा आलोचक नियमो की सूची सम्मुख रख कर साहित्य की श्रेष्ठता तथा हीनता का निर्णय किया करते हैं।"[1]

समीक्षा के शाश्वत मान-दण्ड : आलोचना का क्षेत्र विकसित होते-होते आज पर्याप्त व्यापक हो गया है। आदिकाल मे केवल मौखिक साधुवाद या नाक-भौ चढाने के रूप मे ही आलोचना प्रकट हुई होगी। फिर शनै. शनै. उसका लिखित रूप सामने आने लगा होगा। आलोचना के ऐतिहासिक विकास-क्रम से स्पष्ट है कि प्राचीन काल

१. एस० पी० खत्री : 'आलोचना—इतिहास तथा सिद्धान्त', पृ० ३६८।

की आलोचना मे नियमो और नैतिक मूल्यो की प्रधानता थी। धीरे-धीरे उसमे व्यापकता का समावेश हुआ, व्याख्यात्मक प्रवृत्ति जगी। अनेक समीक्षा-शैलियो का प्रवर्त्तन हुआ, काव्यानुसधान की प्रवृत्ति बढी और आलोचना के अनेक सम्प्रदाय बने। समीक्षा के अनेक मान-दण्ड प्रस्तुत हुए। काव्य-मूल्य-सम्बन्धी दृष्टिकोण मे भिन्नता के कारण समीक्षा के भी शाश्वत मानदण्डो का निर्धारण एकमत से नही हो सका है। किसी ने नैतिक मूल्यो को महत्त्व दिया तो कोई आनन्द को ही कसौटी मानता हे। टालस्टाय, रिचड्स आदि विद्वान् काव्य की नैतिक उपयोगिता के हामी है, तो ब्रेडले, पेटर, आस्कर वाइल्ड आदि को 'कला-कला के लिए' का सिद्धान्त ही मान्य रहा है। मनोविज्ञानवादी आलोचक व्यक्ति की ही दृष्टि से मूल्याकन के हक मे है, तो इसके विपरीत, मार्क्सवादी समाज तथा सामाजिक प्रगति की दृष्टि से विचार करना उचित बताता है। इस प्रकार नीतिवादी, सौष्ठववादी, स्वच्छन्दतावादी, मनोवैज्ञानिक, समाज-शास्त्रीय या मार्क्सवादी, अभिव्यजनावादी आदि अनेक काव्य-सम्प्रदाय प्रचलित रहे है। इस सारे ऐतिहासिक विकास-क्रम का सक्षिप्त अध्ययन करने के बाद हमने समीक्षा के शाश्वत, सार्वभौम मानदण्डो को निर्धारित करने का प्रयास किया है। सभी समीक्षा-शैलियो से समन्वित जिस उदात्त रस को हमने समीक्षा-मान माना है, वह समीक्षा का ऐसा व्यापक एव मूल मान है, जो देश-काल-निरपेक्ष है तथा जिसके आधार पर हम ससार की सब भाषाओ के साहित्य का सही मूल्याकन कर सकते है। यदि हम देखे कि सब प्रकार के साहित्य की एकता के कौन-से तत्त्व हैं, जो देशकाल की दीवारो को चीर कर शेक्सपियर, कालिदास, दाते, गेटे, होमर, वर्जिल आदि को सर्व-ग्राह्य विश्वकवि बनाते है, और जो साहित्यिक कृतियो को स्थायित्व प्रदान करते है, तो हमे उदात्त रस-तत्त्व ही ऐसे तत्त्व दिखाई देगे।

हिन्दी-समीक्षा के मान

वैसे तो रीतिकाल मे ही सैद्धातिक आलोचना के रूप मे हिन्दी-समीक्षा का बीजारोपण हो चुका था, और सस्कृत-काव्य-शास्त्र के आधार पर हिन्दी मे सैकडो लक्षण-ग्रथो की रचना हुई, पर रीतिकालीन इस प्रयत्न मे न तो मौलिकता थी और न विशेष प्रतिभा और चिंतन की गहराई ही थी। रस-अलकार की बधी हुई लकीर से बाहर किसी का पाव नही बढा। साहित्य की अनेक समस्याओ तथा परम्परागत मतो-सिद्धातो की वैज्ञानिक परख का कुछ भी कार्य न हुआ।

भारतेन्दु युग मे साहित्य और जीवन मे नव-चेतना आई। अनेकानेक नवीन पाश्चात्य काव्य-शैलियो और पद्धतियों से भारतीयो का परिचय हुआ। खडी बोली गद्य मे पत्र-पत्रिकाओ का चलन हुआ, और उनमे नए ढग की प्रयोगात्मक आलोचना के लेख निकलने लगे। पर समीक्षा का यह रूप साधारण परिचयात्मक ही रहा, प्रौढ मूल्याकन के दर्शन नही हुए। उनमे पूरी रचना की सर्वांगीण आलोचना का

प्रयास नही होता था, केवल विशेष-विशेष स्थलो तथा विशेष पहलुओ का गुण-दोष-विवेचन ही रहता था। इस गुण-दोष-विवेचन का आधार भी परम्परागत शास्त्रीय नियम ही होते थे। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की आलोचना भी अधिकतर दोषान्वेषिणी ही रही। वे मूलत सुधारक थे, अत आलोचक मे भी उनका सुधारक-रूप प्रकट हुआ है। यद्यपि वे भी सर्वांगीण व्याख्यात्मक-निर्णयात्मक व्यावहारिक आलोचना का व्यापक स्वरूप नही प्रकट कर सके, तो भी उनके काव्य-विषयक विचारो मे पर्याप्त व्यापकता दिखाई देती है। वे कविता मे मनोरजन और उपदेश दोनो के पक्षपाती थे—"कविता का विषय मनोरजक और उपदेश-जनक होना चाहिए। यमुना के किनारे केलि-कौतूहल का अद्‌भुत-अद्‌भुत वर्णन बहुत हो चुका। न परकीयाओ पर प्रबध लिखने की अब कोई आवश्यकता है और न स्वकीयाओ के 'गतागत' की पहेली बुझाने की।"[१] वर्ण्य-विषय की उत्कृष्टता पर बल देते हुए, द्विवेदी जी रस को ही कविता का सबसे बडा गुण बताते है। वे सादगी, असलियत और जोश को उत्तम काव्य का गुण मानते थे। 'कवि और कविता', 'कवि-कर्त्तव्य', 'कवि बनने के सापेक्ष साधन' आदि लेखो से उन्होने सैद्धानिक आलोचना का सूत्रपात किया, और यद्यपि इस सिद्धात-निर्माण मे विशेष मौलिकता और चिंतन की प्रौढता नही है, प्राचीन भारतीय आचार्यो तथा पाश्चात्य विद्वानो के ही मत अपने ढग पर प्रकट किये गये है, तो भी समीक्षा के पर्याप्त व्यापक मान उनके सिद्धात-कथन मे दिखाई देते है। डा० भगवत्स्वरूप मिश्र द्विवेदी जी की आलोचना के सम्बन्ध मे कहते है—"यही बात (पश्चिम के प्रभाव की) उनकी आलोचना के मानदण्ड के सम्बन्ध मे कही जा सकती है। उसमे दोनो का (भारतीय और पाश्चात्य) सम्मिश्रण है। अलकार, काव्यभेद आदि के निरूपण के अतिरिक्त, जो स्पष्टत भारतीय परम्परा की वस्तुएँ है, कवि के व्यक्तित्व, उसके राजनीतिक अथवा अन्य प्रकार के विचारो का विवेचन आदि कई-एक मान पश्चिम से ही आए है। जीवन की व्याख्या के रूप मे साहित्य का ग्रहण पाश्चात्य प्रभाव है और द्विवेदी जी की साहित्य-समीक्षा पर इसका प्रभाव भी स्पष्ट है। व्याख्या की प्रणाली और मान भारतीय है।"[२] द्विवेदी जी समीक्षा का शाश्वत मान देने मे तो असमर्थ रहे ही है, साथ ही अपने ही सामान्य सिद्धान्तो का पूरा प्रयोग वे अपनी व्यावहारिक समीक्षा मे नही कर सके। उनका महत्त्व युग-सापेक्ष है। अपने युग मे जो काव्य-आन्दोलन, युग की आवश्यकता के अनुसार, उन्होने उठाये, उन्ही मे उनकी महत्ता है। काव्य मे रीतिकालीन शृगार-मात्र के स्थान पर जीवन के विविध विषयो की अवतारणा, काव्य मे केवल मनोरजन के स्थान पर जीवनादर्शों और उपयोगिता का दृष्टिकोण, भाषा की सरलता, छन्दो

१. 'रसज्ञरंजन', पृ० २३।
२. हिन्दी आलोचना उद्‌भव और विकास, पृ० २६४।

की स्वतन्त्रता आदि तत्कालीन साहित्यिक आदर्शों की पूर्ति के लिये द्विवेदी जी ने प्रबल आवाज उठाई। उन्होने जिस नैतिक-उपयोगितावादी काव्यादर्श की स्थापना की, वही आगे चलकर प्रेमचन्द आदि साहित्यकारो मे फला-फूला। यह ठीक है कि इससे कलात्मक पक्ष की हानि हुई और द्विवेदी जी का यह आग्रह एकागी मानदण्ड का ही द्योतक है, पर उस समय देवकीनन्दन खत्री के स्थान पर प्रेमचन्द की उपलब्धि के लिये यही आवश्यक था। उन्होने उस समय साहित्य-सम्बन्धी छिछली-हल्की धारणा को बदल कर एक सात्त्विक ज्योति जगाई।

द्विवेदी काल मे मिश्र बधुओ ने कवियो को छोटा-बडा बताने की एक अवैज्ञानिक तुलनात्मक समीक्षा-परम्परा चलाई। रस, अलकार, गुण-दोष, रीति, ध्वनि, छन्द आदि परम्परागत काव्य-तत्त्वो के आधार पर ही कवियो की ऊँची-नीची श्रेणियाँ बनाने का कार्य उन्होने अपने 'विनोद' मे किया है, और यही प्रवृत्ति 'हिन्दी-नवरत्न' मे है। वैयक्तिक रुचि-अरुचि, कवि के अन्तर-बाह्य के सर्वागीण अध्ययन के स्थान पर कुछ छन्दो की एकागी परख, आन्तरिक मानदण्डो और बाह्य तत्त्वो मे विशेष अन्तर न करना, अन्तर्दृष्टि और सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति का अभाव, बधे हुए नियमो का आग्रह आदि उनकी समीक्षा की कुछ ऐसी मूल त्रुटियाँ है, जिनके कारण उनकी आलोचना सर्वथा अवैज्ञानिक और अनिश्चित कही जा सकती है। तुलना का आधार भी रुचि ही है। तभी तो भिन्न-भिन्न सस्कृतियो और भिन्न परिस्थितियो के कवियो की तुलना का प्रयत्न किया गया है। मजे की बात यह है कि तुलना मे श्रेणी-विभाजन का आधार काव्योत्कर्ष का निर्णय है। पर यह काव्योत्कर्ष का निर्णय केवल कुछ छन्दो के भाषा-सौष्ठव अर्थात् अलकार, छन्द आदि तथा भाव-सौष्ठव पर ही होता था। उनकी समीक्षा से व्यापक मानदडो की कुछ उपलब्धि नही हुई। कही-कही तो सहृदयता का भी अभाव रहा। मिश्र बधुओ की अपेक्षा कुछ व्यवस्थित तुलनात्मक आलोचना-प्रणाली का स्वरूप हमे प० पद्मसिह शर्मा मे मिलता है। मिश्रबधुओ ने देव को बिहारी से श्रेष्ठ घोषित किया था, शर्मा जी ने बिहारी की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिये तुलनात्मक आलोचना की। शर्मा जी की तुलनात्मक समीक्षा सौष्ठववादी-प्रभाववादी निर्णयात्मक आलोचना कही जा सकती है। 'बिहारी-सतसई' की भाव-शैलीगत परम्परा के निरूपण मे ऐतिहासिक प्रवृत्ति भी कुछ-कुछ परिलक्षित होती है। बिहारी की श्रेष्ठता का निर्णय देने के लिये, शर्मा जी ने रस, भाव, अलकार, शब्द-चमत्कार, उक्ति-वैचित्र्य आदि शास्त्रीय परम्परागत तत्त्वो को आधार बनाया है। बिहारी के भाव-सौष्ठव से भी अधिक भाषा-शैली-सौष्ठव पर वे रीझे है, और इसी रीझने मे प्रभाववादी आलोचना का रूप प्रकट हुआ है। शब्द-चमत्कार या भावोत्कर्ष प्रकट करने मे सौष्ठववादी समीक्षा का स्वरूप स्पष्ट है। वे प्राचीन रचनाओ को प्राचीन मानो और कवि के युग की प्रवृत्ति के आधार पर ही परखने के पक्ष मे थे। उनका कथन था—"प्राचीन काव्य वर्तमान 'परिष्कृत सुरुचि'

के आदर्श पर नही रचे गए । उन्हे इस नये गज से नही नापना चाहिए, प्राचीनता की दृष्टि से परखने पर ही उनकी खूबी समझ मे आ सकती है।"[१] इस कथन से स्पष्ट है कि शर्मा जी के सम्मुख समीक्षा का कोई शाश्वत स्थायी मानदड नही था। फिर भी कही-कही उनमे शुक्ल जी-जैसी सूक्ष्म भावान्वेषण-शक्ति दिखाई देती है। इसी सहृदयता का चरम विकास शुक्ल जी मे हुआ । पर शर्मा जी अपने सीमित दृष्टिकोण के कारण काव्य मे उदात्त तत्त्व के महत्त्व को नही समझ सके। कही कही वैयक्तिक रुचि और अनुचित पक्षपात भी उनकी आलोचना को दूषित करता है। देव और बिहारी की श्रेष्ठता के वाद-विवाद की परम्परा मे प० कृष्णबिहारी मिश्र की 'देव और बिहारी' नामक समीक्षात्मक पुस्तक शर्मा जी से कुछ अधिक व्यवस्थित है। इसमे भी शास्त्रीय आधार वही रूढ है, बल्कि शर्मा जी से भी अधिक दृढ है, वही सौष्ठववादी पैमाना है, केवल महफिली दाद की अपेक्षा कुछ शास्त्रीय गभीरता है। शैली सहृदयतापूर्ण और सयत है। अनुचित पक्षपात भी बहुत कम है। देव की उत्कृष्टता दिखाने मे उन्होने बिहारी की मिट्टी नही कूटी। इस प्रकार द्विवेदी युग मे समालोचना की धूम तो मची, पर निष्पक्ष वैज्ञानिक, सर्वांगीण, स्वाधीन आलोचना की सर्वथा कमी रही। रीतिकालीन भाव-शब्द-चमत्कार ही समीक्षा की कसौटी बने रहे। प० कृष्णबिहारी मिश्र के इस कथन से इन समीक्षको का रूढ मानदण्ड स्पष्ट प्रकट होता है—"गुणाधिक्य, अलकार-बाहुल्य, रस-परिपाक एव भाव-चमत्कार कविता की उत्तमता की कसौटी रहनी चाहिए।"[२] कवि की अन्तर्प्रवृत्तियो के सूक्ष्म अध्ययन और सर्वांगीण दृष्टि के अभाव मे यह आलोचना एकागी ही कही जा सकती है।

हिन्दी-समीक्षा की इस अनिश्चित अवस्था मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दरदास प्रभृति कुछ श्रेष्ठ आलोचको का शुभागमन हुआ। शुक्ल जी ने अपनी सूक्ष्म चिंतन-शक्ति और समर्थ समीक्षा-पद्धति से हिन्दी आलोचना की काया पलट दी। अपनी श्रेष्ठ सैद्धातिक एव व्यावहारिक समीक्षाओ-द्वारा शुक्ल जी ने विशुद्ध साहित्यिक सर्वांगीण समीक्षा के आदर्श मानो का नव-निर्माण किया। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, प्राचीन भारतीय समीक्षा-प्रणाली अपने सैद्धातिक रूप मे बहुत सूक्ष्म, वैज्ञानिक तथा निष्पक्ष तथ्य-निरूपिणी रही है, पर व्यावहारिक समीक्षा की वह सर्वांगीण व्यापक प्रणाली हमारे यहाँ नही मिलती, जो पश्चिम मे प्रचलित रही है। अब तक हमारी आलोचना रसास्वाद या आह्लाद की दृष्टि से ही एक बधे हुए ढग पर होती थी। शुक्ल जी वर्तमान युग के उन भारतीय समीक्षको मे प्रथम श्रेणी के अधिकारी है जिन्होने व्यावहारिक समीक्षा को व्यापक एव सर्वांगीण वैज्ञानिक रूप

---

१ 'बिहारी सतसई' की भूमिका।
२ 'देव और बिहारी', पृ० २३६।

प्रदान किया। काव्य-सम्बन्धी उनकी मान्यताएँ अत्यन्त प्रौढ और व्यापक चिंतन की द्योतक है। निष्पक्षता सहृदयता, विद्वत्ता, सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि, भावकता आदि आलोचक के सम्पूर्ण गुण तथा आलोचना के आवश्यक प्रसाधन सर्वप्रथम शुक्ल जी मे ही आदर्श रूप मे दिखाई दिये। काव्य के परिवर्तनीय मानो तथा शाश्वत सिद्धान्तो पर भी उन्होने सूक्ष्म विचार किया। रस, अलकार आदि प्राचीन काव्य-तत्त्वो को उन्होने नवीन मनोवैज्ञानिक दीप्ति प्रदान की। यद्यपि हमारे आचार्यों ने रसास्वाद के साथ ही धर्मार्थ-काम-मोक्ष आदि चतुर्वर्गप्राप्ति तथा नैतिक सिद्धि का प्रयोजन भी स्वीकार किया था, पर काव्य के आस्वाद-पक्ष पर ही आचार्यो, टीकाकारो तथा समीक्षको का ध्यान रहा और मूल्यवादी दृष्टिकोण व्यवहार की वस्तु न बना। शुक्ल जी से पूर्व द्विवेदी जी ने इस ओर सकेत किया, किन्तु वे तथा उनके समसामयिक आलोचक मूल्य-सम्बन्धी मान-दण्ड को व्यवहार मे न ला सके। पद्मसिह शर्मा आदि का आस्वाद-पक्ष पर ही आग्रह था। साथ ही अब तक के समीक्षक रस, रीति, अलकार आदि तत्त्वो का केवल स्थूल रूप मे रूढ प्रयोग करते थे। शुक्ल जी ने इन तत्त्वो को नए ढग से अपनी व्यापक समीक्षा का अग बनाया। उन्होने काव्य को मानवता की सर्वोच्च भाव-भूमि पर खडा किया। केवल मनोरजन काव्य का उद्देश्य नही है अपितु हमारे रागो का परिष्कार करके हृदय-प्रसार-द्वारा चराचर सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कराना ही काव्य का उद्देश्य है। केवल चमत्कार-प्रदर्शन तो तमाशाबाजी है। 'कलार्थे कला' सिद्धान्त के वे विरोधी थे। लोक-हित और सहृदय पाठक की अवहेलना करके 'स्वात सुखाय' रचना करना वे व्यर्थ मानते थे। वे बहुत बडे रस-ग्राही पाठक थे। उनकी समीक्षा-पद्धति भी रसवादी-मूल्यवादी है। वे काव्य मे रसानुभूति या भावोत्कर्ष तथा उच्च नैतिक प्रभाव को ही अपनी समीक्षा का मानदण्ड बनाकर चले है। शुक्ल जी विश्वनाथ की रसवादी परम्परा के आलोचक है। ध्वनिवादियो के व्यापक काव्य-लक्षण को उन्होने नहीं अपनाया। यही कारण है कि उन्होने सूक्ति को काव्य नही माना। वे साधारणीकरण-सिद्धान्त के पक्षपाती थे, अत उसी काव्य-व्यापार को सच्चा समझते थे, जो सर्वसामान्य के हृदय को स्पर्श करे। अनुभूतिहीन कोरी कल्पना को उन्होने खिलवाड-मात्र माना। वस्तु और भावोत्कर्ष के विधायक होने मे ही अलकारो की सार्थकता है। काव्य मे अर्थ-ग्रहण-मात्र से काम नही चलता, बिम्ब-ग्रहण कराना ही काव्य-भाषा का लक्ष्य होना चाहिए। शुक्ल जी ने लोकमगल की दृष्टि से काव्य के दो भेद किए। एक लोक-मगल की सिद्ध-अवस्था के काव्य, दूसरे लोकमगल की साधना-अवस्था के। शुक्ल जी ने दूसरे प्रकार के काव्यो को, मानव की उदात्त वृत्तियो को जगाने वाले होने के कारण, अधिक श्रेष्ठ माना। वे प्रबन्ध काव्य को मुक्तक काव्य से श्रेष्ठ मानते थे। शुक्ल जी ने सैद्धान्तिक समीक्षा की कोई पुस्तक नही लिखी, उनके काव्य-सम्बन्धी सिद्धान्त उनके निबन्धो, इतिहास तथा कवियो पर की गई व्यावहारिक समीक्षाओ मे बिखरे

पडे है। उन्होने गद्य-साहित्य के भिन्न-भिन्न अगो पर बहुत कम विचार किया है। उनकी सम्पूर्ण निष्पत्ति काव्य की दृष्टि से हुई हे। फिर भी अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' मे उन्होने निबन्ध, आलोचना, उपन्यास, कहानी आदि पर विचार किया है, जिससे प्रमाणित होता है कि भिन्न-भिन्न काव्य-रूपो के रचनात्मक मानो का निर्माण करने की प्रतिभा भी उनमे थी। वे न तो रूढ तन्त्रात्मक निर्णयवादी आलोचना के पक्ष मे थे, न कोरी भावुकता-प्रधान प्रभाववादी आलोचना को उचित मानते थे। वे कवियो को श्रेणीबद्ध करना भी बेहूदा समझते थे—"केवल निर्णयात्मक आलोचना की चाल बहुत-कुछ उठ गई है। अपनी भली-बुरी रुचि के अनुसार कवियो की श्रेणी बाँधना उन्हे नम्बर देना, अब एक बेहूदा बात समझी जाती है।"[1] वे ऐसी व्याख्या मक समीक्षा के ही पक्ष मे थे जो ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक आदि अन्य समीक्षा-प्रणालियो को सहयोगी बनाती हुई कवि की 'समस्त अन्तर्वृंत्तियो की सूक्ष्म छान-बीन' करे। ऐसी विश्लेषणात्मक आलोचना आलोच्य-रचना मे से ही उसकी आलोचना के मान निकालती है। शुक्ल जी ने विचारात्मक निबन्धो का आदर्श भी बताया।

यहाँ हम उनके समस्त सिद्धान्तो और मानो का विवेचन नही कर सकते। इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि शुक्ल जी मे सिद्धान्त-निर्माण की अद्भुत क्षमता थी। कुछ विद्वान् शुक्ल जी मे सिद्धान्त-निर्माण की क्षमता नही पाते। डा० नगेन्द्र उन्हे 'आऊट ऑफ-डेट' हो गए ही बताते है। डा० आई० ए० रिचर्ड्स के साथ शुक्ल जी की तुलना करते हुए वे कहते है—"रिचर्ड्स का दृष्टिकोण कही अधिक व्यापक है। उनका सत्य गत्यात्मक है, शुक्ल जी का स्थिर। इसलिए विषमताओ का सम-वय जिस सरलता से रिचर्ड्स कर लेते है, उस सरलता से शुक्ल जी नही। इसी कारण शुक्ल जी बहुत शीघ्र ही आउट-आव डेट हो गए—रिचर्ड्स कभी नही हो सकते, वे टी० एस० इलियट की कविताओ का भी आदर हृदय खोलकर करते है, शुक्ल जी को प्रसाद के साथ समझौता करने मे भी कठिनाई पडी। कविता के लोक-पक्ष ने उन्हे इतना जकड रखा था कि रस की एकात साधना उन्हे मुश्किल से ही रस-ग्राह्य हो सकती थी, इसी कारण गीति-काव्य के प्रति शुक्ल जी का भाव कुछ कठोर ही रहा।"[2] इस सम्बन्ध मे हमारा नम्र निवेदन है कि शुक्ल जी की कठोरता 'रस की एकात साधना' के प्रति नही थी, और 'रस की एकात साधना' उन्हे रस-ग्राह्य न हो, ऐसी बात नही है—'भ्रमरगीतसार' की भूमिका हमारे कथन की विशेष पुष्टि करती है—हाँ, वे साहित्य मे 'केवल रस की एकात साधना' के पक्षपाती नही थे, इसीलिए उन्होने रीतिकालीन काव्य, फारसी काव्य, कृष्ण-काव्य आदि की एकागिता

---

१. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'—पृ० ५८३।

२. 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल' (सम्पादक बाबू गुलाब राय), पृ० १३८।

का विरोध किया। रहस्यवाद पर विचार करते हुए वे कहते है—"अब विचारने की बात है कि किसी अगोचर और अज्ञात के प्रेम मे आँसुओ की आकाश-गगा मे तैरने, हृदय की नसो का सितार बजाने, प्रियतम असीम के सग नग्न प्रणय का ताडव करने या मुदे नयन-पलको के भीतर किसी रहस्य का सुखमय चित्र देखने को ही—'भी' तक तो कोई हर्ज न था—कविता कहना कहाँ तक ठीक है ? चारो ओर से बेदखल होकर छोटे-छोटे कन-कवो पर भला कविता कब तक टिक सकती है ?"[1] अत 'रस की एकात साधना' उनके भावुक हृदय मे न उतरती हो, ऐसा नही माना जा सकता। वे अपने साहित्य को एक व्यापक भाव-भूमि पर ला खडा करना चाहते थे, इसीलिए उसे एकागिता से बचाने के लिए उन्हे कठोर भी बनना पडा है। डा० देवराज ने नगेन्द्र जी की 'आउट-आव-डेट' वाली स्थापना पर विचार करते हुए एक और बात कही है—"शुक्ल जी आउट-आव-डेट नही होगे क्योकि उनमे सिद्धान्तो के निर्माण की नही, तथ्यो (Facts) को पकडने की क्षमता है। जहाँ यह ठीक है कि वे एकागी वादो के विरोध मे एक सुचिंतित साहित्यिक सिद्धात का निर्माण नही कर सके, वहाँ यह भी ठीक है कि प्राय वे एकागी वादो की कमियो को भाषा-द्वारा पकडने और प्रकट करने मे समर्थ हुए है। और यहाँ हमे शुक्ल जी की विश्लेषण-शक्ति का लोहा मानना पडता है"।[2] इसमे सदेह नही कि शुक्ल जी के सिद्धान्त-निर्माण तथा 'तथ्यो को पकडने' मे भी कुछ त्रुटियाँ और न्यूनताएँ पाई जाती है, जैसे, अभिव्यजनावाद को उन्होने व्यापक दृष्टि से नही परखा, रहस्यवाद के सम्बन्ध मे भी उनका तथ्य-निरूपण—सिद्धान्त-निर्माण सभवत नही—सदोष है, डटन के व्यक्तिवैचित्र्य को भी वे व्यर्थ खीच गए, साधारणीकरण मे आश्रय के अभाव मे रस की ऊँची-नीची कोटियाँ बताना भी उन्ही की रस-दृष्टि के विरुद्ध पडता है, किन्तु तो भी शुक्ल जी 'मूल्याकन के सफल मानो का आविष्कार नही कर सके' हो, ऐसी बात नही। काव्य मे अन्त पक्ष की प्रतिष्ठा, प्रकृति-प्रयोग की व्यापक रागात्मक दृष्टि, अलकार, कल्पना और चमत्कार की मर्यादास्थापना, काव्य को वाद से दूर रखने का सदेश, काव्य को जीवन की ठोस धरातल पर प्रतिष्ठित करना और उसके ब्रह्मानन्द सहोदरत्व की अलौकिकता के भ्रम का निवारण, आलम्बनत्व धर्म के साधारणीकरण की स्थापना, काव्य-भाषा मे अर्थग्रहण की अपेक्षा बिम्बग्रहण का महत्त्व तथा उसकी लाक्षणिक शक्ति की प्रतिष्ठा, काव्य का लक्ष्य राग-परिष्कार और हृदय-प्रसार मानना आदि ऐसी महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ है, जो निश्चय ही काव्य के स्थायी मूल्याकन से सम्बन्धित हैं। वे नैतिकता के समर्थक होते हुए भी, कबीर आदि की उपदेशात्मक उक्तियो तथा सूक्तियो को महत्त्व नही देते, रसवादी होते हुए भी, ऐकातिक शृगार-

१ चिंतामणि भाग २—'काव्य मे रहस्यवाद' निबध।
२. साहित्यचिंता, पृ० १६९, १७०।

काव्य और यहा तक कि सूर के श्रेष्ठ रस-चित्रण को भी काव्य का श्रेष्ठतम रूप स्वीकार नही करते। माना कि उन्होने मुख्य रूप से काव्य (कविता) पर ही विचार किया है, और साहित्य के सभी रूपो की पूर्ण शास्त्रीय मीमासा उन्होने नही की, पर साहि य का एक व्यापक चिरस्थायी सार्वकालिक और सार्वभौम मानदण्ड—अर्थात् साहित्य की सर्वश्रेष्ठता का मानदण्ड उनकी महत्त्वपूर्ण देन है। व्यावहारिक आलोचना मे उन्होने कही-कही गलती खाई है, और जहाँ भी वे अपने मूल सिद्धान्तो से हट-से गए है, वही उनकी व्यावहारिक समीक्षा सदोष-सी हो गई है, जैसे, तुलसीदास की समीक्षा मे जिस नैतिकता के कारण उन्होने तुलसी की इतनी महानता सिद्ध की है, साथ ही यह न देख पाना कि उसी नैतिकता और अतिशय भक्ति-साधना से तुलसी का काव्य-पक्ष विकृत भी हुआ है। साहित्य के रचना-विधान-सम्बन्धी परिवर्तनीय नियमो की भी उन्होने विशेष खोज नही की। उनका सारा प्रयास सर्वश्रेष्ठ साहित्य के चिरतन मानदण्डो की खोज ही माना जा सकता है।

शुक्ल जी पर इतना विस्तार से लिखना यहाँ अप्रासगिक नही, क्योकि हम शुक्ल जी को आधुनिक हिन्दी समीक्षा का जनक और साहित्यिक समालोचना के आदर्श का प्रतिष्ठापक मानते है। प्राचीन रस-सिद्धान्त के साथ पाश्चात्य समीक्षा-पद्धतियो और मानदण्डो के सामजस्य की जो परम्परा उन्होने चलाई, वही आज हमारी समीक्षा का आदर्श बनी हुई है। उनकी साहित्यिक समीक्षा को ही कुछ सशोधन और परिवर्द्धन के साथ आज के हमारे श्रेष्ठ आलोचको—डा० नगेन्द्र, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी आदि—ने अपनाया हुआ है। आज सभी को यह स्वीकार है कि न केवल प्राचीन रस-सिद्धान्त को यथावत् अपनाने से काम चलेगा, न उसकी पूर्ण उपेक्षा से। प्राचीन मानदण्ड को ही व्यापक बनाने की आवश्यकता है, तभी हम अपने राष्ट्रीय साहित्य के अनुरूप राष्ट्रीय समीक्षा का समुचित स्वरूप सुरक्षित रख सकेंगे।

रस-सिद्धान्त-सम्बन्धी रस-गिनाने वाली प्राचीन धारणा आज अपर्याप्त होगी। आज हमे अपनी रस-पद्धति को व्यापक बनाने की आवश्यकता है। व्यापक उदात्त रस-दृष्टि को ही, जिसमे नैतिक मूल्याकन का मानदण्ड तथा समीक्षा की ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक तुलनात्मक, समाज-शास्त्रीय आदि सभी शैलियाँ और भिन्न-भिन्न साहित्य-रूपो के भिन्न-भिन्न रचना-विधान से सम्बन्धित तत्त्व समन्वित हो, अपनी आलोचना का आदर्श बनाने की आवश्यकता है। इससे न केवल हम अपने साहित्य बल्कि सब देशो की सब युगो से सम्बन्धित सब प्रकार की रचनाओ का मूल्याकन भली प्रकार से कर सकेंगे। हाँ, हमे यह भी स्वीकार करना होगा कि समीक्षा के परिवर्तनीय मान बदलते रहते है। रचना-विधान-सम्बन्धी तत्त्वो का आग्रह व्यर्थ ही होगा। वर्तमान हिन्दी साहित्य मे जो समाजवादी, मनोवैज्ञानिक,

प्रभाववादी आदि कुछ एकांगी समीक्षाएँ प्रचलित हैं, उनके स्थान पर इस व्यापक समन्वयवादी उदात्त रस-पद्धति की विशुद्ध साहित्यिक समीक्षा की प्रतिष्ठा रखनी होगी ।



८

नई समीक्षा नई कविता



वर्तमान हिन्दी साहित्य मे 'नयी कविता', 'नयी कहानी' की तरह तथाकथित 'नई समीक्षा' भी अपना प्रचार कर रही है। ये नवीनतावादी वस्तुत अधिकतर नई कवितावादी ही है। अज्ञेय, डा० जगदीश गुप्त, लक्ष्मीकात वर्मा तथा अन्य नये कवि और नई कविता के हिमायती आलोचक साहित्य के शाश्वत प्रतिमानो की बात एकदम अस्वीकार करते हुए, रस, साधारणीकरण आदि प्राचीन प्रतिमानो को साहित्य-समीक्षा के लिए बिल्कुल अनावश्यक मानते है। इन विचारको के दृष्टिकोण तथा इनकी शकाओ को जरा विस्तार से प्रस्तुत करके विवेचना करना आवश्यक है।

इन सभी विचारको की एक धारणा यह है कि "बदलती अभिरुचि, बदलते युग और साहित्य के विकसमान "क्षणे-क्षणे नवता" प्राप्त करने वाले स्वरूप के कारण एक सर्वमान्य एव शाश्वत नियम (मानदण्ड) की स्थापना न तो हो सकी है और न सभव हे। प्रत्येक युग के साहित्य-अध्येताओ ने अपने-अपने ढग से मूल्याकन की प्राप्त कसौटियो मे परिवर्तन, परिवर्द्धन और सशोधन किये है। प्रत्येक युग ने अपनी जागतिक तस्वीर (World picture) तथा जीवन-दृष्टि के अनुरूप अपना मानदण्ड बनाया है और उसी के अनुरूप कुछ लेखक किसी युग मे अधिक प्रिय हो जाते है, कुछ उपेक्षित।"[1] इस सम्बन्ध मे हमारा निवेदन हे कि ये विचारक साहित्य के परिवर्तनीय नियमो (सिद्धान्तो) और शाश्वत मानो मे अन्तर समझकर विचार नही करते। हमने पिछले अध्याय मे स्पष्ट किया है कि भाषा-शैली, रूप-आकार, साँचे और सामग्री तो अवश्य हर युग मे परिवर्तनीय होते है, किन्तु सवेदनाएँ या भावानुभूतियाँ हर युग मे शाश्वत होती है। भावानुभूतियो की सामग्री भी बदल सकती है, बदलती है, पर भावानुभूतियाँ साहित्य का शाश्वत सत्य है। काव्य-भावानुभूतियो के

१ डा० देवीशंकर अवस्थी : 'आलोचना और आलोचना', पृ० ६-७।

आलम्बन आदि हर युग मे बदलते है, जीवन-परिस्थितियो या 'जागतिक तस्वीर तथा जीवन-दृष्टि' के अनुरूप रस-सामग्री नया रूप ग्रहण करती है, यह बात तो मानी जा सकती है, किन्तु साहित्य मे भावो तथा रसानुभूतियो की स्थिति कैसे बदल सकती है ? यदि साहित्य और साहित्य-मान युग-सापेक्ष ही बनकर रह जाते तो वाल्मीकि, कालिदास, शेक्सपियर, तुलसी आदि सब आज 'आऊट-ऑफ-डेट' हो गए होते। आखिर वह क्या बात है जिसके कारण प्रत्येक युग इन विश्वकवियो को अपनाता और आदर देता है ? यदि धैर्यपूर्वक विचारा जाय तो इसके मूल मे मानवीय उदात्त सवेदनाएँ या उदात्त भावानुभूति ही प्रतीत होगी। मानव-जीवन की, भिन्न-भिन्न रूपो मे भिन्न-भिन्न प्रकार की काव्य-सामग्री के द्वारा, उदात्त भावनाओ (रसानुभूतियो) का चित्रण होने से ही इन महान् साहित्यकारो की रचनाएँ देश और काल की प्राचीरो को लाँघ कर युग-युग की निधि बन जाती है। अत साहित्य-समीक्षा मे काव्य-साहित्य के शाश्वत तत्त्व—उदात्त भाव-रस—को ही मूल मानदण्ड मान कर चलना होगा। इसी मूल तत्त्व मे ही विभिन्न समीक्षा-दृष्टियो का 'अन्वय और एकसारी-करण' सभव हो सकता है।

इन विचारको का कहना है कि कृति का अपना प्रतिमान होता है, किन्ही पूर्व प्रतिमानो पर उसे कसना भ्राति है, क्योकि पूर्व प्रतिमान अपूर्ण होते है। इस सम्बन्ध मे भी हमारा निवेदन है कि 'कृति का अपना प्रतिमान होता है', इससे यही अभिप्राय लेना चाहिए कि समीक्ष्यवादी उस रचना के ही अन्त बाह्य का पूर्ण आलोचन करे और उसके समस्त भाव-बोध और सौन्दर्य-बोध का उद्घाटन करे, न कि अपनी निजी रुचि-अरुचि को सामने रखकर आलोचना करे। कृति मे ही उसका सौन्दर्य होता है। कवि और उसकी रचना की अन्त प्रकृति की छान-बीन से ही समीक्षा का सत्य प्रकट हो सकता है। यदि किसी रचना मे समाज और जीवन की विकृतियो के प्रति कवि ने घृणा जगाने का प्रयत्न किया है, तो समीक्षक को कवि की इस सवेदना का ही सौन्दर्य और प्रभाव समझना-समझाना चाहिए, न कि अपनी रुचि के आधार पर उसमे श्रृगार या अन्य भाव-सवेदना ढूँढनी चाहिए। कवि के रूप-विधान तथा शैली का सौन्दर्य भी उसकी रचना मे ही देखना-परखना चाहिए, न कि छन्द-शैली-भाषा आदि का कोई पूर्वाग्रह रखना चाहिए। समीक्षक को इस प्रकार अत्यन्त उदार और व्यापक दृष्टि से रचना का अवलोकन-आलोचन करके ही मूल्य आकना चाहिए। एक सामान्य पाठक और आलोचक मे यही अन्तर होता है कि जहाँ एक पाठक अपनी सीमित रुचि-अरुचि के आधार पर किसी रचना को अच्छा या बुरा समझ बैठता है, वहाँ एक समीक्षक व्यापक दृष्टि से कृति का सौन्दर्य आकता है। काव्य-कृतियो के बारे मे यह बात कभी नही कही जा सकती कि पाठक अपनी निजी मानसिक प्रतिक्रिया के बिना ही रचना का सौन्दर्य-दर्शन करता है। वस्तुत प्रत्येक पाठक अपने मानसिक और बौद्धिक सस्कार के आधार पर ही किसी रचना का रसास्वाद करता है। किन्तु एक

समालोचक की मानसिक एव बौद्धिक चेतना अत्यन्त उदार और व्यापक होती है। इसी से वह हर रचना के भाव-बोध को पूरी तरह देख-गुन सकता है। वह प्रत्येक रचना के प्रत्येक भाव-बोध का उद्घाटन कर सकता है। अत प्रत्येक रचना मे ही उसका सौन्दर्य-असौन्दर्य रहता है। इससे यही अभिप्राय है कि समीक्षक उदार और व्यापक दृष्टि से कृति के सौन्दर्य का अवलोकन करे। कृति से ही उसकी मूल्यवान जीवन-अनुभूतियो, उदात्त प्रवृत्तियो तथा शैली-कला के प्रयोगो का पता चलेगा। कृति से ही उसकी उपलब्धियो तथा अनुपलब्धियो का ज्ञान होगा। अत 'कृति का अपना प्रतिमान' से यह अभिप्राय नही है कि समीक्षक उस रचना मे जो-जैसे है, उससे ही सतोष कर लेगा, अपितु इससे यही अभिप्राय है कि अपने उदार और व्यापक दृष्टिकोण से वह कृति के ही गुण दोषो के आधार पर उसका मूल्याकन करेगा, रचना के ही समष्टि प्रभाव (उदात्त रस-परिपाक) की दृष्टि से उसका मूल्य आकेगा, किन्ही बाहरी विचारो, नैतिकता अथवा भाषा-शैली के आग्रहो मे नही उलझेगा। निश्चय ही प्रतिमान तो प्रभावकारी उदात्त मानवीय सवेदनाएँ ही उसके सम्मुख रहेगी।

नव लेखन के ये विचारक रस-परिपाक या रसानन्द को काव्य की अनिवार्य शर्त नही मानना चाहते। इनका कहना है कि आज का युग बौद्धिक युग है, अत रागो को बौद्धिक बनाना चाहिए न कि बुद्धि को रागात्मक। वस्तुत रागो को बौद्धिक बनाया जाय या बुद्धि को रागात्मक रूप दिया जाये, दोनो एक ही बात हैं, यदि ठीक तरह समझा और व्यवहार मे लाया जाय। आवश्यकता इसी बात की है कि राग-तत्त्व प्रधान रहना चाहिए। उदात्त राग या भाव बौद्धिक अवश्य ही होगे। कोरे रसानन्द की अपेक्षा उदात्त रसानन्द मे बुद्धि को ही रागात्मकता प्राप्त होती है।

डा० रमाशकर तिवारी ने अपने एक लेख 'रसवाद एक परीक्षण'[1] मे रस-शास्त्र का घोर विरोध करते हुए कुछ आक्षेप किये है। उनका कहना है कि रस-शास्त्र को साहित्य-समीक्षा का प्रतिमान नही बनाया जा सकता। इस सम्बन्ध मे उन्होने एक तो यह कहा है कि स्थयी-भावो की सीमा मे जकडकर हमने अपने भाव-बोध को सीमित कर लिया है। उनके अनुसार बहुत-सा साहित्य ऐसा है जिसमे स्थायी भाव की परिपुष्टि न होते हुए भी रस-व्यजना प्रतीत होती है। उन्होने डा० प्रेमशकर की 'परछाइयो से दूर' कविता का उद्धरण पेश करके कहा है कि "जीवन की दुपहरी को सत्य समझना जबकि परछाइयो का भय नही रहता—यह जीवन का एक सत्य है जो प्रस्तुत रचना मे रस-दशा को प्राप्त न हो सका हो, किन्तु जो रस-परिपाक की कोटि तक अनुभूति की निविडता एव कल्पना की सक्रियता की अवस्था मे चित्रित किया जा सकता है। तथापि जब मैं 'रस-परिपाक की कोटि' की बात

---

१. आलोचना, जनवरी १९६४।

कहना हूँ, तब मेरा विवक्षितार्थ इतना ही है कि परछाइयो के पृष्ठ मे सन्निहित मनोभाव इतनी गहराई तक चित्रित किया जा सकता है कि पाठक उस भाव की अनुभूति से अभिभावित हो जाए। लेकिन जब आप रस-शास्त्रीय शब्दावली की सीमा मे गृहीत स्थायियो मे से उसके लिए किसी उपयुक्त एक स्थायी की खोज करेगे, तब मेरा विश्वास है, आपको निराश होना पडेगा। शेक्सपियर की प्रसिद्ध दुखात रचना 'किग लियर' मे नरेश लियर की पुत्रियो की कृतघ्नता का जो अतीव सान्द्र एव तल-स्पर्शी परिचित्रण हुआ है, वह कृतघ्नता की भावानुभूति मे हमे निश्चित-रूपेण ऊब-चूब कर देता है। कृतघ्नता एव विश्वासघात का यह भाव परछाइयो (कविता) वाले भाव से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है, और परिनिष्ठित स्थायियो मे उसे आसानी से समेटा नही जा सकता—रसाभ्यासियो के मानसिक व्यायाम की बात दूसरी है।"

शुक्र है कि यहाँ डा० तिवारी ने 'परछाइयो से दूर' कविता की रस-सिद्धि मे कमी का अनुभव कर लिया, अन्यथा स्वय नया कवि होता या नई कविता का कोई आचार्य होता तो इतनी ईमानदारी से इस कविता के रस-दोष को स्वीकार न करता, और तब हमे पहले कविता का रस-अभाव समझाना पडता। अब हमारा निवेदन है कि इस कविता मे 'परछाइयाँ' अवाछित प्राणियो का प्रतीक है जो मित्र बनकर साथ लगे रहते है, पर कृतघ्न और विश्वासघाती होते है। यदि ऐसे विश्वासघाती का आलम्बनत्व 'भाव की गहराई' तक पहुँचा दिया जाता है तो निश्चय ही वह रस-परिपाक बनता है—शास्त्रीय रस-परिपाक, जैसे 'किग लियर' मे बना हुआ है। आश्चर्य है कि विद्वान् भाव की अनुभूति प्रक्रिया को भी नही समझ पाते। कवि और पाठक का रसास्वादन किसी भाव के उदात्त रूप से ही होता है। ऐसे प्रसगो मे विश्वासघात या कृतघ्नता ग्राह्य भाव नही है, वह तो विषय है, ठीक वैसे ही जैसे रावण का सीता के प्रति क्रोध ग्राह्य भाव नही, ग्राह्य भावानुभूति घृणा ही होगी। ऐसे विश्वासघातको और कृतघ्नो के प्रति हमारा घृणा स्थायीभाव जगाना ही लेख कया कवि का उद्देश्य होता है, क्योकि स्वय कवि ऐसे पात्रो के प्रति घृणा अनुभव कर चुका है। अत हम ऐसे भावपूर्ण प्रसगो मे बीभत्स रस का अनुभव करते है। वास्तव मे इस सारी भ्राति का कारण है रसो-भावो के सही स्वरूप-बोध का अज्ञान। बीभत्स रस के बारे मे रक्त-मास-मज्जा का परम्परागत दृष्टिकोण होने के कारण मानसिक घृणा के भिन्न-भिन्न रूपो को विद्वान बीभत्स रस नही समझ पाते। बहुत-सी भ्रातियाँ इन बीभत्स आदि रसो के सही स्वरूप और उनकी व्यापकता न समझने के ही कारण प्रचलित है। वस्तु-तथ्य यह है कि ग्राह्य भाव अर्थात् रसानुभूति के आधारभूत भाव कितने ही जटिल और व्यक्तिनिष्ठ क्यो न हो, ऐसा हो ही नही सकता कि वे काव्य-शास्त्रीय रस-परिधि मे न आये।

डा० रमाशकर तिवारी का कथन है कि रस तथा रसागो का आविष्कार नाटक के लिए हुआ था, जो समूह-अनुभूति का विषय था। "रसागो का विधान जो समूह-निष्ठ नाट्य के लिए आवश्यक था, जब बाद मे व्यक्ति-निष्ठ काव्य के लिए भी आवश्यक ठहरा दिया गया, तब काव्य नैसर्गिक प्रतिबधो की कारा मे एक प्रकार से बदी हो गया जो उसकी उन्मुक्त प्रकृति के साथ अन्याय ही समझा जायगा (क्योकि स्थूल अभिनय के अनुषगो को सूक्ष्म मानसिक अविग्रहण के साथ लपेट दिया गया)। इसके दो परिणाम घटित हुए प्रथम यह कि कवि को अपने व्यक्तित्व की प्रेरणाएँ तथा एषणाएँ प्रत्यक्ष-रूपेण चित्रित करने का अवसर नही मिला और द्वितीय यह कि प्राचीन साहित्य मे कोई स्वतत्र एव व्यवस्थित गीति-काव्य विकसित नही हो सका। आधुनिक काल मे हमारे साहित्य मे गीति-काव्य का जो विपुल एव रमणीय विकास हुआ है, वह रसागो की शास्त्रीय व्यवस्था के अनुगमन मे कदाचित मभव नही हुआ होता। विभाव, अनुभाव तथा सचारियो को एकत्र सगुफित कर कविता रचने की सरल प्रवृत्ति भी रीतिकालीन कविता मे लक्षित हो सकती थी, जिसे सस्कृत के रीति-शास्त्र से सीधे प्रेरणा मिल रही थी। ऐसी रचनाएँ प्राय यत्रवत् 'मैकेनिकल' ढग से प्रणीत होती थी और उनके भीतर किसी अनुभूति की समर्थ स्फुरणा के दर्शन नही होते।" और इस प्रकार तिवारी जी का निर्णय है कि "यत आधुनिक काव्य दृष्टि रसाश्रयी नही रह गई है, अत रसवाद को काव्य-निकष के रूप मे स्वीकार नही किया जा सकता।"

इस सम्बन्ध मे हमारा निवेदन है कि रस-शास्त्र के विरोधी इन विद्वानो के सामने केवल ६ स्थायीभाव और परम्परागत ३३ सचारी ही बार-बार आते है, इसी से ये रस-शास्त्र को सीमित अनुभूतियो का शास्त्र मान बैठते है। हम पहले भी स्पष्ट कर चुके है कि कोई भी मानव-अनुभूति या भावानुभूति ऐसी नही हो सकती जो रस-शास्त्र की परिधि से बाहर दिखाई दे। रस-शास्त्र मे स्थायी-भाव तो अवश्य नौ-दस ही है, किन्तु सचारी भाव तो समस्त मानवीय भाव और अनुभूतियाँ बन सकती है। अत कोई भी कवि-अनुभूति (भावानुभूति) रस-क्षेत्र से बाहर हो ही नही सकती। हमने पीछे सिद्ध किया है कि कवि अनुभूति स्पृहणीय और उदात्त ही होती है, अर्थात् कवि के भाव स्पृहणीय सुन्दर भाव होते है, कवि मानवीय कृतघ्नता को अपनी घृणा, उपहास आदि अनुभूति का विषय बनाकर ही तो प्रकट करेगा, अत उसके ये घृणा, हास्य आदि सुन्दर भाव रसानुभूति से ही तो सम्बन्ध रखते है। ठीक है, प्राचीन साहित्य सरल-सीधी अनुभूतियो का साहित्य है— यद्यपि महाभारत जबरदस्त अन्तर्द्वन्द्व और अन्तर-विरोधो का महाकाव्य है और रस-परिपाक के कारण ही वह एक पूर्ण सफल महाकाव्य बना हुआ है—और वर्तमान युग चेतन-अवचेतन मन की ग्रथियो और जटिल मानव-अनुभूतियो का युग है। पर इसमे यह निष्कर्ष कैसे निकाला जा सकता है कि कवि-अनुभूतियाँ भी उलझी हुई अटपटी और जटिल हो

गई है। वास्तव मे आज सभ्यता के आवरणो ने कवि-कर्म को अवश्य जटिल बना दिया है, क्योकि उसे युग-मानव की ग्रथियो, कुठाओ और अवचेतन मे छिपे-दबे भावो को प्रकाशित करना और अपनी अनुभूति का विषय बनाना पड रहा है। आज उसके आलम्बन बदल गए है, जटिल और कुठा-ग्रस्त हो गए है, किन्तु उसकी अनुभूतियाँ तो अस्पष्ट, जटिल नही हो सकती। वह तो सुन्दर अनुभूतियाँ ही प्रकाशित करेगा, जटिल रस-सामग्री को अपनी सुन्दर अनुभूतियो का विषय बनायेगा, अत कवि-अनुभूतियो को जटिल मानना भ्राति ही है। यदि कोई कवि अपनी अनुभूतियो को स्पष्ट ग्राह्य रूप मे प्रकट नही कर सकता, तो यह उसके कवि-कर्म की असमर्थता का ही द्योतक होगा। हमने इलाचन्द्र जोशी के मनोवैज्ञानिक उपन्यास 'सन्यासी' की रसवादी समीक्षा[1] करने मे कोई कठिनाई अनुभव नही की, हालाकि 'सन्यासी' मे नायक नन्दकिशोर के चेतन-अवचेनन मन के घात-प्रतिघातो की ही कहानी है। अत. यह सर्वथा मिथ्या आरोप है कि जटिल अनुभूतियाँ रस-शास्त्र के अन्तर्गत नही समा सकती। आखिर कवि की वैयक्तिक अनुभूतियाँ कोई आसमानी या हवाई तो नही हो सकती, वे होगी तो सम्प्रेष्य ही, क्योकि निरी वैयक्तिक—जो सम्प्रेष्य नही होगी, जिन्हे दूसरे समझ ही न सकेगे, वे तो कवि को सनकी ही बना देगी तब उसका कवि-रूप ही कहाँ रहेगा ? अत आत्माभिव्यक्तिपरक गीति काव्य रस शास्त्र से विलग नही हो सकता। प्राचीन काल मे जो आत्माभिव्यक्तिपरक गीति-काव्य का प्रणयन तथा विकास नही हो सका, उसका कारण रस-शास्त्र की शास्त्रीय परिपाटी को मानना हास्यास्पद ही है। वस्तुत इसके मूल मे युगीन परिस्थितियाँ ही है। सामतीय वातावरण मे जीवन की यथार्थ अनुभूतियो के प्रकाशन की दृष्टि ही नही जगी थी। रीतिकालीन कविता की बधी-बधाई प्रवृत्ति के मूल मे भी रस-शास्त्र नही, शृगार रस और अलकार-शास्त्र तथा सामतीय परिस्थितियाँ ही कारण मानी जा सकती है। शृगार रस-चित्रण की जो परिपाटी रीतिकाल मे चली है, वह वस्तुत रस-शास्त्र-द्वारा अनुमोदित नही है, क्योकि रस-शास्त्र की दृष्टि से परखने पर वह प्रवृत्ति त्रुटिपूर्ण ही प्रतीत होती है। रसवाद की दृष्टि से ही तो हम कहते है कि रीतिकालीन शृगार रस-चित्रण उदात्त रसानुभूति नही कराता। अत प्राचीन रीति-बद्ध काव्य-परिपाटी के लिए रसवाद उत्तरदायी नही है। उसके मूल मे एक शास्त्रीय प्रवृत्ति अवश्य है, किन्तु वह दूषित शृगार-परम्परा एव अलकार-शास्त्र की प्रवृत्ति है, रस-शास्त्र की नही। अत वैयक्तिक गीति काव्य का रस-शास्त्र से कोई विरोध नही माना जा सकता। सच तो यह है कि वर्तमान कविता की भी सच्ची व्याख्या रस-शास्त्र ही कर सकता है। आगे हमने नई कविता के सरस सुन्दर रूप की जो मार्मिक व्याख्या की है, वह शायद अन्यथा सभव नही हो सकती।

---

१ इस सम्बन्ध मे हमारी पुस्तक 'उपन्यासकार इलाचन्द्र जोशी और उनका

अब डा० तिवारी की एक और भ्राति का निराकरण आवश्यक है, जो आज के प्राय सभी नव-लेखन के आचार्यो की भ्राति बनी हुई है । डा० तिवारी का कथन है (प्राय सभी नई कवितावादी और प्रगतिवादी आलोचक ऐसा कहते है) कि "आज का कवि 'भावो' से अधिक 'अनुभूतियो' को प्राधान्य देता है । यो तात्त्विक दृष्टि से प्रत्येक अनुभूति मे किसी-न-किसी भाव की क्षीण छाया वर्तमान रहती है, तथापि मै 'भाव' तथा 'अनुभूति' मे इस प्रकार अन्तर करना चाहता हूँ कि पहले (भाव) मे रागात्मक सस्पर्श की प्रमुखता होती है, जबकि दूसरे (अनुभूति) मे रागात्मक सस्पर्श प्रमुख भी हो सकता है और नितान्त न्यून भी । जीवन को देखने-परखने का सनातन राज-मार्ग 'भाव-मार्ग' है, जो काव्य मे अनूदित होकर गहन आस्वाद्यता से मडित हो, रस-दशा को उपलब्ध करता है । इसके विपरीत, जीवन को देखने-समझने का 'अनुभूति-मार्ग' शायद 'राजमार्ग' के गौरव की कामना से मुक्त, उन छोटी-छोटी अगणित पगडडियो के शील का आधायक है, जिनके अनुसरण की प्रेरणा हमे प्राय नही होती, क्योकि वे प्राय वक्र एव अस्पष्ट होती है, किन्तु जो हमे थोडा धैर्य तथा विश्वास रखने पर, सामान्यतया अनधिगम्य गन्तव्य की भी प्राप्ति करा देती है । काव्य मे भावो से अधिक अनुभूतियो का चित्रण वरेण्य समझना चाहिए, क्योकि अनुभूतियाँ जीवन के सनातन एव सामूहिक दोनो पटलो का उन्मूलन करने मे समर्थ है । आज की प्रयोगवादी कविताओ मे ऐसी छोटी-बडी अनुभूतियो का विपुल चित्रण उपलब्ध है । युगीन जीवन की परिस्थितियो पर जिन रचनाओ मे व्यग्य किया गया है, वे ऐसी ही अनुभूतियो से आकीर्ण है, जिनमे भावो का रागात्मक सस्पर्श कभी प्रस्फुट हो जाता है, कभी नितात क्षीण एव बिरल रहता है ।"

स्पष्ट है कि डा० तिवारी का 'अनुभूति' से अभिप्राय है कवि-प्रतिक्रिया । 'काव्य मे भावो से अधिक अनुभूतियो का चित्रण वरेण्य' मानने से तात्पर्य होगा रागात्मक एव बौद्धिक सभी प्रकार की अनुभूतियो को वरेण्य मानना । परन्तु बौद्धिक अनुभूतियाँ बिना रागात्मक सस्पर्श के काव्य का विषय नही हो सकती, शास्त्र या विज्ञान का ही विषय बनती है । जहॉ तक जीवन को समझने-देखने का सम्बन्ध है, जीवन का अवलोकन तथा ज्ञान तो शास्त्र भी करा देता है, फिर काव्य की आवश्यकता ही क्या ? वास्तव मे काव्य हमे रागात्मक मार्ग से ही जीवन को दिखाता-समझाता है, इसी से यह शास्त्र से विशिष्ट है । अत काव्य की अनुभूति से रागात्मक अनुभूति का ही अभिप्राय लेना चाहिए । अब प्रश्न यह है कि क्या रागात्मक अनुभूतियाँ कोरे भावो को ही जगाती हैं ? हमने पीछे स्पष्ट किया है कि शुद्ध हास्य, ऐकान्तिक भोगात्मक श्रृगार और कोरा मनोरजनकारी विस्मय-अनुभव तो कदाचित् कोरा रागात्मक अनुभव है, किन्तु उदात्त भावानुभूति मे बौद्धिक तत्त्व (नैतिक पक्ष)

और प्रवृत्ति (कर्म-प्रेरणा) भी सम्मिलित रहती है। उदात्त भावानुभूति मे इच्छा, ज्ञान, और कर्म का स्वत समन्वय रहता हे। अत काव्य मे कोरे अनुरजनकारी 'भावो से अधिक' उदात्त भाव-'अनुभूतियो का चित्रण वरेण्य समझना' ही समीचीन है। आशा है डा० तिवारी को उनकी उक्ति का यह सशोधन स्वीकार्य होगा। जिस कविता मे रागात्मक सस्पर्श न्यून होता है, अनुभूति मुख्यत बौद्धिक ही रह जाती है, उस कविता को अकविता तो नहीं कहा जा सकता, क्योकि कुछ-न-कुछ भाव-सस्पर्श उसमे है ही, पर वह कविता साहित्य की दीर्घ काल पट्टी पर अमर रहने वाली कविता नही बन सकती, यह निश्चित समझ रखना चाहिए।

अब युगीन परिस्थितियो की व्यग्यानुभूति पर विचार करते है। डा० रमाशकर तिवारी ने रघुवीर सहाय जी की एक नई कविता का यह उदाहरण अपनी विवेचना का विषय बनाया है

"वह नाली मे लुढक गया
कुत्ता उसको सूघ गया
अकड जायगी कल तक लाश
अगर न आए कोई पास
'मरा यहाँ आके बदमाश !'
'अकड जायगी कल तक लाश'
बोला कोई भर कर साँस
'इसको थी प्यार की तलाश'
चाहे झिडको, चाहे रो,
इसकी लाश का कुछ भी हो,
यहाँ मत कहना, 'दुख नसीब !
मौत हो गई पीने से !'
यह तो मारा गया गरीब
एक दिन बेहद जीने से।"

तिवारी जी ने इस कविता की जो व्याख्या प्रस्तुत की है, वह शायद कवि के सवेद्य-सार (भावानुभूति) को ठीक न समझ कर ही की है। न तो इस कविता मे मृतक के प्रति कही जुगुप्सा-भाव है और न शोक का अभाव। इस कविता मे उदात्त भावानुभूति इतनी स्पष्ट है कि कविता की रस-सिद्धि मे कोई सदेह नहीं हो सकता। इसमे शोक और घृणा का सह-अस्तित्व करुण रस और बीभत्स रस की स्पष्ट अनुभूति करा रहा है। गरीब मृतक के आलम्बनत्व से करुण रस की सिद्धि हो रही है, यद्यपि यदि गरीब की करुण परिस्थितियो का और सजीव रूप प्रकाशित हो जाता, तो करुणा और अधिक व्यजक हो जाती, फिर भी अंतिम पक्ति की ध्वनि कल्पना मे पर्याप्त चित्र प्रकट कर देती है, और जन-मनोवृत्ति या समाज की दूषित मनोवृत्ति—

गरीब के इस प्रकार मरने को बदमाशी कहकर या जुगुप्सा प्रकट करके बुरा मानने वालो तथा वैषम्यपूर्ण समाज-व्यवस्था के प्रति ध्वनित व्यग्य हमारी उनके प्रति घृणा ही जगा रहा है और बीभत्स रस की सिद्धि हो रही है।

डा० तिवारी ने इस कविता की व्याख्या करते हुए कहा है—"प्रवीण पाठक को यह समझते देर नही लगेगी कि कविता का मूल वक्तव्य शोक की व्यजना नही, अपितु समाज के उपेक्षित नराधमो के प्रति हमारे अनुभूत्यात्मक व्यक्तित्व को एक मार्मिक धक्का देना है, उसे सजग एव सतर्क बनाना है। और यह विवक्षार्थ मूलत एक 'अनुभूति' है, न कि कोई 'भाव'।" हमारा निवेदन है कि क्या पाठक को 'मार्मिक धक्का' बिना शोक और घृणा की भावानुभूति के लग सकता था ? क्या रागात्मक बोध के बिना ही सत्य मार्मिक या प्रभावयुक्त हो जाता है ? वास्तव मे धक्का लगाना 'अनुभूति' नही है, परिणाम या उद्देश्य है। असल मे तो कवि ने हमारे मन मे गरीबो के प्रति करुणा जगाकर और समाज की उपेक्षा के प्रति घृणा उत्पन्न करके ही हमे मर्माहत करना चाहा हे। इस भाव-बोध या भावानुभूति पर ही कविता की प्रभाव-शक्ति आधृत है। समाज की गली-सडी रूढियो तथा दूषित पद्धतियो के प्रति पाठक के मन मे विद्रोह जगाना कवि-उद्देश्य होता है। किन्तु यह उद्देश्य पाठक की घृणा-भावानुभूति जगाने से ही तो सिद्ध होगा, इसके बिना कैसे सभव है ?

मुझे लगता है कि इन विचारको की सबसे बडी भ्राति यही है कि ये भाव-बोध (भावानुभूति) को तो भूल जाते है, या समझ नही पाते और सीधे ही वक्तव्य, कथ्य या उद्देश्य पर पहुँच जाते है, उसे ही ढूढने लगते है। इसी का परिणाम है कि ऐसी प्रवृत्ति वाले कवियो की तो कविता तथ्य-प्रधान या कथ्य-प्रधान हो जाती है, क्योकि बहुधा ये कवि भावानुभूतियो के मार्मिक सृजन का ध्यान नही कर पाते, और ऐसे विचारक भाव-सौन्दर्य का अवलोकन नही कर पाते, केवल तथ्य-निरूपण करने लगते है।

रस-सिद्धात के सशोधन-परिवर्द्धन और नव-सस्कार की जो बात रसवादी समीक्षक कहते है और जिसका प्रयास हमने प्रस्तुत पुस्तक मे किया है, उस पर आक्षेप करते हुए डा० तिवारी ने कहा है—"रसवाद के पोषक आचार्य एव आलोचक कभी-कभी यह कहते सुने जाते है कि रस का ऐसा नव-सस्कार किया जा सकता है कि उसकी सीमा मे सम्पूर्ण प्रकार के काव्य-प्रयत्नो का समाहार हो सके। रस के नव-सस्कार से क्या अभिप्राय ग्रहण किया जाए, इस प्रश्न का उत्तर मेरी समझ से यह हो सकता है कि रस-शास्त्रीय मान्यताएँ, यथा साधारणीकरण, रसानन्द, वेद्यान्तर ससर्ग-शून्यता इत्यादि शिथिल की जाएँ और रसागो के व्यवस्थित उपन्यास का प्रतिबध ढीला किया जाए। मैं समझता हूँ, ये सभी मान्यताएँ सम्प्रति या तो प्राय उन्मूलित हो चुकी है या बिल्कुल हिल चुकी है, और आधुनिक मनोदृष्टि के परिप्रेक्ष्य मे अब उनका सशक्त नव-स्थापन सभव नही दीखता। रसानन्द अर्थात् काव्य से

मिलने वाली मानसिक अनुभूति की आनन्दमूलकता का आग्रह भी आज काल-दोष (अनैक्रानिज्म) माना जायगा। रसागो के व्यवस्थित सन्निवेश की बात तो आज निरर्थक बन गई है। जीवन के शाश्वत सत्य भी आज रसागो के समुचित उपन्यास के अभाव मे सुन्दर रीति से चित्रित होने लग गए है।" और अपने वक्तव्य की पुष्टि मे तिवारी जी ने बालस्वरूप 'राही' की "यह कैसे हुआ मीत" शीर्षक कविता का निम्न उद्धरण पेश किया है—

"मोहरे वही, बिसात भी वही, खिलाडी भी,
यह कैसे हुआ मीत, शतरजी जीवन मे—
जीत गई एक चाल, एक चाल हार गई ?
× × ×
कमलो की आँख खुली, निशिगधा मुरझागई,
यह कैसे हुआ मीत, सूरज की वही किरण
एक को उजाड गई, एक को सँवार गई ?
× × ×
हम सब कठपुतली है, हाय नही सूत्रधार ?
झटके से फिरते है, खटकाते द्वार-द्वार,
जो कुछ भी होना है, भाल पर लिखा है यदि
फिर कैसी दौड-धूप, फिर कैसी जीत-हार ?
× × ×
परवशता मात्र सत्य, शेष मगर मिथ्या है,
यह कैसे हुआ मीत, एक तृषा चुपके से—
जीवन की दुलहन को, फिर भी मनुहार गई ?"

तिवारी जी का कहना है कि "नियतिवाद का प्रस्तुत चित्रण इस कविता मे बडा मार्मिक बन पडा है। लेकिन विभावानुभाव इत्यादि का व्यवस्थित सगुम्फन शायद उसमे उपलब्ध न हो—आप मानसिक व्यायाम से इन्हे अलग-अलग खोज निकाले, यह भिन्न बात होगी। 'विभाव' यहाँ कतिपय व्यापार या घटनाएँ हे, शायद सभी आलम्बन विभाव ही है, और उनके सश्लिष्ट सगुम्फन से कवि ने जीवन मे भाग्य की प्रबलता का ध्वनन किया है। यहाँ आप शात भी नही मान सकते, क्योकि निर्वेद की स्पष्ट अबाधित परिपुष्टि भी नही दिखाई पडती। तो भी कवि का विवक्षार्थ एक सनातन सत्य है, इसे आप इनकार नही कर सकते।' अतिम पक्ति से कवि जिजीविषा की चिनगारी को चुपके से दीप्त भी कर देता है। अतएव नियति-निर्ममता और जीवन-लालसा की भाव-सधि का उल्लेख यहाँ किया जा सकता है, किन्तु इनमे से कोई एक भाव आस्वाद्यता की कोटि तक पहुँच सका है, शायद ऐसा नही कहा जा सकता। रसवाद मे भाव-शबलता, भावसधि, भाव-शाति, भावाभास

इत्यादि अन्तर्दशाओ की भी व्यवस्था की गई है। इस प्रकार उदारता बरतने पर प्रस्तुत कविता रस-परिधि मे समाविष्ट की जा सकती है।"

तिवारी जी के कथन को विस्तारपूर्वक हम इसीलिए उद्धृत कर रहे है क्योकि तिवारी जी रसवाद का विरोध करते-करते भी रसवाद का समर्थन करते प्रतीत होते है। उनकी अपनी बात स्वय उनके द्वारा अतिम पक्तियो मे खण्डित हो गई है। निश्चय ही उपर्युक्त कविता रस-परिपाकपूर्ण कविता नही बन सकी है। क्यो नही बन सकी है, इसका उत्तर भी रसवाद ही दे सकता है। यह कविता रस-शास्त्र के अन्तर्गत रसाभास की भाव-शबलता का उदाहरण है। रसवाद इस कविता को काव्य तो मानता है, पर उच्च कोटि का ऐसा श्रेष्ठतम काव्य नही मान सकता जो सदैव अविस्मरणीय बना रहे। अब इस बात को स्पष्ट करे कि क्यो यह कविता इतनी मार्मिक या रसपरिपाकपूर्ण नही बन सकी है। 'नियति की निर्ममता' एक तथ्य है, भाव नही। अत जब तक नियति की निर्ममता को भाव-रूप प्रदान नही किया जायगा, तब तक वह मार्मिक नही बन सकती। नियति की निर्ममता का भावपूर्ण चित्रण करुणा भाव जगाये बिना सभव नही हो सकता। जब तक नियति की निर्ममता से पीडित जीवन का चित्र सवेदनशील नही बनाया जायगा, तब तक 'नियति की निर्ममता' एक सत्य-मात्र बनी रहेगी, जो हमारी बौद्धिक अनुभूति को भले ही जगा दे, रागात्मक अनुभूति नही जगा पायेगी। श्री बालस्वरूप राही की इस कविता का कथ्य कोई अछूता नही है। नियति की निर्ममता का चित्रण इस कविता की अपेक्षा कवि पत की 'निष्ठुर परिवर्तन' और 'परिवर्तन' कविताओ मे अधिक भावपूर्ण है। इसका कारण यही है कि जहाँ राही जी केवल तथ्य के प्रति विस्मित-से दिखाई देते और प्रश्न करते रह जाते है, वहाँ कवि पत ने आलम्बनो को सवेदनापूर्ण बनाने मे अधिक शक्ति लगाई है। पत जी की कविता मे उनका करुणापूर्ण हृदय उमडा हुआ है। कला की प्रौढता भी उन कविताओ मे अधिक है और करुणानुभूति को अधिक प्रभावपूर्ण बना रही है। अत रसवाद की ही दृष्टि से जहाँ पत जी की कविताएँ हिन्दी साहित्य मे ही नही, विश्वसाहित्य मे स्थायी स्थान बनाये रहेगी, वहाँ राही जी की उपर्युक्त कविता इतना प्रभाव जमाये नही रह सकती।

तिवारी जी से हमारा निवेदन है कि रसानन्द, साधारणीकरण आदि रस-शास्त्र की मान्यताओ के समाप्त होने की जो कल्पना उन्होने सहज ही कर ली है, वह उनकी भ्राति ही है। रसानन्द के बिना काव्य-सौष्ठव सभव नही है। विश्व-साहित्य की कोई ऐसी श्रेष्ठ रचना नही बताई जा सकती, जिसमे रसानन्द का अभाव हो। हाँ, यह अवश्य है कि हमे उदात्त रसानन्द पर बल देना होगा। हमारा यह भी निवेदन है कि 'जीवन के शाश्वत सत्य आज ही रसागो के समुचित उपन्यास के अभाव मे सुन्दर रीति से चित्रित होने' लगे हो, ऐसा भी नही माना जा सकता। हमारे प्राचीन सूक्ति-काव्य मे भी यही बात है। कबीर, तुलसी, रहीम, बिहारी, वृन्द, विक्रम

आदि कितने ही प्राचीन कवियो के नीतिपूर्ण दोहे तथा अन्य तथ्यपूर्ण सूक्तियाँ और क्या है ? रसवाद ने कभी उन्हे कविता के क्षेत्र से बाहर नही किया, किन्तु वे भी यदि अपना काल-व्यापी प्रभाव न जमा सके तो रसवाद का इसमे क्या दोष ? सच तो यह है कि रसवाद से पूरी तरह सहमत न होने के कारण ही वे अधिक प्रभावकारी नही बन पाये। अत रसागो के समुचित उपन्यास के अभाव मे भी कविता तो सभव है, पर श्रेष्ठ कविता की सिद्धि उदात्त रसागो के औचित्यपूर्ण विन्यास या उपन्यास से ही सभव होती है, इस तथ्य को किसी प्रकार झुठलाया नही जा सकता।

डा० तिवारी ने एक यह प्रश्न उठाया है कि ऐसी भाव-गर्भ कविता मे रस-निर्देश कैसे होगा ? क्या रसो की सख्या बढाई जायगी ? उनके मतानुसार "प्रत्येक भाव-गर्भ कविता की समीक्षा मे रस-निर्देश सभव नही होगा। ऐसे ही स्थायी भाव का विधान भी कदाचित् सर्वथैव समाप्त कर देना पडे।" इस सम्बन्ध मे हमारा निवेदन है कि जो भाव रस-परिपाक की कोटि तक ही नही पहुँचा है, उसका रस-निर्देश कैसे हो सकता है ? क्या रस-निर्देश करना ही किसी कविता की आलोचना करना होता है ? जो कविता भाव-कोटि की ही कविता होगी उसे रसवादी आलोचक रस-कोटि की कैसे बना देगा ? ऐसी कोई भाव-दशा नही जो रस-परिपाक तक पहुँचती हो और उसका रस-रूप मे हम निर्देशन और आलोचनात्मक विश्लेषण न कर सकते हो। वास्तव मे रस-शास्त्र ही अनुभूतियो के सही काव्य-मूल्य आक सकता है, क्योकि उसके लिए जो अनुभूति जितनी अधिक उदात्त भावानुभूति होगी, उतनी ही अधिक मूल्यवान् होगी।

तिवारी जी ने ऐसी (बौद्धिक) अनुभूतिपरक रचनाओ को कविता से बाहर करने वाले आचार्यों पर आक्रोश प्रकट किया है। किन्तु इस सम्बन्ध मे हम पहले भी निवेदन कर चुके है कि ऐसी रचनाओ को काव्य से बाहर करने की बात तो शायद कोई भी नही कहता, और न ही किसी ने कही है, हाँ, इन्हे काव्य की उत्कृष्ट सिद्धि अवश्य नही माना जा सकता। उनका कथन है, "सचाई यह है कि जब तक कविता किसी अनुभूति का इस प्रकार चित्रण करेगी कि उससे हमारे जीवन-बोध की धार तीक्ष्ण हो, जीवन-विषयक हमारी प्रतीतियाँ सूक्ष्म, सकुल तथा समृद्ध होवे, तब तक किसी भी प्रकार का काव्य-प्रयत्न कविता की परिधि मे बाहर नही निकाला जा सकता।" हम उनके इस कथन से सर्वथा सहमत है। किन्तु पता नही तिवारी जी इससे यह निष्कर्ष कैसे निकाल लेते है "कि सभी प्रकार के काव्य के मूल्याकन के लिए रस को सार्वभौम कसौटी के रूप मे स्वीकार नही किया जा सकता, क्योकि 'भाव' का रागात्मक उपन्यास रस के मौलिक गोत्र की रक्षा के लिए आवश्यक है, और सभी कविताएँ रागात्मक ध्वनियो का क्वणन नही कर सकती।" हम ऊपर निवेदन कर चुके है कि अनुभूतियो का सही काव्य-मूल्याकन रस-शास्त्र ही कर सकता है। सूत्र रूप मे तिवारी जी के निष्कर्षों को पुन प्रकट किया जाता है—

(क) काव्य-सर्जना के आदर्श-रूप मे रस को सार्वभौम स्वीकृति प्रदान नही की जा सकती, क्योकि वैसा करने से 'सारस्वतवर्त्म' की स्वच्छन्दता पर अस्वाभाविक प्रतिबध लग जाते है।

(ख) काव्य का प्रयोजन रसानन्द की उपलब्धि नही है, प्रत्युत जीवन-बोध है, जिसके लिए भावो का राजमार्ग ही निरन्तर अनुगम्य नही हो सकता, अपितु अनुभूतियो की पगडडियाँ भी विश्वसनीय सिद्ध हो सकती है।

(ग) काव्य के मूल्य-मापन के लिए रसवाद को आत्यतिक कसौटी के रूप मे स्वीकार नही किया जा सकता, क्योकि उसमे समस्त काव्य-प्रयासो के साथ समुचित न्याय नही हो सकता।

(घ) तथापि रसवाद सर्वथैव त्याज्य है, ऐसा कहना भी दुर्विदग्ध एव दुर्ललित वाग्विलास होगा, क्योकि आज के कठोर बुद्धिवादी युग मे भी हम रस की कनक-कटोरियो के लिए तरसते और ललकते रहते है।

हम डा० तिवारी के इन सभी अभिमतो का खण्डन कर चुके है। उनके अतिम कथन से स्पष्ट है कि रस का स्वरूप उनकी कल्पना मे केवल मनोरजन है, सभवत रस के उदात्त रूपो की जीवन-व्यापी कल्पना वे नही कर सके है। तभी तो काव्यरस को केवल बौद्धिक थकान मिटाने के लिए ही उपयोगी मानते है। काव्य का प्रयोजन कोरा रस-आनन्द (उदात्त भावानुभूतियो से रहित कोरा मनोरजन) हम भी नही मानते, अपितु उदात्त रसानन्द मानते है, जिसमे जीवन की उदात्त अनुभूतियाँ स्वत ही समाविष्ट रहती है। किन्तु जिस प्रकार हमने कोरे रसानन्द को श्रेष्ठ नही माना है, उसी प्रकार केवल बौद्धिक अनुभूतियो के (रागात्मक सस्पर्श से रहित) काव्य को भी श्रेष्ठ नही मान सकते। केवल जीवन-बोध को भी काव्य का प्रयोजन नही माना जा सकता, क्योकि जीवन-बोध का प्रयोजन तो इतिहास, नीति-शास्त्र, समाज-शात्र आदि शास्त्रो का भी होता है, फिर काव्य की क्या विशिष्टता हुई ?

तिवारी जी ने काव्य-समीक्षा का प्रकृत रूप-स्वरूप यह बताया है

(i) "आलोचक मूलत यह विवेचन करेगा कि कवि ने जिन भावो अथवा अनुभूतियो का सगुफन किया है, वे हमारी जीवन-चेतना मे कौन-सा नवीन तथ्य अथवा तत्त्व जोडती है, हमारा जीवन-बोध उनसे कितना तीक्ष्ण एव सकुल होता है, उनसे कवि की जीवन-विषयक किस मनोदृष्टि का उद्घाटन होता है और अन्तत वह मनोदृष्टि हमारे अपने बुद्धि-विवेक की कसौटी पर कहाँ तक सगत एव समीचीन सिद्ध होती है।

(ii) इस मूल वस्तु का समाधान करने के उपरान्त यदि वह रचना रसवाद की सीमा, शास्त्रीय अथवा सस्कारित के अन्तर्गत ग्रहीत हो सकती है, तो उसके रस-तत्त्वों का भी यथेष्ट उन्मीलन होना चाहिए—रस-व्यजना, भाव-व्यजना, रसाभास, भाव-सधि, भाव-शबलता इत्यादि का सहृदयतापूर्ण प्रदर्शन होना चाहिए।" अंत मे

तिवारी जी ने तात्त्विक और रागात्मक दोनो आलोचना-दृष्टियो के समन्वय का समर्थन किया है।

हमने तिवारी जी के विचारो को पूरे-के-पूरे रूप मे विज्ञ पाठको के सम्मुख यह दिखाने के लिए रख दिया है कि एक ओर तो तिवारी जी जितना अधिक-से-अधिक सभव हो सकता है, रसवाद का खूब विरोध करना चाहते है—शायद रस-शास्त्र का इतना प्रचण्ड विरोध किसी पूर्व-युग मे नही हुआ—किन्तु साथ ही दूसरी ओर रस-शास्त्र का दामन भी उनसे छोडते नही बनता। जैसा कि पहले कह चुके हैं, वह रसवाद और जीवन-बोध को पृथक्-पृथक् मान कर चल रहे है। हम स्पष्ट कर चुके है कि उदात्त रस-तत्त्वो के अध्ययन मे जीवन का अध्ययन स्वत ही हो जाता है। किसी रचना की रसवादी समीक्षा मे जीवनवादी समीक्षा भी साथ-साथ हो जाती है, इस तथ्य पर कहने से विश्वास न होता हो तो हमारी 'गोदान' की रसवादी समीक्षा[1] पढने का कष्ट करे। अत आदर्श काव्य-समीक्षा का जो स्वरूप हमने प्रस्तुत पुस्तक के पहले अध्याय मे प्रकट किया है, वही समीचीन मानना चाहिए। उदात्तरसानुभूति को कसौटी बनाने से ही काव्य के समस्त तत्त्वो का समुचित मूल्याकन सभव हो सकता है।

रस-सिद्धात तथा रसानन्द पर आक्षेप करने वाले ये आलोचक उदात्त भावानुभूतियो के मूल्यवान् आनन्द को विसार बैठे है जिसमे उच्चकोटि का बुद्धि तत्त्व या सामाजिक तत्त्व विद्यमान रहता है। डा० देवीशकर अवस्थी ने भी आनन्द के आधार को अस्वीकारते हुए कहा है—"प्राचीन भारतीय काव्य-शास्त्र मे मनोरजन का स्थान बहुत ऊँचा था। पर आज धीमानो को काल बिताने के लिए काव्य एव शास्त्र-विनोद की अपेक्षा अनेक सहज और आकर्षक माध्यम विद्यमान है। वह नये दायित्वो की ओर भी देखता है। यदि आनन्द को श्रेष्ठ कोटि के आनन्द के रूप मे लिया जाय, तब भी प्रश्न उठता है कि क्या "बूँद और समुद्र" तथा कादम्बरी से मिलने वाला आनन्द भी एक ही प्रकार का है। आधुनिक युग का बौद्धिक तो आनन्द या मनोरजन को नीची श्रेणी का ही मूल्य प्रदान करने के लिए तैयार होगा। सब मिलाकर आनन्द का प्रश्न अत्यधिक सापेक्षिक है और उसके आधार पर एक सामान्य (Common) एव सर्वमान्य साहित्यिक मूल्य की प्रतिष्ठा करना कठिन होगा। अधिक आनन्ददायक को श्रेष्ठ माना जाय, यह कसौटी हमे उपयुक्त नही प्रतीत होती है।" (आलोचना और आलोचना, पृ० २६)। कहना न होगा, यहाँ भी काव्यानन्द या रसानन्द के सम्बध मे वही भ्राति है। श्रेष्ठ कोटि का आनन्द उदात्त भावानन्द होता है, और उदात्त भावानन्द को ही कसौटी बनाया जा सकता है। यो तो सापेक्षता सब बातो मे कुछ-न-कुछ रहती ही है। दो कलाकृतियो मे अन्तर तो रहेगा ही। देखना यही होता

१ देखिए हमारी 'उपन्यासकार प्रेमचन्द और उनका गोदान' नामक पुस्तक।

है कि किस रचना का समष्टि-प्रभाव अधिक उदात्त रसात्मक है, अर्थात् जिस रचना मे रसानन्द का रूप अधिक उदात्त जीवनानुभूतियो से सम्बध रखता है, वही रचना श्रेष्ठतर मानी जायगी। यह मूल्याकन उन रचनाओ के समग्र विश्लेषण से ही करना होगा। साहित्य की सरसता से कोरे रमानन्द का अभिप्राय अपनाने के ही कारण इन समीक्षको को कहना पड रहा है, "यही हमे यह भी ध्यान मे रखना चाहिये कि सरस साहित्य जितना भ्रष्ट कर सकता है समाज को, उतना विज्ञान भी नही।"

(वही, पृ० २६)।

इन विचारको का कहना है कि "आलोचक के मूल्याकन के मानदण्ड का आधार जीवन हे। जिस प्रकार कलाकार-लेखक की कृति का मूल क्षेत्र साहित्य की सापेक्षता और सदर्भ मे देखा गया जीवन है, वैसे ही समीक्षक का कच्चा माल जीवन के सदर्भ मे स्थित साहित्य है। तथा इस परीक्षण मे तार्किक विश्लेपण और बौद्धिक व्याख्या के अन्तर्गत मूल्यो का परीक्षण उमी प्रकार होता है जैसे कि लेखक लिखते समय किन्ही चरित्रो या भावनाओ को तौलता रहता है।" (वही, पृ० ३२)। निश्चय ही मूल्याकन के मानदण्ड का **एक आधार** हम भी जीवन को मानते है, किन्तु जीवन को आलोचना के मानदण्ड का **एकमात्र आधार** नही माना जा सकता। जिस जीवन को साहित्य के सदर्भ मे देखने या जीवन के सदर्भ मे साहित्य को परखने की बात डा० अवस्थी ने उपर्युक्त कथन मे कही हे, उससे क्या यह अभिप्राय नही है कि साहित्य अर्थात् भाव, कला, रसादि के सदर्भ मे जीवन की उदात्तता का अध्ययन या उदात्त जीवनमूल्यो की सापेक्षता मे साहित्य अर्थात् रस, भाव, कलादि की परख होनी चाहिए। इसे ही हम उदात्त रसानुभूति की परख कहते है, क्योकि ऐसा कहने से जीवन-तत्त्व और साहित्य-तत्त्व (भाव, कलादि) परस्पर सगुफित-रूप मे अपेक्षित रहते है, पृथक्-पृथक् प्रतीत नही होते।

नई कविता की शक्ति—रसात्मकता

जैसा कि कहा जा चुका है, रस-भाव ही काव्य का प्राण-रूप प्रमुख तत्त्व है। इसके बिना कविता अकविता ही रहती है। अतः नई कविता भी रस-भाव से अलग अपना कोई अस्तित्व नही रख सकती। नई कविता की शक्ति और सीमा भी रस है। नई कविताओ मे भी वे रचनाएँ ही श्रेष्ठ और स्थायी महत्त्व की रचनाएँ है और रहेगी, जिनमे रसानुभूति या उदात्त भावानुभूति का गुण विद्यमान है। नीचे हम नई कविता की रसमयता पर सक्षिप्त प्रकाश डालेगे। यद्यपि नई कविता का कोई एक निश्चित भाव-बोध नही बन पाया है, क्योकि नया कवि जीवन के सभी पक्षो तथा सब प्रकार की अनुभूतियो को अपना उपजीव्य बना लेता है, तथापि प्रेम, घृणा, करुणा और हास्य-व्यग्य ही उसकी प्रमुख रस-भाव-परिधि दिखाई देती है। प्रेम-चित्रण के दो रूप प्रकट हुए हैं, एक वैयक्तिक नर-नारी प्रेम और दूसरा व्यापक मानवीय प्रेम।

अज्ञेय आदि कुछ कवियो ने अपनी कुछ कविताओ मे आध्यात्मिक विश्वात्म-प्रेम भी व्यजित किया है, पर सच तो यह है कि इनका यह प्रेम भी विराट् मानव-प्रेम का ही विकसित रूप है। प्रकृति-प्रेम के भी कुछ सुन्दर उदाहरण मिलते है। अज्ञेय की कई कविताओ मे—विशेषकर 'इत्यलम्' की 'बन्दी-स्वप्न' खण्ड की कुछ कविताओ मे देश-प्रेम की भव्य भावना भी पाई जाती है। 'रक्त-स्नात वह मेरा साकी' तो इतनी सरस उदात्त रसपूर्ण कविता है कि अज्ञेय की चिरस्मरणीय कविता बनी रहेगी। भारत माता का कितना कारुणिक-मार्मिक चित्रण हुआ है! कवि मधुबाला मे मधु पीने मे मस्त रहना चाहता है। वह मधुशाला मे मधु और मधुबाला की पुकार मचाता हे। एक लजीली मधुबाला उसे प्याला थमा देती है। पर जब कवि आतुर हुआ उसके रूप-दर्शन के लिए अवगु ठन उठाता है तो देखकर चकित रह जाता है यह तो मेरी विधवा भारत माता है!

मैने देखा, केवल अपने
रूखे केशो से अवगुण्ठित
द्राक्षा के कुचले गुच्छे-सी (अनूठी उपमा)
मर्माहत वे झुकी हुई थी—
और रक्त उनके हृदयो का
होता एक कुण्ड मे सचित!
मैंने देखा, वहाँ करोडो
भभको मे फिर उफन-उफन कर
भस्मीभूत अस्थियो के अनगिन
स्तर की छननी मे छनकर
एक मनोमोहक उन्मादक
झिलमिल निर्झर रूप ग्रहण कर
वही रक्त बढता आता था
मेरी मोहन मदिरा बनकर!
× × ×
फट जा आज धरित्री! मेरी
दुस्सह लज्जा आज मिटा दे—
रक्तस्नात वह मेरा साकी
मेरा दुखिया भारत माँ है!

इस कविता मे देश-प्रेम, करुणा एव विलास-भावना के प्रति घृणा की अनुभूतियो का अनूठा त्रिवेणी-सगम है। नई कविता के दाम्पत्य प्रेम (शृगार रस) मे अधिकतर स्मृति और विरह का चित्रण हुआ है। श्री नेमिचद जैन की निम्न पक्तियाँ कितनी सरस हैं—

चिर उपेक्षित गान मेरे !
भटकते बेबस युगो से ये प्रवासी प्राण मेरे।
आज मै अब क्या सुनाऊँ,
किस निठुर के गीत गाऊँ
मूँद लेगा कौन पीछे से नयन अनजान मेरे।
रह गई बस याद बाकी,
उन दिनो की, उस विभा की,
हो गए है आज उर के कुज सब सुनसान मेरे।

'नई कविता' मे यह वैयक्तिक प्रणय भी कई जगह उदात्त भावनाओ को समेटे रहता है। इससे इसमे एक विराट् चेतना का बोध इसे उदात्त बना देता है। अज्ञेय की निम्न कविता देखिए—

तुम्हारी पलको का कँपना।
तनिक-सा चमक खुलना, फिर झँपना।
तुम्हारी पलको का कँपना।
मानो दीखा तुम्हे लजीली किसी कली के
खिलने का सपना।
तुम्हारी पलको का कँपना।
सपने की एक किरण मुझ को दो ना,
है मेरा इष्ट तुम्हारे उस सपने का कण होना।

(आगन के पार द्वार)

प्रेम के इस दाम्पत्य तथा व्यापक रूप से भी अधिक विशिष्ट है नयी कविता मे बीभत्स रस-प्रकाशन। बीभत्स रस को घृणा भाव के मनोवैज्ञानिक रूप मे न समझने वालो को हमारा यह कथन चौका दे तो कोई आश्चर्य नही। पर सत्य का अनुभव करने वाले क्षण भर मे समझ सकते है कि वर्तमान कविता मे जीवन की कृत्रिमता, पाखड, रूढियाँ, विभीषिकाएँ आदि बुराइयाँ हमारे कवियो की घृणा का विषय बनी है और उनमे घृणानुभूति बीभत्स रस मे सम्बन्ध रखती है। घृणा भाव के आश्रय तथा हास्य रस-अन्तर्गत व्यग्य का प्रयोग नई कविता की विशिष्टता है। सच तो यह है कि नई कविता का नयापन बीभत्स रस के अन्तर्गत ही दिखाई देता है।

ऐसी कविताएँ ही, जिनमे वर्तमान जीवन और उसकी विभीषिकाओ की अभिव्यक्ति भावानुभूतियो के रूप मे हुई है, वास्तविक नई कविता कहलाने की अधिकारिणी हो सकती हैं। 'नई कविता' की यदि कोई विशेषता है तो यही कि वर्तमान जीवन के खोखलेपन, कृत्रिमता, नैतिक पतन आदि के प्रति इसमे घृणायुक्त व्यग्य या व्यग्यपूर्ण घृणा उभर कर प्रकट हुए हैं। यह व्यग्य या घृणा भाव बीभत्स रस से ही सम्बन्ध रखता है। पजाब के एक कवि श्री आनन्द जी की एक कविता

मैने एक गोष्ठी मे सुनी थी। पक्तियाँ तो ठीक याद नही, पर कविता का भावसार कुछ ऐसा था—"सुबह-सबेरे मै अपने आगन मे शेव कर रहा, क्योकि मुझे आज इन्टर्व्यू देने जाना है। सामने देखा—किसी ने एक टुकडा रोटी का फेक दिया है, और दो-तीन कुत्ते एक-दूसरे पर गुर्राते-भोकते उधर झपटे, गुर्राते, छीना-झपटी करते दौडे-भागे। मैने मन मे कहा, छी कुत्ते है, लडते है, छीना-झपटी करते है। शेव करके, नहा-धो कर मैं इन्टर्व्यू देने गया। वहाँ देखा—मेरे-जैसे कितने ही प्रत्याशी आये थे, एक-दूसरे को ताक रहे थे, घूर रहे थे, अपरिचित-से। अन्दर एक-एक को इन्टर्व्यू के लिए बुलाया जा रहा था। इन्टर्व्यू लेने वालो के मुख पर एक विशेष गर्व था, विशेष प्रभाव था। कभी-कभी गूजता अट्टहास था। स्थान एक था और प्रत्याशी थे अनेक—ईर्ष्या, स्पर्द्धा, अजाने द्वेष से जलते अनेक। इन्टर्व्यू देने के बाद मुझे याद आई सुबह की बात। भला अन्तर क्या है, उस एक टुकडे की छीना-झपटी मे और इस एक स्थान की छीन-झपट मे—कुत्तो को टुकडा फेकने वाले दयालु मानव मे और इन कृपालु मालिक-अधिकारियो मे—कुत्ते और मानव मे अन्तर ही क्या हे? धन्य है यह समदर्शी युग—'श्वानयुवान्मघवान्' को एक सूत्र मे पिरोने वाला युग!" ऐसी कविता उच्चकोटि की उदात्त रसपूर्ण कविता कही जा सकती हे। इसमे व्यग्य, घृणा, करुणा का अद्भुत मिश्रण है। मानव के इस पतन पर घृणा और करुणा जगाना ही कविता का उद्देश्य है। वर्तमान युग की विभीषिका को व्यग्य की नोक से कुरेद डाला गया है। इसी प्रकार भारत भूषण अग्रवाल की 'मै निरा विलायती स्पज हूँ' शीर्षक कविता मे वर्तमान युग के पाश्चात्य प्रभावयुक्त नवयुवक पर करारा व्यग्य है, जो मशीन-युग के यात्रिक मानव पर चोट करता है

मै निरा विलायती स्पज हूँ
मेरे प्राण रिक्त और छिद्रमय
उनमे कहाँ है रस,
उनमे कहाँ है स्रोत?
मैं तो मात्र बाहर के जीवन को सोखकर
फिर उगल देता हूँ
सो भी तब जब कोई आके निचोडे मुझे!
शक्तिहीन
व्यक्तिहीन
गतिहीन व्यापार
इसमे नही है कोई आत्मदान
इसमे नही है मेरे अहम् का अवसान
तप और साधना से कोसो दूर
मैं मशीन-युग का हूँ मात्र एक छोटा यत्र।

कही यह व्यग्य हास्य रस के आश्रय अपनी छटा दिखाता है, कही घृणा (बीभत्स रस) के अन्तर्गत प्रकट हुआ हे। सामाजिक बुराइयो, युग की विडम्बनाओ के अतिरिक्त हमारे इन नये कवियो ने कही-कही भारत सरकार तथा राजनीति का भी उपहास किया है। नागार्जुन की निम्न पक्तियो मे हास्य-मिश्रित व्यग्य बडा सरस है

पॉच साल कम खाओ भैया, गम खाओ दस-पद्रह साल,
अपने ही हाथो से झोको यो अपनी ऑखो मे धूल,
आजादी की कलियाँ फूटी, पॉच साल मे होगे फूल।

नई कविता का नया भाव-बोध यही दिखाई :ता हे। हमारे साथी-मित्र डा० रामप्रसाद मिश्र का एक कविता-सग्रह 'बौद्धिक रस' नाम से अभी-अभी प्रकाशित हुआ है। यद्यपि इस सग्रह की अधिकाश कविताएँ बौद्धिक वक्तव्य-मात्र होने से नीरस है, किन्तु जिन कुछ कविताओ मे मार्मिक व्यग्य पाया जाता है, वे ही मिश्र जी की कुछ ढग की श्रेष्ठ कविताएँ कही जा सकती है। 'एक स्त्री' कविता मे तुच्छ मानव-वृत्ति पर सुन्दर व्यग्य है। "एक स्त्री—युवती, हसीन, शोख, आती है मेरे घर रोज, और मैं इकला। उसे देख मेरा मन खिल उठता, मुख मौन तोड देता—'प्रिये!' और आँखे कहती—स्वर्ग की देवी, रानी!" किन्तु 'एक स्त्री—युवती, हसीन, शोख, आती है पडोसी के घर कभी-कभी। उसे देख मेरा मन धू-धू कर जल उठता, ऑखे दुगनी होती लाल-लाल, हृदय घृणा से भरता, मुख बडबडा पडता—'कुलटा, बदचलन, नीच!" कैसा मार्मिक व्यग्य है! पुरुष-मनोवृत्ति का खोखलापन कितना उभर कर आया है! यदि इस कविता मे प :ौसी को आवारा न कहा गया होता तो व्यग्य अधिक सुरक्षित रहता। इसी प्रकार 'सुन रहे थे ईश्वर' कविता मे मानवीय स्वार्थों की टक्कर का सुन्दर प्रकाशन हुआ है। मानव-मनोवृत्तियो के ये सजीव चित्र हे। क्या रस-शास्त्र को ये अग्राह्य हो सकते हे? कदापि नही। वास्तव मे इन कविताओ का महत्त्व-मूल्य रस-सिद्धात ही जॉच-ऑक सकता है। इस नये भाव-बोध के ही कारण नई कविता पिछले युग से अलग अपनी विशिष्ट सत्ता प्रमाणित करती हे।

अज्ञेय का 'घृणा का गान' बीभत्स रस से परिपूर्ण सुन्दर गान हे। इसमे कवि ने छुआछूत, भेदभाव, ऊँच-नीच मानने वालो, शोषको, धनियो, स्वार्थी-लोलुप सत्ताधारियो के प्रति तीव्र घृणा जगाई है

तुम जो बडे-बडे गद्दो पर ऊँची दूकानो मे,
उन्हे कोसते हो जो भूखे मरते है खानो मे,
तुम, जो रक्त चूस ठठरी को देते हो जलदान—
सुनो, तुम्हे ललकार रहा हूँ, सुनो घृणा का गान! (इत्यलम्)

अज्ञेय जी की इस कविता मे यद्यपि कला-शिल्प सहज ही है तथापि

भावमयता के कारण यह कविता उनकी बहुत-सी अन्य कविताओ की तुलना मे दीर्घ-जीवी रहेगी। भवानीप्रसाद मिश्र की 'गीत-फरोश' कविता की जो कवि-सम्मेलनो मे फरमाइश की जाती है, उसका रहस्य भी यही है कि इस कविता मे साहित्यकार की विवश करुणा और समाज के उपेक्षा-भाव का व्यग्यपूर्ण मार्मिक चित्रण हुआ है 'जी, लोगो ने तो बेच दिये ईमान', तथा 'जी, गीत जन्म का लिखूँ, मरण का लिखूँ, जी, गीत जीत का लिखूँ, शरण का लिखूँ', आदि पक्तियो की व्यग्यात्मक ध्वनि बहुत मार्मिक है ।

नई कविता के भाव-शिल्पी श्री गिरिजाकुमार माथुर की कई कविताएँ अत्यन्त सरस एव मार्मिक है। 'दियाधरी' कविता मे इतिहास के सदर्भ मे मानवीय सवेदना को ही जगाया गया है। निम्न पक्तियो मे मार्मिक जीवन-व्यग्य है—

इतर गध की लपट आज डागर ढोरो की धूल है
मन भरने को याद रही, जीवन पर उगा बबूल है।
× × ×
चिथडो मे अनगिन विक्रम फिरते बैलो को थामने।

(शिला पख चमकीले)

'माटी और मेघ' कविता मे आज के अहवादी सहारक मानव के प्रति घृणा जगाई गई है और शातिदूत, जीवन-निर्माता मानव से उसकी तुलना करते हुए उत्साह, परोपकार आदि उदार वृत्तियो को जगाया गया है

इसान मगर धरती को खाना चाह रहा
जीवन-डोरो मे आग लगाना चाह रहा
मिट्टी की सूक्ष्म शक्ति का लेकर अग्नि-बीज
वह पृथ्वी को अणु-धूम बनाना चाह रहा
× × ×
जो बीज धरा ने दिया, न वह मुरझा सकता
माटी का तेज नही माटी को खा सकता
× × ×
इसान और भी है जो मिट्टी से रस ले
नूतन समाज की प्रतिमा रचते जाते है
इसान और भी है जो मिट्टी से उठकर
बनकर भविष्य के मेघ बरसते जाते है।

माथुर जी की कई कविताओ मे प्रकृति का भी सुन्दर सश्लिष्ट चित्रण हुआ है। कही-कही उपमान-योजना भी अनूठी होती है

चितकबरे बादल ढकी चादनी चमक रही
ज्यो घिसे आइने मे मुख की छवि खडित हो।

'अक्स जो नही उतरा' नामक कविता मे जीवन की कल्पनाओ के वास्तविकता न बन पाने की खिन्नता का भाव है। प्रयत्न करने पर भी जब मनुष्य का अह टूक-टूक हो जाता है, तो उस खिन्नता को कवि ने रूपायित किया है। अतिम चार पक्तियो मे जीवन का सत्य साकार हो उठा है, सदेह नही। पर इस कविता मे भी यदि असफलताओ का करुणापूर्ण बिम्बात्मक चित्रण होता तो वेदना का भाव और भी घनीभूत हो जाता। इसके अभाव मे यह कविता अधिक मार्मिक नही बन पाई है।

यहाँ नई कविता के भाव-बोध पर विस्तृत प्रकाश डालना हमारा उद्देश्य नही है। हम तो केवल यही निवेदन करना चाहते हैं कि सरस नई कविताएँ ही अपना साहित्यिक महत्त्व सुरक्षित रख सकेगी और ये थोडी-बहुत भाव-सवेदनापूर्ण रचनाएँ ही नई कविता की शक्ति है।

नई कविता की दुर्बलता—नीरसता तथा दुरूहता

जैसा कि पहले निवेदन किया जा चुका है, नई कविता अधिकाश मात्रा मे भाव-सवेदना-शून्य है। अधिक रचनाएँ ऐसी है जो भावाभासयुक्त काव्य ही कही जा सकती है। नयी कविता मे अधिकतर तथ्यो या बौद्धिक अनुभूतियो के वक्तव्य-मात्र प्रकट हुए है। उनमे रागात्मक सस्पर्श बहुत क्षीण होता है। नई कविता की एक बडी दुर्बलता राग-तत्त्व की कमी ही है। उदाहरण के लिए गिरिजाकुमार माथुर की ही 'क्रानिक मरीज' कविता लीजिए। इसमे सीमित दृष्टि वाले भाग्यवादी कर्महीन मनुष्य-जीवन का चित्रण है। पर यह न तो घृणा का विषय बन सका है, और न सवेदनापूर्ण करुणा का, न इसमे व्यग्य ही उभर सका है, न हास्य। "अपने से अच्छो को देखकर तरसता है। अपने को, औरो को, किस्मत को, कर्मों को कोसता कलपता है। तुरन्त मजे के लिए तुच्छ क्षुद्र बातो पर नियत बिगाडता है। ओछे बहाने कर अपने ईमान का दिवाला निकालता है।" (क्षमा करे, हमने कविता की पक्तियो को गद्य-रूप मे रख दिया है, क्योकि वास्तव मे अधिकाश ऐसी कविताएँ गद्यात्मक ही है) आदि पक्तियो मे वर्णन इतिवृत्तात्मक ही है। जिस इतिवृत्तात्मकता का दोष द्विवेदी काल की आरभिक कविताओ पर लगा था, उसी से क्या ये नई कविताएँ ग्रस्त नही है? अतर केवल इतना है कि इन कविताओ मे कही-कही सुन्दर बिम्ब या उपमान-योजना दिखाई दे जाती है। इस कविता मे भी बान की मामूली खाट-सी घिरी-बधी दुनिया है' तथा 'जीवन अपाहिज है' आदि उपमान सुन्दर है। किन्तु बिना राग-तत्त्व की मार्मिकता के केवल उपमान या बिम्ब-योजना से क्या होता है?

आज के अधिकाश कवि भारतभूषण अग्रवाल के शब्दो मे यह दावा करते हैं—"रचनाएँ महान् है, ऐसा मेरा दावा नही है। वे महान् हो भी नही सकती थी, क्योकि वे एक साधारण मध्यवर्गीय मन की सच्ची तस्वीरे है। पर उनमे—उनमे से प्रत्येक कविता मे—मध्यवर्गीय मन की सच्ची छटपटाहट आपको मिलेगी, इतना दावा

मै जरूर कर रहा हूँ। अपने से दूर, ऊपर, परोक्ष की शक्तियो से विवशता, अपनी सीमित शक्ति की व्यर्थता के प्रति खीझ, और अपने छोटे-से-छोटे सपने को भी पूरा न कर सकने की झुझलाहट—इन कविताओ मे ये तत्त्व आपको निश्चय मिलेगे। और इन सब के साथ-ही-साथ एक गुण आपको और मिलेगा, जिसका मुझे विशेष रूप से गर्व है। इनमे आपको मध्यवर्गीय मन की क्षुद्रता, स्वार्थपरता और अदूरदर्शिता पर निर्मम व्यग्य भी मिलेगा।" ('ओ अप्रस्तुत मन !' सग्रह का वक्तव्य)। इस सम्बन्ध मे हमारा निवेदन है कि इन कवियो की यह 'सच्ची छटपटाहट, विवशता या झुझलाहट' जहाँ खीझ-झुझलाहट-मात्र बनकर रह गई है, सहानुभूति, करुणा या घृणा आदि उदात्त भावो को नही जगाती, वहाँ कवि की खीझादि चाहे कितनी ही ईमानदार अनुभूति रही हो, ऐसी निरर्थक व्यक्तिगत अनुभूति-मात्र ही कही जायगी, जैसे हम किसी बच्चे को झुझलाते या खीझते देखे और उसकी खीझ-झुझलाहट का कोई सार्थक कारण और स्वरूप अनुभूति मे न आये। भारत भूषण अग्रवाल के ही इस सग्रह की कई कविताएँ ऐसी ही है, जैसे 'अन्तर्मुक्ति', 'हृदय की गुहा', 'धूल भरी आधी' आदि। कवि अपने मन मे चाहे कितना ही क्षुब्ध-रुष्ट या व्यथित रहा हो, जब तक उसकी व्यथा-झुझलाहट का स्पृहणीय कारुणिक या निन्दनीय रूप पाठक के सम्मुख उपस्थित नही होगा, अर्थात् उसकी मानसिक हलचल उदात्त अनुभूति न जगायगी, तब तक उसकी कविता सार्थक नही बन सकती। यह स्थिति छायावाद की भी बहुत-सी वायवी रचनाओ मे थी, जिसके कारण छायावाद की वे नीरस रचनाएँ काल की कसौटी पर नही ठहर सकी। प्रगतिवाद की भी अनेक विचार-प्रधान या प्रचारात्मक कविताओ मे भाव-बोध का अभाव था। इसीलिए उनका साहित्यिक मूल्य कुछ न रहा। भारत भूषण अग्रवाल की ही 'जागते रहो' सग्रह की अनेक प्रगतिवादी प्रचारात्मक रचनाए सार्थक नही है। 'लाल निशान', 'खोलो सैकिंड फ्रट' आदि कविताओ की तुलना मे 'जागते रहो' सग्रह की ही 'सुखिया उठी' रचना कितनी मार्मिक है ! प्रगतिवाद की ऐसी ही सरस (रसात्मक) रचनाएँ आज सार्थक रह गई है। इसी प्रकार 'नयी कविता' की अनेक ऐसी ही नीरस और दुरूह रचनाएँ विस्मृति के गर्भ मे चली जायेगी और रह जायेंगी केवल सरस अनुभूतिपूर्ण (रसात्मक) कविताएँ। श्री भारत भूषण अग्रवाल ने अपने उपर्युक्त वक्तव्य मे जिस व्यग्य पर गर्व किया है, उस पर निस्सदेह हमे भी गर्व है और हम समझते है कि नयी कविता की सबसे बडी शक्ति यही व्यग्य है, जो कही बीभत्स रस के आश्रय प्रकट हुआ है, कही हास्य रस के अन्तर्गत, तो कोई घृणा, करुणा, हास्यादि के मिश्रण मे घुला हुआ पाया जाता है।

श्री भारत भूषण अग्रवाल ने अपने वक्तव्य मे छायावाद, प्रगतिवाद और यहाँ तक कि 'नयी कविता के आचार्य' की व्यर्थता को सार्थक प्रमाणित करने की प्रवृत्ति का विरोध करते हुए कहा है, "मेरी कविता किसी वाद, दल या फैशन की अनुवर्तिनी

नही है। शुरू मे आस-पास के वातावरण से और तत्कालीन काव्य-रचना से प्रभावित होकर, मैंने भी प्रणय-गीत लिखे है (छवि के बधन) और बाद मे परिस्थितियो के अनुकूल सामाजिक चेतना से भी प्रभावित होकर सघर्ष की कविताये भी (जागते रहो !)। पर सामाजिक चेतना की वह धारा जब धीरे-धीरे सकुचित, अस्वस्थ राजनीतिक प्रचार-माध्यम-रूप लेने लगी, और जब छायावादी आदर्शवाद के स्थान पर एक दूसरे प्रकार की स्वप्नशील आदर्शवादिता को जन्म दिया जाने लगा, तो मेरे कवि को उसमे सच्चाई के दर्शन नही हो सके, और उन सात कवियो मे (तार-सप्तक) मै भी एक था, जिन्होने सिद्धातवाद के स्थान पर स्वय जीवन मे सत्यान्वेषण का व्रत लिया था। आगे चलकर जब इन सात कवियो मे से एक ने तत्कालीन परिस्थितियो का और प्रतिश्रुत आलोचको की मूर्खता का लाभ उठाकर व्यक्तिवादी अहम्मन्यता की प्रतिष्ठा के हेतु अर्द्ध-सत्यो पर आधारित एक नए निकाय की स्थापना कर भक्तो की सेना इकट्ठी करनी चाही, तब मुझे उनसे भी अलग होकर 'मुक्तिमार्ग' की खोज जारी रखना जरूरी हो गया।" ('ओ अप्रस्तुत मन !' सग्रह का वक्तव्य)। यद्यपि श्री भारतभूषण अग्रवाल के कथन का अधिकाश सत्य है और 'नई कविता' के इतिहास पर यह एक निर्मम व्यग्य है, तथापि एक निवेदन अग्रवाल जी से भी हम करना चाहते है। वह यह कि जैसे उन्होने अपनी तथा अन्य प्रगतिवादी रचनाओ के असत्य का अनुभव करके वह प्रचारात्मक निरर्थक प्रवृत्ति छोड दी, वैसे ही वह अपनी नयी कविता मे अधूरे भाव-बोध प्रकाशित करने की बजाय उदात्त भावानुभूतियो को प्रस्तुत करे, जैसी उनकी ही कुछ व्यग्य-प्रधान भाव-पूर्ण रचनाओ मे विद्यमान है। नयी कविता के फैशन का प्रभाव उन पर निश्चित ही दिखाई देता है, यद्यपि उन्होने इसका निषेध किया है। भला कोरे प्रतीक अपना लेने से या कोरे बिम्ब-विधान से कविता कैसे श्रेष्ठ बन जायगी ? 'धूलभरी आधी' तो सबके जीवन मे आती है, और कौन वर्षा और हरियाली की बाँछा नही करता ? किन्तु आधी के कारण और स्वरूप का बोध कराये बिना वह पाठक की सवेदना कैसे जगा सकती है ? "मैं दुखी हूँ, मै दुखी हूँ, घुट रहा हूँ, छटपटा रहा हूँ"—ऐसा चिल्लाने-मात्र से क्या होता है ? इससे तो 'चुनौती' अच्छी जिसमे मन की ऊर्जा और उत्साह-भावना तो व्यक्त हुई है।

बिम्ब-योजना को ही 'आज काव्य के मूल्याकन का प्रतिमान' मानने वाले केदारनाथ सिह की 'टूटने दो' कविता मे बिम्बो या प्रतीको का प्रयोग होते हुए भी वक्तव्य-मात्र है "अगर रोती है मेरे तटो पर तुम्हारी लहरे, अगर जलते है मेरी बाहो मे तुम्हारे धान, अगर बद है मेरी मुट्ठी मे तुम्हारी नदियाँ, अगर कैद है मेरी छाती मे तुम्हारे गान, तो ओ रे भाई, ओ रे भाई, मुझे जग-लगे लोहे की तरह टूटने दो, टूटने दो, टूटने दो।"

'आगन के पार द्वार' नई कविता के आचार्य बनने का फल अज्ञेय जी ने 'आगन के पार द्वार' पर १९६५ ई० का साहित्य अकादमी-पुरस्कार प्राप्त कर पा ही लिया। पुरस्कार के योग्य अज्ञेय अवश्य थे, किन्तु कवि-रूप मे शायद इतना नही। और इस सग्रह पर तो कदापि नही! उनका कहानीकार बहुत पहले पुरस्कृत हो जाना चाहिए था। मै सोचता हूँ, क्या उसी का बदला अज्ञेय ने काव्य का प्रेत बनकर तो नही लिया है? इस सग्रह की अधिकाश कविताएँ अस्पष्ट, दुर्बोध तथ्यो का पहेली-बुझावल-सा ही प्रतीत होती है। अज्ञेय की कहानियो मे जो मानवीय सवेदनाये है, वे कविता मे नही। 'आगन के पार द्वार' सग्रह की पहली कविता 'सरस्वती पुत्र' है जिसमे न कथ्य स्पष्ट है, न व्यग्य ही उभर सका। दूसरी कविता 'बना दे चितेरे' फिर भी कुछ स्पष्ट और कलात्मक है, पर इसमे भी जिजीविषा और मानवीय ऊर्जा का वक्तव्य-सा ही प्रकट होकर रह गया है, साहस, सघर्ष और जीवन की मार्मिक अनुभूतियाँ होती तो कविता और बढ़िया बन सकती थी। 'पास और दूर' मे जीवन की उपलब्धि का वाक् जाल मात्र है। घण्टे तक सोचते रहिये, तब कही किसी एक-आध कविता का कथ्य कुछ समझ मे आ जाएं तो धन्य मानिये। ऐसा है यह नयी कविता का प्रेत! 'पहचान' कविता दो वाक्यो की कविता है—"तुम वही थी किन्तु ढलती धूप का कुछ खेल था—ढलती उमर के दाग उसने धो दिये थे। भूल थी पर बन गई पहचान—मैं भी स्मरण से नहला आया।" वाह क्या कहने है कल्पना के! ढलती धूप ने ढलती उमर के दाग धो दिए और स्मरण से नहला दिया! कल्पना का यह अधूरा और अस्पष्ट चित्र ही है। 'झील का किनारा' एक सन्नाटे मे डाल देने वाला 'सहसा छाये सन्नाटे का एक क्षण है, जिसमे अज्ञेय जी ने जो अनुभूति पाई उसके जमीन-आसमान के कलाबे मिलाये हुए है, न कही अनुभूति है, न उसके सिर-पैर! 'परायी राहे', 'पलको का कपना,' 'असाध्य वीणा' आदि दो-एक कविताओ मे फिर भी कुछ सुन्दर भाव-चित्र प्रस्तुत हुए है। ऐसी कविताओ को पढने से शमशेर बहादुर सिंह की ये पक्तियाँ याद आ जाती है "शमशेर साहब अव्वल तो शागिर्द निराला के है। हिन्दी कविता मे निराला और पत के बाद कुछ भी 'नया' जिसे कहे, नही आया है, सिवाय कुछ थोडा-सा अज्ञेय के यहाँ। और दूसरे कवियो के अदर जो कुछ 'नया' मालूम होता है, वह या तो अधकचरा है, या साहब 'विलायती बैगन' है। (मुझे माफ किया जाये आखिर मैं भी इसी मुजरे मे आ जाता हूँ।)—वह असल मे निराला और पत की ही टेकनीक का जरा खास ढग से 'निखारा' और 'आगे बढाया हुआ' रूप है।"

(निकष, जनवरी १९५७, पृ० ३४९)

निस्सदेह नई कविताओं मे जो कुछ भावपूर्ण कविताएँ इधर-उधर मिल जाती हैं, वे निराला, पत आदि की परपरा को ही आगे बढाती है और सच तो यह है कि कविता की शक्ति भी ऐसी ही रचनाएँ हैं, जिनमे भाव-सवेदनाएँ हैं—अनुभूतियों की

निश्छलता और सरलता है। ये भाव-रसपूर्ण कविताएँ ही नये कवियो और नई कविता को जीवित रखने वाली सिद्ध होगी, न कि नीरस, अस्पष्ट, अटपटी कविताएँ।

जैसा कि पहले भी निवेदन किया जा चुका है कि अधिकाश 'नयी कविता' मे राग-तत्त्व-शून्य अनुभूतियो को प्रतीको-बिम्बो, नये-नये उपमानो के प्रयोग-द्वारा व्यक्त करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। बहुधा प्रतीक या बिम्ब भी अस्पष्ट और दुरूह रह जाते है। कवि अपने मन मे कुछ-का-कुछ प्रतीक सोच लेता है और जब तक आप प्रतीक की कुजी न पा ले, कविता का कुछ भी अर्थ नही खुल सकता—चाहे अपना कितना ही सिर खपाते रहो। 'ज्ञानोदय', अगस्त, '६२ मे प्रकाशित डा० शभुनाथ सिंह की 'वह एक नीला समुद्र' था शीर्षक कविता देखिए क्या मजाल जो कुछ अर्थ समझ मे आ जाए—

वह एक नीला समुद्र था, मेरे बिस्तर पर लहराता हुआ
जिसके तल मे—असख्य जलचरो की अस्थियाँ
दल दल मे धसी थी
और सतह पर थी एक धूप-छाँहीं फिसलन।
सहसा दो चाँदी की छरहरी मछलियाँ उछाल दी गईं, उस ओर
जिधर से एक भयानक युद्धपोत अभी-अभी गुजरा था
लहरो की छाती पर एक विराट हलचल छोडता हुआ।

सारी कविता पहेली बुझावल-सा बनकर रह गई है। ऐसे कोरे वैयक्तिक प्रतीको से कविता का भला नही हो सकता। इसी प्रकार 'ज्ञानोदय', मई १९६३ मे प्रकाशित केदारनाथ सिह की 'भीड के विरुद्ध एक शब्द' कविता अस्पष्ट और दुरूह बिम्बो की कहानी-मात्र है। ऐसे सैकडो उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते है। ऐसी प्रयोगशील कविता हिन्दी रोमाटिक छायावादी तथा प्रगतिवादी कविता की प्रतिक्रिया-स्वरूप अद्भूत बताई जाती है, पर मुझे लगता है कि यह एक फैशन के बतौर ही चल निकली है। कवियो ने असाधारणता और गुह्यता का बौद्धिक आवरण लपेटना फैशन बना लिया है। ऐसी गुह्य अभिव्यक्ति करते समय ये कवि अपनी गुह्य हृदय-कोठरियो की चाबी अपने पास ही बद रखते है जिससे पाठक को खाक समझ नही पडता। नयी कविता इसीलिए अपने पाठक भी नही बना सकी है। कही ये कवि साधारण-असाधारण ढग से बौद्धिक विश्लेषण करते हुए बौद्धिक नजर आते है, कही बिम्ब प्रस्तुत करना ही लक्ष्य बनाते है, कही वक्तव्य-मात्र देते है, कही रोमानी दर्शन प्रस्तुत करते है। तात्पर्य यह कि 'नयी कविता' के कठघरे मे रखी गई कविता का अभी तक भी कोई निश्चित स्वरूप और स्थायी भाव-बोध नही बन पाया है। इसका मूल कारण है इन कवियो का भाव-रसानुभूति की धुरि से विच्छिन्न हो जाना—साधारणीकरण या प्रेषणीयता का उपहास उडाना! काश! ये उदात्त भाव-रसानुभूति का महत्त्व समझ पाते!

: ६ :

प्रयोगवाद और नई कविता की परंपरा

हिन्दी काव्य मे प्रयोगवाद की परंपरा :

यो तो हर युग मे हर नवचेता कवि जो नया भाव-बोध जगाता है या काव्य-रूप, भाषा-छन्द-शैली के नये-नये रूपो का प्रयोग और निर्माण करता है, प्रयोगशील होता ही है और इस दृष्टि से कालिदास, कबीर, केशव, श्रीधर पाठक, प्रसाद, पत आदि सभी कवि अपने-अपने युग और काव्य-क्षेत्र मे प्रयोगशील कहे जा सकते है, पर आधुनिक युग मे प्रगतिवाद की तरह प्रयोगवाद भी एक विशिष्ट सदर्भ और आधुनिक परिवेश रखता है। सन् १९४० के बाद हिन्दी कविता मे नये दृष्टिकोण, नई साहित्यिक चेतना और नये काव्य की माँग बढी। टी० एस० इलियट, एजरा पाउण्ड और फ्रायड कवियो के आदर्श बन रहे थे। एक ओर तो काव्य को रोजमर्रा की जिन्दगी के निकट लाया जा रहा था, दूसरी ओर उसमे परम्परागत रूप-विधान और परपरागत शब्द-छन्द-शैली के स्थान पर नये बिम्ब-विधान, नई प्रतीक-योजना, नई उपमान-योजना, नये छन्द-बध, नये शब्द-अर्थ आदि नये-नये प्रयोगो की ललक बढी। छायावादी वीणा अपनी सम्पूर्ण रागिनियो की अलौकिक स्वर-लहरी प्रवाहित करके मूर्च्छना की स्थिति को प्राप्त हो गई थी और सामाजिक चेतना प्रगतिवाद, गाधीवाद, राष्ट्रवाद आदि विविध क्षेत्रो मे बटी हुई टकराहट उत्पन्न कर रही थी। समन्वय की सामाजिक भाव-भूमि नही बन पाई थी। उलझनो और अनिश्चय की स्थिति मे कवियो ने विविध प्रकार के प्रयोगो की राह अपनाई।

यूरोप मे द्वितीय विश्वयुद्ध की विभीषिका ने वहाँ के कवियो, कलाकारो और कथाकारो मे घोर अनास्था भर दी थी। उनकी रचनाएँ अनास्थाजनित कुण्ठा से ओतप्रोत हो रही थी। यद्यपि भारत मे विश्वयुद्ध की विभीषिका का आतक विशेष नही फैला था, तथापि परतत्रता, बेकारी, साधनहीनता, जीवन की निरुपाय अवस्था हमारे कवि मानस को भी वैयक्तिक कुण्ठाओ का घोसला बना रही थी। उनकी वाणी से भी अनास्था, विद्रोह, विक्षोभ और कुण्ठा के नये अटपटे स्वर फूटने लगे।

हिन्दी मे प्रयोगवादी कविता का जो आरम्भ १९४३ ई० मे प्रकाशित 'तार-सप्तक' नामक काव्य-सग्रह से माना जाता है, उसमे प्रयोगवादियो ने तो निराला को सम्मिलित नही किया, पर प्रयोगवादी सभी कवियो ने निराला को अपना आदि गुरु

माना है। प्रयोगवाद को चलाने का श्रेय अज्ञेय जी ने मुफ्त मे ही पा लिया। वस्तुत प्रेस और प्रचारवाद के कारण 'सप्तक' के कवियो ने जो नाम कमा लिया और प्रयोगवाद के आचार्य बने अज्ञेय ने जो नेतृत्व जमाया, वह सब श्रेय निराला को मिलना चाहिए था। प्रयोगवाद की इस दुदुभी मे अपनी सर्वथा उपेक्षा निराला को कितनी खली होगी!

'तार सप्तक' के सात कवि थे—श्री गजानन माधव मुक्तिबोध, नेमिचन्द जैन, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, गिरिजाकुमार माथुर, डा० रामविलास शर्मा और स्वय अज्ञेय। सन् १९५१ मे प्रयोगवाद के अन्य सात कवियो का 'दूसरा सप्तक' प्रकाशित हुआ जिसमे भवानी प्रसाद मिश्र, शकुन्त माथुर, शमशेर बहादुर सिह, नरेश मेहता, रघुवीर सहाय, धर्मवीर भारती और हरिनारायण व्यास को सम्मिलित किया गया। अज्ञेय ने 'सप्तको' के अतिरिक्त 'प्रतीक' नामक पत्रिका का सपादन करके भी प्रयोगवादी कविताओ का प्रचार किया। 'दृष्टिकोण', 'कल्पना', 'राष्ट्रवाणी', 'कविता', 'धर्मयुग', 'ज्ञानोदय' आदि पत्र-पत्रिकाओ मे भी प्रयोगवादी कविताएँ छपती रही। सन् १९५४ से डा० जगदीश गुप्त ने 'नई कविता' के नाम से प्रयोगवादी कविताओ का एक वार्षिक सग्रह-पत्र निकालना आरम्भ किया। 'निकष', 'विवधा' आदि और भी कई सग्रह निकले जिनसे प्रयोगवादी कविता और नव-लेखन को प्रश्रय मिला। शनै शनै प्रयोगवाद नई कविता के रूप मे जमने लगा और उसका नेतृत्व अज्ञेय के हाथो से फिसलकर डा० जगदीश गुप्त, लक्ष्मीकात वर्मा आदि के हाथो मे चला गया। 'तार-सप्तक' के द्वितीय सस्करण मे सकलित कवियो ने अपने-अपने वक्तव्य दिये है और प्राय सबने अज्ञेय का नेतृत्व अस्वीकार करते हुए अज्ञेय द्वारा की गई प्रयोगवाद की व्याख्या और उद्देश्य का खण्डन किया है। 'तीसरा सप्तक' मे अन्य सात कवियो का भानमती का कुनबा जोडा गया। ये सात कवि है—प्रयाग नारायण त्रिपाठी, कीर्ति चौधरी, मदन वात्स्यायन, केदारनाथ सिंह, कुवर नारायण, विजयदेव नारायण साही तथा सर्वेश्वरदयाल सक्सेना।

वर्तमान युग मे दुष्यत कुमार, लक्ष्मीकात वर्मा, बालकृष्ण राव, अजित कुमार, कैलाश वाजपेयी आदि और भी अनेक नये कवियो ने नई कविता को समृद्ध करने मे योग दिया है। सच तो यह है कि प्रयोगवाद और नई कविता अभी तक भी अपनी कोई विशिष्ट स्थायी प्रवृत्तियाँ नही बना पाई है। आधुनिक भाव-बोध की जो बात नई कविता और नये कवियो के बारे मे कही जाती है, वह भी कोई निश्चित तथा स्थायी प्रवृत्ति प्रतीत नही होती।

'सप्तक' मे प्रयोगशील नये कवियो को प्रस्तुत करते हुए अज्ञेय जी ने लिखा था कि आज का कवि अपनी उलझी हुई सवेदनाओ को, जिनके मूल मे अनेक प्रकार

की यौन-वर्जनाएँ रहा करती है, प्रकाशित करने के लिये अधूरे वाक्याशो, सीधी-टेढी लकीरो, उलटे-सीधे मुद्रणो के माध्यम से अपने काव्य मे प्रेषणीयता लाने का जो उपक्रम कर रहा है, वही उसकी प्रयोगशीलता है। 'आत्मनेपद' नामक अपने काव्य-सग्रह मे भी अज्ञेय ने लिखा है प्रयोग सभी कालो के कवियो ने किये हे, यद्यपि किसी एक काल मे किसी विशेष दिशा मे प्रयोग करने की प्रवृत्ति होना स्वाभाविक ही है। किन्तु कवि क्रमश अनुभव करता गया है कि जिन क्षेत्रो मे प्रयोग हुए हे, उनसे आगे बढकर अब उन क्षेत्रो का अन्वेषण करना चाहिए जिन्हे अभी नही छुआ गया है या जिनको अज्ञेय मान लिया गया है। भाषा को अपर्याप्त पाकर विराम-सकेतो से अको और सीधी-तिरछी लकीरो से, छोटे-बडे टाइप से, सीधे या उलटे अक्षरो से, लोगो और स्थानो के नामो से, अधूरे वाक्यो से, सभी प्रकार के इतर साधनो से कवि उद्योग करने लगा कि अपनी उलझी हुई सवेदना की दृष्टि को पाठको तक अक्षुण्ण पहुचा सके।"

प्रयोगवाद के नाम पर कुछ कवियो ने अपनी उलझी हुई सवेदनाओ को ऐसी अटपटी, अधूरी भाषा मे मनमाने प्रतीको और बिम्बो के रूप मे प्रकट किया कि प्रयोग के लिए प्रयोग करना ही उनका लक्ष्य बन गया। अज्ञेय की सारी हडकम्पी की अब कलई खुल चुकी है। जिन कवियो को, आत्मस्थापन के साथ-साथ अज्ञेय ने उछाला था, वे ही उन्हे अस्वीकार (disown) कर चुके है।

निराला की प्रयोगशीलता अब समय आ गया है कि हम अपनी भूल सुधारे। यदि हिन्दी मे प्रयोगशील या प्रयोगवादी कविता की कोई परम्परा है तो वह निराला से मानी जानी चाहिए। निराला ही उसके वास्तविक प्रवर्त्तक है। प्रयोगशीलता निराला-काव्य का प्रखर लक्षण है। निराला ने प्रयोग के लिए प्रयोग नही किये। एक सफल प्रयोगशील कवि वही माना जाएगा जो विषय, भाव, भाषा, छद या शैली के क्षेत्र मे ऐसा नया, अछूता, असाधारण प्रयोग करेगा, जो चौका देने वाला ही नही, अपितु प्रभावी भी हो अर्थात् पाठक की भावानुभूति और सवेदनाओ को अद्भुत रूप से जगा सकने वाला हो। इस दृष्टि से निराला न केवल काल-क्रम या ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी कविता के प्रथम प्रयोगशील कवि है, अपितु आगे के सभी प्रयोगशील या प्रयोग-वादी कवियो की तुलना मे सर्वश्रेष्ठ प्रयोगवादी कवि ठहरते है। निराला की तुलना में अभी तक भी अज्ञेय, प्रभाकर माचवे, भारत भूषण अग्रवाल, नामवर सिंह आदि सप्तको के कवि या नकेनवादी कवि बौने (Pigmy) ही दिखाई देते है।

प्रयोगवादी कवियो मे निराला की सबसे बडी विशेषता यह है कि जहाँ आगे के कवियों ने अधिकाशत भाषा-शैली या रूप-विधान के प्रयोगो तक ही अपने को सीमित रखा और विषय-भाव-पक्ष की अवहेलना की, वहाँ निराला का प्रयोग-क्षेत्र बहुत विस्तृत है। भाव, विषय, भाषा, छद, गीत, सगीत आदि सभी क्षेत्रो मे निराला

ने सुन्दर प्रयोग किये और कही भी भावपक्ष की अवहेलना नही की । भाषा के विविध प्रयोगो की क्षमता भी निराला ने दिखाई । छन्द-बन्ध की दृष्टि से तो निराला जी प्रसिद्ध विद्रोही और प्रयोगशील है ही । हिन्दी मे उन्होने ही मुक्त छन्द का ऐसा प्रवर्त्तन किया कि आज तक हिन्दी कविता उसी लकीर को पीट रही है । वह छन्दो से सर्वथा मुक्त हो गद्यवत् हो गई है । अज्ञेय आदि ने जो अधूरे वाक्यो, छोटी-बडी पक्तियो, विराम-सकेतो-सीधी-तिरछी लकीरो का फैशन अपनाया, उनका स्रोत निराला के सिवा कहाँ था ? आज की कविता को गद्यवत् बना देने का श्रेय या दोष निराला का ही है । निराला ने कडे-से-कडे छन्द बध मे भी सुन्दर कविता की ('तुलसीदास' का छन्द-बध ऐसा ही है) और मुक्त छन्द मे भी उनकी 'जूही की कली' की टक्कर का बध मिलना कठिन है तथा 'नये पत्ते' की अनेक गद्यवत् कविताएँ छन्द की सर्वथा मुक्ति की परिचायक है । उन्होने तुकात, अतुकात, मध्यतुक, अन्त्यानुप्रास सभी मे रचना की । यही नही, फारसी की गजलो और बहरो का भी 'बेला' मे सफल प्रयोग किया ।

निराला की 'कुकुरमुत्ता' कविता तो एक पूरा प्रयोग ही है । उसका प्रतीक-प्रयोग असाधारण प्रतिभा का ही कार्य था । क्या विषय, क्या व्यग्य की विलक्षणता, क्या भाषा-शैली सब दृष्टि से 'कुकुरमुत्ता' निराला का अद्‌भुत प्रयोग है । स्थान-स्थान पर व्यग्यपूर्ण नई अप्रस्तुत-योजना है । सर्वथा अछूते और नगण्य विषयो को सर्वप्रथम निराला ने ही अपनाया । 'दो टूक कलेजे के करता, पछताता पथ पर आता' भिक्षुक, पत्थर तोडती मजदूरिन निराला के सिवा किसकी दृष्टि मे आ सकते थे ? 'अनामिका' की 'वनवेला' कविता मे निराला जी ने चेतना-प्रवाह (Stream of consciousness) के रूप मे ढोगी नेताओ, पूजीपतियो, राजाओ, राजपुत्रो, सम्पादको और भाडे के कवियो तथा थोथी साहित्यिक सस्थाओ पर जो व्यग्य-बौछार की है, वह निराला की अद्‌भुत प्रयोगशीलता की परिचायक है । 'कैलाश मे शरत्' कविता मे निराला जी ने दिवा-स्वप्न (Dream Phantasy) का सुन्दर प्रयोग किया है । कवि ने स्वामी विवेकानन्द के साथ यात्रा की कल्पना की है । इससे भी अधिक विलक्षण प्रयोग निराला ने 'नये पत्ते' की 'स्फटिक शिला' कविता मे किया है जहाँ अपने अवचेतन मे दबी काम-कुण्ठा को कवि ने उन्मुक्त निकलने दिया है । अवचेतन मन का ऐसा प्रवाह हिन्दी काव्य-क्षेत्र मे प्रथम मनोवैज्ञानिक प्रयोग था । यूरोप मे फ्रायड आदि मनोवैज्ञानिको के प्रभाव से बिम्बवादी प्रवृत्ति के कवियो ने इस प्रकार के प्रयोग किये थे, पर हिन्दी मे यह पहला प्रयास था ।

काम का यथार्थ और सामाजिक व्यग्यात्मक चित्रण निराला ने अपनी 'प्रेम-सगीत' कविता मे करके अपने पाठको को चौंका दिया था । ब्राह्मण का लडका और कहार की लडकी पर मरता है ।—

"बह्मन का लडका मै, उसे प्यार करता हूँ।
जात की कहारिन वह, मेरे घर की है पनहारिन वह।
आती है होते तडका, उसके पीछे मैं मरता हूँ।"—नये पत्ते

जीवन की यथार्थता के ऐसे व्यग्य-चित्र प्रस्तुत करने मे निराला का सानी नही। 'नये पत्ते' की 'महगू महगा रहा', 'कुत्ता भौकने लगा', 'मास्को डायलाग्ज', 'राजे ने रखवाली की' जैसी कविताओ मे जो अछूते राजनैतिक एव सामाजिक व्यग्य पाये जाते है वे निराला को हिन्दी का श्रेष्ठ व्यग्य-प्रयोगकर्त्ता कवि सिद्ध करते है।

अग्रेजी विद्वान् श्री जी० एस० फ्रेजर ने अपनी पुस्तक 'वीजन एण्ड रिटोरिक' (Vision And Rhetoric) मे प्रयोगवादी अग्रेजी कविता की ये मुख्य विशेषताएँ बताई है[१]—(१) भावो पर सीधा आक्रमण अर्थात् भाव-सवेदन, (२) लयो का साहसिक व्यजनात्मक प्रयोग अर्थात् छन्द-धुनो का स्वच्छन्द प्रयोग, (३) सदर्भ-प्राचुर्य का सतरगी प्रभाव और (४) बिम्बो तथा प्रतीको का आधार।

निराला-काव्य मे प्रयोगवादी कविता की ये सब विशेषताएँ पाई जाती है। भावान्दोलन या भावसवेदन तो उनका-सा किसी भी अन्य प्रयोगवादी कवि मे नही। निस्सदेह निराला हिन्दी मे प्रयोगवाद के प्रवर्त्तक सफल प्रयोगशील कवि है। उनके अनोखे प्रतीक, विलक्षण बिम्ब-योजना, छन्द-बध, गेय छन्दो के विविध प्रयोग, मुक्तछन्द, छन्दहीन गद्य, भाषा के विविध प्रयोग, प्रखर व्यग्य-हास्य की प्रवृत्ति, नये-नये विषय-क्षेत्रो का सधान, मनोवैज्ञानिक प्रयोग आदि सब उन्हे उच्चकोटि का प्रयोगशील कवि सिद्ध करते है।

पाश्चात्य प्रभाव : निराला की प्रयोगशीलता सहज स्वाभाविक थी। पर अज्ञेय आदि ने हिन्दी मे जिस प्रयोगवाद का प्रवर्त्तन किया उसका प्रेरणास्रोत पाश्चात्य साहित्य था। यूरोप मे प्रथम महायुद्ध के बाद कवि-मानस अनास्था और विक्षोभ से भर गया था। ऐसी विशृखल मन स्थिति मे कुछ कवियो ने प्रयोगवादी कविता का सूत्रपात किया। अभिजात्यवादी टी० एस० इलियट ने एक ओर तो शैली-शिल्प-सबधी नये-नये प्रयोग आरम्भ किये, दूसरी ओर जीवन की सामाजिक समस्याओ के स्थान पर वैयक्तिक कुठाओ, नागर जीवन की वैयक्तिक समस्याओ और जटिलताओ का चित्रण किया। प्रगतिवादी आलोचको का मत है कि प्रयोगवाद की यह नई राह पूजी-

१ "This direct attack on the emotions, too daringly expressive use of rhythem, this elliptical effect of multiple refrence, this central reliance on the image-symbol are, it might seem, essential parts of what we mean by experimentalism in the English poeotry of this century."

—G S. Fraser : Vision & Rhetoric, P. 24

वादियो और अभिजात वर्ग की एक चाल से प्रचलित हुई। जीवन की यथार्थ प्रगति और प्रगतिवाद से साहित्यकारो और कवियो को विमुख रखने के लिए ही पूजीपतियो ने इस नई प्रयोगवादी राह को प्रोत्साहन प्रदान किया और पूजीवाद तथा अभिजात वर्ग की छत्र-छाया मे कुछ वर्षों तक इग्लैड, अमेरिका आदि पाश्चात्य देशो मे प्रयोग-वाद का खूब चलन रहा। यूरोप मे कई वर्षो से यह प्रतिक्रियावादी काव्य-प्रवृत्ति समाप्त हो चुकी है, पर हमारे यहाँ उस बेजान काव्य-धारा को जीवन प्रदान करने का प्रयत्न कुछ ऐसे लोगो द्वारा हुआ है और हो रहा है जो एक ओर तो अपनी प्रसिद्धि के भूखे थे, दूसरे पूजीपतियो या अभिजात्य वर्ग के हाथो का खिलौना बन गए थे। 'धर्म-युग', 'ज्ञानोदय' आदि ऐसी ही पत्र-पत्रिकाओ ने प्रयोगवाद को उछाला जो पूजीपतियो की पत्रिकाएँ है। अत हिन्दी मे प्रयोगवाद वस्तुत युगीन अनुरोध या किसी प्रकार की सामाजिक आवश्यकता का परिणाम नही था, अपितु बहुत हद तक इलियट, एजरा पाउण्ड, आडेन, स्पेंडर, लुई मैक्नीस आदि की पाश्चात्य प्रयोगवादी शैली के अनुकरण की ललक का प्रतिफल था।

अज्ञेय का उद्देश्य—१९४३ मे अज्ञेय को दूर की सूझी। उन्होने सात कवियो की कुछ विलक्षण, अद्भुत, अटपटी, दुरूह कविताओ को चुनकर 'तार-सप्तक' का सम्पादन और प्रकाशन कर डाला। इस कृत्य के मूल मे उद्देश्य था—(१) कवि के रूप मे आत्म-स्थापना, (२) हिन्दी काव्य मे नवीनता का शोर मचाकर प्रयोगवाद का नेता और आचार्य बनने की स्पृहा, (३) पूजीपतियो और अभिजात्य वर्ग से साधुवाद पाने के लिए तरुण कवियो को साहित्य की प्रगतिवादी प्रवृत्ति से विमुख रखना और (४) हिन्दी जगत् मे अराजकता और हडकम्पी उत्पन्न करके स्व-प्रभाव जमाना।

लगभग दो दशको तक तो अज्ञेय अपने उद्देश्य मे सफल रहे, पर गत चार-पाँच वर्षों से उनकी सारी पोल खुल चुकी है। कवि के रूप मे स्वीकृति पाने और आत्म-स्थापना की जिस स्पृहा को लेकर अज्ञेय ने हलचल मचाई थी, वह प्राय सभी नये कवियो की स्पृहा बन गई और स्पृहाओ की इस टकराहट मे उखाड-पछाड का कुछ ऐसा सिलसिला चला कि नये कवियो मे आपा-धापी आरम्भ हो गई। 'तू मेरी कह, मैं तेरी कहूँ' की स्थिति उत्पन्न हो गई। गुटबदी बन गई। कविता के क्षेत्र मे अराजकता फैल गई। फिर भी समस्त हलचल मे कुछ हस्ताक्षर भव्य और उपयोगी है।

प्रयोगवादी कविता की त्रुटियाँ :

(१) कुछ प्रयोगवादी कविताएँ अटपटी और अनर्गल प्रतीत होती है। न उनमे विचारो की मार्मिकता रहती है, न भावो की। नवीनता के मोह मे कवि

बे सिर पैर की अनाप-शनाप बक जाता है । एक प्रयोगवादी कवि की निम्न कविता देखिए—

"अगर कही मै तोता होता
तो क्या होता ?
तो क्या होता,
तोता होता !
(आह्लाद से झूमकर)
तो तो तो तो ता ता ता ता
(निश्चय के स्वर मे)
होता होता होता होता !" —इच्छा

न तो इस कविता मे कोई प्रतीकात्मक सार्थकता प्रतीत होती है, न कोई व्यग्य उभर सका, न कोई अर्थवत्ता है । ऐसे कितने ही उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते है ।

(२) अतिशय बौद्धिकता—जो कविताएँ सार्थक होती है, उनमे बौद्धिकता हो छाई रहती है, भावो की सवेदनशीलता नही होती । आचार्य नददुलारे वाजपेयी के शब्दो मे वे "अतिरिक्त बुद्धिवाद से ग्रस्त है ।" अधिकाश कविताओ मे केवल तथ्य-बोध होता है, रागात्मकता नही । वक्तव्यो या तथ्यो के कथन से कविता नही बन जाती । प्रयागनारायण त्रिपाठी की इस कविता मे तथ्य-बोध के सिवा कुछ नही है -

सौदा सौदा है तभी, अगर सेवा है,
सेवा सेवा है तभी, अगर अर्पण है ।
अर्पण, अर्पण है तभी, अगर पीडा है;
पीडा, पीडा है तभी अगर सोऽह है ।
सोऽह जब त्व हो जाय तभी सोऽह,
सोऽह का त्व मे लय ही लक्ष्य परम है । —तीसरा सप्तक

(३) अतिशय दुरूहता—बहुत-सी प्रयोगवादी कविताएँ अस्पष्ट, अटपटी और दुरूह होती है । प्रयोग की नोक-झोक मे कवि ऐसी बात कहता है कि 'कुछ न समझे खुदा करे कोई ।' इसी न समझने मे ही वह अपनी जीत समझता है । विषय-वस्तु मे भी दुरूहता रहती है और भाषा-शैली मे भी । अधूरे-आधे वाक्य समझ से बाहर रह जाते है ।

जैसा कि कहा जा चुका है, बहुत-सी प्रयोगवादी या नई कविता मे रागत्‍र शून्य अनुभूतियो को प्रतीकों-विम्बो, नये-नये उपमानो के प्रयोग-द्वारा व्यक्त करने की प्रवृत्ति पाई जाती है । बहुधा ये प्रतीक या बिम्ब भी अस्पष्ट और दुरूह रह जाते हैं ।

कवि अपने मन मे कुछ-का-कुछ प्रतीक सोच लेता है और जब तक आप प्रतीक की कुजी न पा ले, कविता का कुछ भी अर्थ नही खुल सकता ।

(४) कही ये कवि साधारण-असाधारण ढग से बौद्धिक विश्लेषण करते हुए दुरूह बौद्धिक बने प्रतीत होते है, कही बिम्ब प्रस्तुत करना ही अपना लक्ष्य मानते है, कही वक्तव्य-मात्र देते है, कही रोमानी दर्शन प्रस्तुत करते है । तात्पर्य यह कि 'नई कविता' या प्रयोगवाद के कठघरे मे रखी गई कविता का अभी तक भी **कोई निश्चित स्वरूप और स्थायी-भाव-बोध एव जीवन-दर्शन नही बन पाया है ।**

(५) प्रयोगवादी कवियो ने अपनी उलझी सवेदनाओ, झुझलाहट, निराशा क्षोभ, पलायन, अनास्था, कुठा आदि का ही निरर्थक वर्णन किया है जिसमे किसी प्रकार की समवेदना उत्पन्न नहीं होती । अनुभूतियो के प्रति कम ईमानदारी पाई जाती है, तभी तो साधारणीकरण और समानुभूति नही हो पाती । ऐसी वैयक्तिक झुझलाहट से कोई स्वस्थ प्रेरणा नही जगती । सामाजिकता की इन कवियो ने प्राय अवहेलना की है । इसी से उदात्त जीवन अनुभूतियो से यह काव्य प्राय शून्य ही है । स्वस्थ, आस्थापूर्ण उदात्त प्रेरणाएँ यह प्रदान नही करता ।

(६) **नूतनता का मोह** नूतनता की प्रवृत्ति होनी तो चाहिये थी प्रयोगवाद, की विशेषता और शक्ति, पर कुछ कवियो मे नूतनता का ऐसा मोह समा गया कि उसके आग्रह मे ये कवि परिचित को त्याग, अपरिचित की टोह मे रहने लगे । नवीन शब्द, नई उपमाएँ, नये प्रतीक, नये विषय, नये छन्द-बध—सब कुछ नये का मोह ऐसा हुआ कि सगीत का ध्यान भी नही रहा । इसी से इनके अधिकाश प्रयोग 'प्रयोग के लिए प्रयोग' ही बनकर रह गए ।

(७) **छन्द-सगीतरहित गद्यवत् काव्य** प्रयोगवादी काव्य की एक बडी त्रुटि यह है कि यह काव्य-लय-छन्द सगीतहीन गद्यवत् है । कविता का सगीत से अटूट सम्बन्ध है । कविता भी यदि गद्य बन गई, जैसा कि प्रयोगवादी या नई कविता मे हो रहा है, तो कविता कहाँ बचेगी ! अत प्रयोगवादी कवियो से हमारा अनुरोध है कि वे कविता मे लय की सर्वथा उपेक्षा न करे । भिन्न-भिन्न प्रयोग लयबद्ध छन्दो के निर्माण मे दिखाने चाहिये, न कि पक्तियो को छोटा-बडा रखने या विराम-चिह्नो के बेमतलब अटपटे प्रयोग करने मे । हम अपनी छन्द-परम्परा को यो मिट्टी मे न मिलाये तो अच्छा होगा । नियम-बधन जाने दीजिये, पर गुनगुना कर यह तो देख लीजिए कि कविता मे स्वर-लय-प्रवाह भी कुछ है या नही ।

(८) प्रयोगवादी कवियो ने न केवल विषय-चयन मे अनर्गलता का मार्ग चुना, अपितु काव्य के सभी उपकरणो तथा भाषा का ऐसा एकात वैयक्तिक और अनर्गल प्रयोग किया है कि क्या कहा जाय ! 'तीसरा सप्तक' के प्रयोगवादी या नये कवि श्री प्रयागनारायण त्रिपाठी की यह स्वीकारोक्ति इस काव्य-धारा की दुर्बलता का

जबर्दस्त प्रमाण है "मुझे लगता है कि नयी कविता के नाम पर आज जो कुछ लिखा जा रहा है, उसके अन्तर्गत बहुत-कुछ (मेरी अपनी कविताएँ भी) महज बकवास है। पक्तियो को छोटी-बडी कर देना, शब्दो को तोड-मरोड देना बिना आत्मसात् किये हुए नयी उपमा-उत्प्रेक्षाओ या बिम्बो को परेशान पाठको के सम्मुख ठेल देना—ये तथा अनेक इसी प्रकार के दोष आज की अनेक कविताओ मे दिखाई देते है। मै समझता हूँ कि अब वह समय आ गया है कि हम हृदय-मथन करे, सोचे कि कही हम ऐसे बिन्दु पर तो नही खडे हुए है, जिसके लिए मैथ्यू आर्नल्ड ने लिखा था "द वन डाइग द अदर पावरलेस टु बी बोर्न !"एक युग मर रहा है, पर दूसरा जन्म लेने मे असमर्थ है।"

प्रयोगवाद की उपलब्धियाँ भले ही प्रयोगवादी काव्य का कोई एक निश्चित रूप-स्वरूप निर्मित नही हुआ, भले ही वह किसी दृढ और निश्चित जीवन-दर्शन पर आधारित नही है, चाहे उसने प्रसाद, निराला जैसा भी कोई महाकवि हिन्दी को प्रदान नही किया, तथापि प्रयोगवाद की यह एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है कि उसने हिन्दी काव्य-क्षेत्र मे ऐसी उपजाऊ खाद बिखेर दी है जिससे निकट भविष्य मे प्रसाद निराला से भी श्रेष्ठ महाकवियो के उद्भव की सभावना है। न सारा प्रयोगवादी प्रयास निरर्थक कहा जा सकता है, न वह सर्वथा नीरस है। विषयपक्ष और शैली-शिल्प दोनो ही क्षेत्रो मे कुछ प्रयोगवादी कवियो ने महत्त्वपूर्ण सधान किया है। गिरजा कुमार माथुर, गजानन माधव मुक्तिबोध, कुवर नारारायण, अज्ञेय, भवानी प्रसाद मिश्र आदि कई प्रयोगवादी कवियो की कुछ रचनाएँ विषय और शैली दोनो ही दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। प्रयोगवादी इन कवियो के काव्य की शक्ति और सीमा भी रस ही है। अनेक प्रयोगवादी रचनाओ मे रस-भाव की भी सुन्दर अनुभूति पाई जाती है, और सच तो यह है कि ऐसी रसात्मक प्रयोगवादी कविताएँ ही काल की कसौटो पर ठहर पायेगी।

यद्यपि नई कविता या प्रयोगवाद का कोई एक निश्चित भाव-बोध नही बन पाया है, क्योकि नया कवि अनेक स्थानो पर घूमता है, अनेक वस्तुओ पर दृष्टि दौडाता है, और सभी प्रकार की अनुभूतियो को अपना उपजीव्य बनाना चाहता है, तथापि प्रेम, घृणा, करुणा और हास्य-व्यग्य ही उसकी प्रमुख रस-भाव परिधि दिखाई देती है। कुछ कविताओ मे हताशा के स्थान पर उत्साह और प्रगति का स्वर भी प्रकट हुआ है। भवानीप्रसाद मिश्र की ये पक्तियाँ देखिए

ये किसी निश्चित नियम, क्रम की सरासर सीढिया हैं,
पाव रखकर बढ रही जिस पर कि अपनी पीढ़िया हैं।
बिना सीढी के बढेंगे, तीर के-जैसे बढेंगे ॥

जीवन की कृत्रिमता, पाखड, रूढियो, बुराइयो आदि के प्रति प्रयोगवादी कवि

ने भी हमारी घृणा जगाने का प्रयत्न किया है। ऐसी कविताएँ ही, जिनमे वर्तमान जीवन और उसकी विभीषिकाओ की अभिव्यक्ति भावानुभूतियो के रूप मे हुई है, वास्तविक और सशक्त प्रयोगवादी तथा नई कविता कहलाने की अधिकारिणी हो सकती हे। नई कविता की यह एक विशेषता है कि कुछ रचनाओ मे वर्तमान जीवन के खोखलेपन, कृत्रिमता, नैतिक पतन आदि के प्रति घृणायुक्त व्यग्य या व्यग्यपूर्ण घृणा उभर कर प्रकट हुए है। भारत भूषण अग्रवाल की 'मै निरा विलायती स्पज हूँ' शीर्षक कविता के वर्तमान युग ले पाश्चात्य प्रभाव मे रगे युवक पर करारा व्यग्य है, जो मशीन-युग के यात्रिक मानव पर चोट करता है। नई कविता का नया भाव-बोध इन्ही सामाजिक व्यग्यो मे दिखाई देता है। डा० रामप्रसाद मिश्र की 'एक स्त्री' कविता मे मानव की तुच्छ वृत्ति पर सुन्दर व्यग्य है। तात्पर्य यह है कि प्रयोगवादी नीरस मरुभूमि मे कही-कही सरस नखलिस्तान भी है और ये थोडी-बहुत भाव-सवेनापूर्ण रचनाएँ ही प्रयोगवाद या नई कविता की शक्ति है।

अछूती जीवनानुभूतियो से भी अधिक प्रयोगवाद की देन है भाषा-शैलीगत अछूते प्रयोग। इन कवियो ने ध्यान भी अधिकतर शैली-शिल्प पर ही केन्द्रित रखा है। वैज्ञानिक युग के नवीन उपमानो की खोज इनकी विशिष्ट देन है। इन्होने रोजमर्रा की जिन्दगी से नये उपमान जुटाये है, जैसे—

(१) **'मेरे सपने इस तरह टूट गये, जैसे भुजा हुआ पापड'**

(२) युवती की कोमल कलाई की उपमा खरादे हुए चिकने चीढ से (प्रभाकर माचवे)।

(३) **'कैमरे के लैंस-सी हैं आँखें बुझी हुई।'**

(४) **बिगडे, कम्बख्त लाउड-स्पीकर-से जिनके मुख निश्शब्द खुले है।"** (भारत-भूषण)

यद्यपि अधिकाश प्रतीक अटपटे और दुरूह है तथापि कुछ सुन्दर सगत प्रतीको और बिम्बो की भी प्रयोगवाद मे भव्य योजना हुई है। अनूठी बिम्ब-योजना और नवीन सुन्दर उपमान-विधान निम्न कविता मे द्रष्टव्य है

जैसे हो बद रीलें सिनेमा की
खुलती ही खुलती चली जायें—
वैसे ही स्टेशन पर स्टेशन जाते हैं निकल,
वैसे ही खिड़की से जाते हैं फिसल,
नीले सिंघाडों के पोखरे, मटमैले गाँव,
जैसे मलमल के मीलो लम्बे थान झनझना जायें
प्रिया की अगूठी के छल्ले से।

यह स्टेशन है
रीछो-से बडे-बडे एँजन ।
यह स्टेशन है
बुझते से प्लेटफार्म, हारे हुए प्रेमी के
अंतिम प्रणय पत्र से सूने है ।
× × ×
यह स्टेशन है
कचनार, कर्णिकार, रतनार के वृक्ष
खडे खडे हर गाडी को फहराते है
बिदा की रूमालें । —रमेश कुतल मेघ

समूची प्रयोगवादी और नई कविता मे वस्तु-चित्र या दृश्य-विधान का ऐसा सरस अनूठा उदाहरण शायद ही दूसरा मिले । कवि ने बहुत सुन्दर उपमान-योजनाएँ की है। मेल गाडी से गुजरते हुए दृश्यो का सिनेमा की रीलो जैसा गत्यात्मक चित्रण निश्चय ही कवि की अद्भुत कल्पना-शक्ति का परिचायक है । सूने अधियारे प्लेटफार्म की विफल प्रणय-पत्र से, रेल की खिडकी से गुजरते दृश्यो की सिनेमा की रीलो तथा प्रिया की अगूठी से झनझना दिए ढाके की मलमल के थानो से उपमाएँ बहुत बढिया हे । इसी प्रकार कचनार आदि वृक्षो-द्वारा रूमाल हिला कर हर गाडी को विदा देना, खेत की सरसो का हल्दी का उबटन आदि एक-से-एक बढिया उत्प्रेक्षाएँ हे—सर्वथा नई और अनूठी । इस प्रकार की कविताएँ ही नई कविता या प्रयोगवाद का गौरव बढाए हुए है । वैज्ञानिक बिम्बो का उदाहरण मदन वात्स्यायन की निम्न पक्तियो मे देखिए

इजन के हैडलाइट-सा शोरगुल के बीच
सूरज निकल गया ।
गार्ड की रोशनी-सा पीछे-पीछे गुमसुम अब—
शुक्रतारा जा रहा है ।

प्रयोगवाद या नई कविता की स्पर्द्धा मे हिन्दी कविता अनेक आन्दोलनो—नकेनवाद (नलिन विलोचन शर्मा और उनके दो साथी-कवियो-द्वारा प्रवर्तित), सहज कविता, अकविता आदि से गुजरी है और गुजर रही है । वस्तुत हर नया कवि यह समझता है कि नई कविता घूरे के ढेर पर टिकी है जहाँ चढकर जो मुर्गा भी बाग देगा, सिद्ध मान लिया जाएगा । नई कविता के सम्बन्ध मे यह प्रश्न कई बार उठता है कि वर्तमान अनेक कवियो मे से किसे नया कवि माना जाय, किसे नही । क्या जिन्हे अज्ञेय, जगदीश गुप्त, धर्मवीर भारती, लक्ष्मीचन्द जैन आदि सम्पादकों-द्वारा नये कवि के रूप मे स्वीकृति प्राप्त हो जाय, वे ही नये कवि माने जायेगे ? आजकल कुछ ऐसी ही स्थिति

बनी हुई है। नई कविता का जादू कुछ ऐसा सिर चढ कर बोला है कि बच्चन-जैसे श्रेष्ठ आधुनिक गीतकार-कवि भी इस खेमे मे आने के लिए अपना स्वर, भाषा-शब्द-बध और विषय-प्रवृत्ति बदल बैठे है। नई कविता या प्रयोगवाद के स्वीकृत दायरे के बाहर भी अनेक कवि नये ढग की उत्कृष्ट काव्य-रचना कर रहे है। पर जब उनके सामने छपने-छपाने और स्वीकृति की समस्या आती है तो वे या तो हताश हो चुप बैठ जाते है या 'अकविता', 'अगली कविता' आदि का नया शोर मचाकर हिन्दी साहित्य मे हडकम्पी पैदा करना चाहते है। यह अराजकता की स्थिति बडी हास्यास्पद बनी हुई है।

नई कविता या प्रयोगवाद मे 'अधा युग' (धर्मवीर भारती का गीति-नाट्य), 'कनुप्रिया' (धर्मवीर भारती), 'आत्मजयी' (कुवरनारायण) आदि कुछ इने-गिने कथात्मक प्रयोग भी हुए है, पर उसकी मुख्य चेतना वैयक्तिक गीति-परक ही रही है। अनेक न्यूनताओ के बावजूद प्रगतिवाद या नई कविता वर्तमान हिन्दी काव्य साहित्य की इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण काव्य-धारा है कि भविष्य मे इसी की भूमिका पर हिन्दी की महान् काव्य-उपलब्धि सभव होगी।

: १० :

आधुनिक भाव-बोध और नयी कविता

परम्परा और आधुनिकता

रस-सिद्धात और नई कविता के इस सदर्भ मे परपरा और आधुनिकता पर विचार करना आवश्यक है। नयी कविता भी जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कविता है। यहाँ सवाल यह है कि क्या कविता के नये-पुराने रूप माने जा सकते है ? क्या वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, तुलसी, सूर पुराने कवि ही है ? क्या आज के युग के लिए उनमे कुछ नही है ? इन प्रश्नो का सर्वमान्य उत्तर यही होगा कि यद्यपि वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, सूर, तुलसी और उनका काव्य आज के युग के लिए भी प्रेरणा-स्रोत है, और आज ही क्यो, वह युग-युग के लिए उपयोगी और ग्राह्य रहेगा, पर इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि ये कवि और उनका काव्य है पुराना ही। ये प्राचीन परपरा के ही कवि है, आधुनिक नही। पर परपरा के होने पर भी ये आज त्याज्य नही है। अत परपरा और आधुनिकता मे काल-सीमाओ का अतर होते हुए भी दोनो की उपयोगिता है।

पुराने को परपरा कह दिया जाता है। पर पुराना या परपरा सर्वथा त्याज्य नही हो जाता। परपरा का अर्थ है एक के बाद दूसरे, दूसरे के बाद तीसरे को प्राप्त क्रम। अत परपरा भी एक गतिशील प्रक्रिया है, एक जीवत प्रवाह है, जड, स्थिर और रुद्ध नही। मानव चेतना समय-समय पर चितन और अनुभव-द्वारा जो ग्राह्य या त्याज्य है, उसका विवेक करती हुई, पुराने-नये का जोड-तोड भिडाती हुई सदा ही युग-सदर्भो मे आधुनिक या नई बनने की चेष्टा करती रही है, परपरा को नये सदर्भो मे ग्रहण करती रही है। अत परपरा को नये सदर्भो मे नया रूप देना ही आधुनिकता है। आधुनिकता से तात्पर्य परपरा से कटकर कोई सर्वथा नयी चीज नही है। सभी युगो की आधुनिकता कालातर मे परपरा बन जाती है। आज जिसे हम आधुनिक कहते है, वह सौ-पचास वर्षो बाद आधुनिक नही रहेगा। पर परिवर्तन की यह प्रक्रिया न तो सब क्षेत्रो मे समान होती है, न अनिवार्य। सौ-पचास वर्षों बाद सभी सदर्भ और सभी मूल्य एक साथ बदल जाते हो ऐसा नही है। आधुनिक का शब्दार्थ है 'अधुना' यानी जो इस समय का है। पर इस समय जो है, वह सब पहले से बदला हुआ है, यह नही कहा जा सकता। काल की कसौटी पर खरे उतरते रहने

वाले आदर्श, विचार और जीवन-मूल्य परपरागत होने पर भी हर काल के लिए आधुनिक रहते है। पर बहुत-से विचार और मान्यताएँ समय-परिस्थितियो के अनुसार बदल जाते है। समय-समय पर बहुत-से नये सदर्भ उत्पन्न होते है। मानव जीवन की नई सवेदनाएँ उभरती है। इन नवीनतम सदर्भो, सवेदनाओ और मूल्यो तथा परिस्थितियो का अकन ही आधुनिकता से सम्बन्ध रखता है।

उदाहरण के लिए मध्यकालीन साहित्य मे कवियो के सामने वेश्या की कोई समस्या थी ही नही। रीतिकालीन कवियो ने अपने नायिका-भेद के ग्रन्थो मे 'सामान्या' का श्रृगाररस-अन्तर्गत चित्रणभर कर दिया, उसे अपनी विलास-वासना की तृप्ति का प्रतीक बनाकर उसके प्रगल्भ प्रेम मे आनन्द लेने की प्रवृत्ति दिखाई। भारतेन्दु काल ने नव सामाजिक जागरण का उद्घोषण करते हुए वेश्या-विलास की निदा की, वेश्या-वृत्ति तथा वेश्यागमन की निंदा का नया सदर्भ खोजा और वैयक्तिक तथा सामाजिक सुधार की प्रेरणा से ओतप्रोत होकर जीवन का नया सदेश सुनाया। भारतेन्दु युग मे एतत्सम्बन्धी यही दृष्टिकोण आधुनिक था। पर युग पीछे रह गया, विचारधारा आगे बढी। प्रेमचन्द युग मे वेश्या के प्रति सहानुभूति जगी। उसकी उन सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियो का अवलोकन किया जाने लगा जिनके कारण बिवशतापूर्वक सुमन-जैसी कुल-कन्याओ ('सेवासदन' की नायिका) या शोषण अथवा दूषित परपरा का शिकार बनी युवतियो को वेश्यावृत्ति अपनानी पडती है। प्रेमचन्द के जीवन-मूल्य निश्चय ही पिछले युग से नये थे और अत उस समय आधुनिक थे। पर बाद मे मानव-चेतना और आगे बढी। प्रेमचन्द के अव्यावहारिक आदर्शवाद को बाद के लेखको ने वस्तु-यथार्थ मे बदल दिया। प्रेमचन्द का कोई नायक यदि किसी वेश्या को अपनाने और उससे विवाह करने की सोच सकता था, तो वह सुमन-जैसी पाकीजा वेश्या ही हो सकती थी। पर अगले युग मे नया मूल्य नये संदर्भो मे प्रकट हुआ। 'मन से होते मनुज कलकित' की धारणा विकसित हुई। शरीर से पतित हो जाने वाली—किन्ही सामाजिक, आर्थिक या नैतिक अत्याचारो के कारण अपना सतीत्व खो देने वाली नारी या वेश्या को समाज मे घुलाने-मिलाने —शादी-ब्याह करा कर समाज मे रहने देने की दृष्टि उस युग मे न थी। वर्तमान आधुनिक दृष्टिकोण बदला, परपरागत नैतिक बधन टूटे। अब वेश्या के साथ—सुमन जैसी पवित्र वेश्या के साथ नही, अपितु घोर नारकीय जीवन बिताने वाली से शादी कराने वाले को समादृत किया जाने का दृष्टिकोण जगा। प्रेमचन्द भी वेश्या समस्या के आर्थिक, मनोवैज्ञानिक और समाज-शास्त्रीय कारणो की अच्छी तरह खोज-बीन और जाँच-पडताल नही कर सके थे। आधुनिक युग के लेखको ने नये सदर्भों मे नया मूल्याकन किया। इस प्रकार मानवीय चिंतन और मानवीय सवेदनाएँ नये-नये रूप और सदर्भ ग्रहण करती और नये मूल्य स्थापित करती हैं। परपरा का यह नया विकास ही आधुनिकता है।

इसमे सदेह नही कि पुराने कवियो मे भी मानवीय सवेदनाओ के ऐसे रूप चित्रित होते है और जीवनादर्शों की कुछ ऐसी शाश्वतता रहती है जिसके कारण बहुत-से पुराने कवि-महाकवि हर युग मे स्वीकार्य रहते है। पर इस तथ्य से भी इनकार नही किया जा सकता कि उन पुराने कवियो मे बहुत-सी बातें वैचारिक स्तर पर तथा कलागत दृष्टि से ऐसी अवश्य होती है, जो नवयुग्चेता भावक की रुचि से फिसली होने के कारण उसके लिए उतनी ग्राह्य नही होती जिनती ग्राह्य वे उस युग मे रही होगी जिसमे कवि ने उन्हे सृजा था। इसका बडा कारण यही है कि मानव चेतना तथा सस्कार सतत् विकासमान एव परिवर्तनशील होते है, तुलसीदास का 'रामचरित-मानस' हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है, सदेह नही पर उसमे भी अनेक बाते ऐसी है जिनमे आज का बुद्धिवादी पाठक तादात्म्य स्थापित नही कर सकता। उदाहरण के लिए तुलसी द्वारा हनुमानादि के अलौकिक कार्य, रामकृपा का चामत्कारिक बखान, अतिशय भक्तिभाव, नारी और शूद्रो के प्रति तिरस्कार की प्रवृत्ति आदि बाते। बाल्मीकि, व्यास और कालिदास मे भी रूढि तथा अतिप्राकृत तत्त्वो की कमी नही है जो आज के सदर्भ मे निरर्थक ही कहे जा सकते है और काव्योत्कर्ष मे बाधक ही है। अतः प्राय प्रत्येक प्राचीन या परम्परागत रचना मे कुछ-न-कुछ ऐसा अवश्य होता है, जो 'आधुनिक' युग-सन्दर्भ मे बेमानी प्रतीत होता है। पर फिर भी श्रेष्ठ रचनाओ की शाश्वत सवेदनाएँ और जीवनादर्श सभी को सब कालो मे प्रेरित करते हैं। इसी शाश्वतता के कारण श्रेष्ठ काव्य-महाकाव्य देशकाल की प्राचीरो को लाघकर युग-युग के हो जाते है। पर यदि पूर्ण आधुनिक युग-सन्दर्भों मे वैसी ही श्रेष्ठ रचना की जाय जिसमे शाश्वत मानवीय सवेदनाओ और जीवनादर्शों का वैसा ही प्रकाशन हो तो निश्चय ही यह 'आधुनिक' रचना पुरानी श्रेष्ठ रचना से भी अधिक मूल्यवान् होगी। आधुनिक युग का पाठक इस आधुनिक रचना से अधिक प्रभावित और आह्लादित होगा। ताजमहल और मोनालीसा की चिरनव्यता मे सन्देह नही, पर नवयुग की सौंदर्य-चेतना निश्चय ही उनसे भी 'कुछ और' की माग करती है।

अब तक हमने भाव-बोध या विषय पक्ष की दृष्टि से ही परम्परा और आधुनिकता पर विचार किया है। आधुनिकता न केवल भाव-बोध या विषय तत्त्व मे रहती है, अपितु भाषा शैली का नवीन प्रयोग भी परम्परागत शैली-शिल्प के स्थान पर आधुनिकता की स्थापना करता है। युग-युग की अपनी-अपनी भापा शैली शिल्प होती है। हर युग का नवचेता कवि परम्परागत भाषा-प्रयोगो, मुहावरो, शिल्प-साँचो से असंतुष्ट होकर युग-भावानुकूल नये प्रयोग करता है जिनसे उसकी रचना सच्चे मानो मे 'आधुनिक' बनती है। आज के युग मे अवधि भाषा, दोहा-चौपाई शैली तथा परम्परागत अलकारो और काव्य-रूढियो का प्रयोग करना कौन चाहेगा ? आधुनिक गद्य युग के अनुरूप यदि आज का कवि अपनी भाषा को गद्यवत् रखता है तो इसमे

कोई अनौचित्य नही है सभवत यह युग का ही अनुरोध है। आधुनिक कवियो ने पुराने कला-प्रसाधनो से ऊबकर नये प्रतीक-बिम्ब-उपमान जुटाना इसीलिए पसद किया है कि उनकी नई भावाभिव्यक्ति नये प्रसाधनो की अपेक्षा करती है। केवल प्रयोग के लिए प्रयोग किसी रचना को 'नया' या आधुनिक नही बनाता। वस्तुत वही नया प्रयोग सार्थक और प्रभावी होता है जो भाव-सवेदनाओ को अच्छी तरह अभिव्यक्त करने मे सक्षम हो ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हुआ होगा कि न तो परपरा ही सर्वथा त्याज्य है और न परपरागत या पुराना होने से ही कोई बात या रचना सिद्ध और सफल हो जाती है, जैसा कि महाकवि कालिदास ने कहा है 'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्'। इसी प्रकार कोई वस्तु या रचना नयी है इसीलिए वह हेय या श्रेष्ठ नही बन जाती। वस्तुत परपरा को नया युग-सदर्भ देना ही आधुनिकता है। परपरा से कटकर कोई भी रचना-विधान आधुनिक नही बन सकता। साथ ही यह भी ध्रुव सत्य है कि चाहे कोई परपरागत रचना कितनी ही महान् क्यो न हो 'आधुनिक' युग के लिए उसमे कुछ-न-कुछ त्याज्य अवश्य होगा ऐसा अवश्य कुछ होगा जो वर्तमान युग-सदर्भों मे अपने अर्थ और मूल्य खो चुका होगा। इसीलिए हर युग-चेता कवि का कर्त्तव्य कर्म हो जाता है कि वह इस बात का पूरा विवेक दर्शाये कि परपरा से क्या ग्राह्य है और क्या त्याज्य तथा नवयुग-सदर्भों मे नये जीवन-मूल्य और नई परिस्थितियाँ क्या ग्राह्य है जिनसे रचना सच्चे अर्थो मे आधुनिक बन सकती है। नव रचनाकार को युगीन परिवर्तनीय और परिवर्तित मूल्यो की ठीक-ठीक जानकारी होनी चाहिये। उसे इस बात का पूरा ज्ञान होना चाहिये कि नए युग-सदर्भो मे क्या अपरिहार्य है और क्या परिहार्य ! नये कलाकार को इस बात का भी ध्यान रखना होगा कि आज जो अधुनातम है, वह कल परपरा बन सकता है और परिवर्तन की चपेट से धराशायी हो काल-कवलित हो सकता है। इसीलिए उसे 'आधुनिक' का वही रूप अपनाना चाहिये जो उसकी दृष्टि मे अधिकाधिक मूल्यवान् और कालजयी है। बहुत-सी बाते ऐसी होती है जो बहुत जल्दी बासी हो जाती है। अत नये या आधुनिक साहित्यकार को 'नया' भी ऐसा ग्रहण करना चाहिये जो काल की दीर्घ कसौटी पर खरा उतर सके। वे साहित्यकार धन्य है जिनकी रचनाएँ युग-युग की शाश्वत रचनाए सिद्ध होती है।

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि 'परपरा' या आधुनिकता' मे वह कौन सी बात है जो किसी रचना को शाश्वतता प्रदान करती है ? यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि मानवीय सभ्यता और सस्कृति के आदि काल से ही अनेक मानवीय उदात्त सवेदनाएँ और उदात्त भाव वृत्तियाँ ऐसी है जो सब युगो मे सार्वभौमिक आदर पाती रही है उदात्त स्नेह, प्रेम, करुणा, दया, सहानुभूति, उत्साह साहस, उदात्त घृणा, उदात्त क्रोध, भय, भक्ति, स्वाभिमान आदि उदात्त भावो का चित्रण सर्वग्राही होता है। कवि को इन उदात्त भावो की सामग्री जुटाने मे युगानुरूप

नये सदर्भों का ध्यान रखना चाहिये । वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, शेक्सपियर, तुलसी आदि विश्वकवि इसीलिए महान् और आज तक ग्राह्य है, क्योकि उनकी रचनाओ मे मानव जीवन की ऐसी उदात्त भावनाए, ऊचे विचार और उच्च सास्कृतिक मूल्य विद्यमान है जो आज तक भी कालजयी हैं । ऐसी शाश्वत परपरा भी हरकाल मे आधुनिक रहती है ।

नई कविता मे आधुनिक भाव-बोध

यो तो हम भारतेन्दुकाल से आधुनिक युग का सूत्रपात मानते हैं, और इस दृष्टि से भारतेन्दुकाल की नई धारा की कविता, द्विवेदी युगीन राष्ट्रीय सास्कृतिक कविता, छायावादोत्तर प्रगतिवादी काव्य, मुक्त प्रेम-गीत आदि आधुनिक काल की सभी काव्य-प्रवृत्तियाँ आधुनिक कही जाती है, पर 'नयी कविता' या नवलेखन' के सदर्भ मे आधुनिकता से तात्पर्य 'लेटेस्ट' या अधुनातन अर्थात् गत लगभग पच्चीस वर्षों की ऐसी कविता से है जिसमे जीवन तथा शैली-शिल्प के अधुनातन मूल्यो का समावेश हुआ है । जिन रचनाओ मे द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद या भारत-स्वातन्त्र्य के बाद के जीवन की हलचल, सवेदनाए, परिस्थितियाँ, मनोवैज्ञानिक ग्रन्थिया, कुठाए सामाजिक समस्याए और वैयक्तिक सघर्षों का सर्वथा नये सदर्भो मे चित्रण हुआ है और अभिव्यजना मे भी नई शैली-शिल्प अपनाई गई है उन्हे ही हम नयी कविता के अन्तर्गत रख सकते है । यो तो आजकल गुटबाजी, दलबदी और प्रचारवाद या आत्म प्रस्थापन के कारण जिस-किसी को नयी कविता या नवलेखन कह दिया जाता है और अनेक कवियो मे आत्मस्थापना की होड-सी लगी हुई है, पर अब वक्त आ गया है कि हम 'नयी कविता' के लेबिल से प्रस्तुत की गई समस्त काव्य-सामग्री का समुचित परीक्षण करके असली-नकली की पहचान करके असली 'नयी कविता' को मान्यता प्रदान करे और नकली को अलग कर दे ।

यहा सवाल यह उपस्थित होता है कि असली-नकली को छाटने का पैमाना क्या है, तरीका क्या है, कसौटी कौन-सी है ? यद्यपि यह एक बडा पेचीदा मसला है क्योकि किसी रचना का एकबारगी स्वीकरण और किसी दूसरी की अस्वीकृति खतरे और जोखिम का काम है, तथापि हमे कविता की ही भलाई के लिए यह अप्रिय कार्य भी करना होगा । तो, हमारे पास कसौटी क्या है ? वह कौन-सी-विभाजक रेखा है जिसके आधार पर हम किसी कविता या कृति को 'नयी' माने और किसी अन्य को उसके बाहर रखे ? जैसा कि आधुनिकता सबन्धी उपर्युक्त विवेचन से हमने स्पष्ट किया है कि नया प्रयास वही माना जा सकता है जिसमे या तो वैचारिक स्तर पर या सवेदनाओ के धरातल पर पिछले भोगे हुए जीवन अर्थात् छायावाद-प्रगतिवाद मे घिसे-पिटे विषयो की जगह नये जीवन का स्पदन हो, नयी जीवन-समस्याओ और सवेदनाओ के नये सदर्भ हो, आज के भोगे जा रहे अनुभव हो, आज की जीवन दृष्टि

हो, बासी कुछ भी न हो, परपरा हो भी तो वह भी नये सदर्भ, नये आयामो मे आधुनिक बनी हुई हो। आधुनिकता या नवलेखन की द्योतक दूसरी बात है भाषा-शैली शिल्प की नवीनता। नयी कविता मे शैली-शिल्प की नवीनता पर हम अगले अध्याय मे विचार करेगे। यहा नई कविता मे नये भाव-बोध पर प्रकाश डालते है। वस्तु की भिन्नता और नयापन रूप-सॉचो और शिल्प की भिन्नता तथा नयेपन की माग करता ही है। अत नयी कविता के नये भाव-बोध के अनुरूप शैली-शिल्प की चर्चा हम आगे करेगे।

'कनुप्रिया' में परंपरा और नया भाव-बोध :

परपरा से नाक-भौ चढाने वाले नवलेखनवादियो को विदित है कि 'अधायुग', 'कनुप्रिया' (धर्मवीर भारती)' 'आत्मजयी' (कुँवर नारायण) आदि नयी कविता की श्रेष्ठ उपलब्धिया परपरा पर ही आधृत है। श्री धर्मवीर भारती की 'कनुप्रिया' राधाकृष्ण के परपरागत प्रणय-प्रसग पर आधारित रचना है। उसमे पौराणिक सदर्भ, परपरागत कथा-सूत्र, सकेत और प्रतीक पाये जाते ह। पर भारती की लेखनी ने उसमे नव-का भी सुखद सचार किया है जिसके कारण 'कनुप्रिया' मे परपरा और नवीनता का सुन्दर सामजस्य घटित हुआ है। कथा-प्रसग, प्रतीक, बहुत से उपमान, दार्शनिक आधार, वैष्णव महाभाव आदि अनेक बाते भारती ने परपरा से ही ग्रहण की है पर साथ ही कुछ पौराणिक मिथको, कवि-समयो तथा प्रतीको को नया रूप प्रदान किया है और राधा तथा कृष्ण के चरित्रो की अतिम परिणति मे नवीन कल्पना की है। 'कनुप्रिया, की अभिव्यक्ति-शैली तो सर्वथा नयी है । इस प्रकार परपरा और नवीनता का मणि-काचन-योग-सा समूची रचना मे दिखाई देता है।

रस के नाम से चौकने वाले आधुनिक लेखको और विचारको को समझ लेना चाहिये कि 'कनुप्रिया' मे उदात्तरस-भाव की पूर्ण स्थिति के ही कारण उसकी श्रेष्ठता सिद्ध होती है। राधा कृष्ण के प्रणय-सम्बन्धी अधिकाश सदर्भों मे परपरागत रस-भाव ही चित्रित हुआ है । राधा का यमुना मे नीर-भरन को जाना, भोली राधा का भरे हुए घडे मे अपनी चचल आँखो की छाया देखकर उन्हे कुलेल करती चटुल मछलियाँ समझकर बार बार सारा पानी ढलका देना (कनुप्रिया, पृ० ३०-३१) परपरागत भक्तिकालीन-रीतिकालीन सदर्भ ही है—(नीर-भरी गगरी ढरकावै—नन्ददास)। राधा दधि बेचने जाती है तो 'दधि ले लो', 'दधि ले लो' के स्थान पर अत्यन्त तन्मयता के कारण 'श्याम ले लो' 'श्याम ले लो' पुकारती हुई हाट-बाट मे, नगर-डगर मे अपनी हँसी कराती घूमती है।"(कनुप्रिया, पृ० ३३)। सूरदास की ये पक्तियाँ भी इसी भाव की परिचायक है

गोरस को निज नाम भुलायो।
'श्याम लेहु' 'कोउ श्याम लेहु'
गलिन गलिन यह सोर मचायो।।

कृष्ण के वियोग मे राधा उसी आम्र या कदम्ब के पेड तले बैठकर ककड, पत्ते, तिनके, टुकडे चुनती रहती है, जहाँ कृष्ण ने उसे अमित प्यार दिया था, (पृ० ६५) । आलम की इसी भाव की पक्ति देखिए

'जा थल कीन्हे बिहारी अनेकन ता थल बैठि काकरी चुन्यौ करै ।'

कृष्ण राधा को अपनी वशी-ध्वनि मे टेरते है 'अक्सर जब तुमने वशी बजा कर मुझे बुलाया है ।' इसी आशय की नददास की यह पक्ति बडी मार्मिक है

वे वशी मे कहत प्रिय—हे प्राणेश्वरी आव — नाममाला

इसी प्रकार कृष्ण की रस-लीला, दावाग्नि, कालिय-दमन, इन्द्र-प्रकोप आदि के सदर्भ, राधा का कृष्णाभिसारिका बनना, सखियो से गोपन, कृष्ण-द्वारा राधा के पावो मे महावर लगाना और राधा का लाज से धनुष की तरह दोहरा हो जाना, अर्द्धोन्मीलित कमल के सकेत से राधा का समझ जाना कि कृष्ण ने उसे 'सझा-बिरिया' बुलाया है, अगस्त्य के कटावदार फूलो से यह सकेत पाना कि कृष्ण उसके पाँवो मे महावर लगाना चाहता है आदि सकेत और सदर्भ परपरागत ही है। निम्न-पक्तियो मे ब्रज की उसी चरवाही सस्कृति की झलक दिखाई देती है, जो मध्य-कालीन ब्रज-भाषा कृष्ण-काव्य मे पाई जाती है

गायें कुछ क्षण तुम्हे अपनी भोली आखो से
मुह उठाये देखती रही और फिर
धीरे-धीरे नद गाव की पगडडी पर
बिना तुम्हारे अपने आप मुड गई । —कनुप्रिया, पृ० २४

'कनुप्रिया' का दार्शनिक अधार भी प्राय परपरा का ही द्योतक है । किन्तु भारती की अनूठी अभिव्यक्ति कला ने उसमे भी नवीनता उत्पन्न कर दी है । राधा को विराट प्रकृति-रूपा, ब्रह्म कृष्ण की शक्ति-रूपा चित्रित किया गया है असख्य सृष्टियो का क्रम राधा और कनु के ही प्रणय की पुनरावृत्तियाँ है । जब इच्छा की तरह कनु राधा को —अपनी शक्ति को जगाते है तो सृष्टि का उद्भव होता है, दोनो का प्रणय-व्यापार सृष्टि की स्थिति का द्योतक है और जब प्रगाढ प्यार, उद्दाम वासना और केलिक्रीडा के बाद राधा थककर सो जाती है तो यह सृष्टि लय हो जाती है ।

कुछ परपरागत प्रतीको और कवि-समयो को भारती ने नये ढग से अपनाया है । यह प्राचीन काव्य रूढि है कि अशोक का वृक्ष बरसो तक किसी नवयुवती के चरण-स्पर्श की प्रतीक्षा मे पुष्पहीन खडा रहता है और नवयुवती के पदघात से ही खिलता है । 'कनुप्रिया' का 'पहला गीत' इसी कवि-समय पर आधारित है । पर भारती ने उसे नया यथार्थ, बौद्धिक और प्रकृत मोड प्रदान किया है । राधा कहती है "ओ पथ के किनारे खडे छायादार पावन अशोक वृक्ष, तुम यह क्यो कहते हो कि तुम

मेरे चरणो के स्पर्श की प्रतीक्षा मे जन्मो से पुष्पहीन खडे थे ! तुमको क्या मालूम कि मैं कितनी बार केवल तुम्हारे लिए—धूल मे मिली हूँ, धरती मे गहरे उतर जडो के सहारे तुम्हारे कठोर तने के रेशो मे कलिया बन, कोपल बन, सौरभ बन, लाली बन—चुपके से सो गयी हूँ कि कब मधुमास आये और तुम कब मेरे प्रस्फुटन से छा जाओ!"

इस गद्य-गीत मे एक ओर तो राधा के प्रकृति-रूपा होने का सकेत दिया गया है, दूसरी ओर सौन्दर्य का रोमानी वर्णन हुआ है। यह जायसी के 'हसत जो देखा हसना, निरमल नीर शरीर" और पत जी के इस रोमानी सौन्दर्य-चित्रण से मिलता-जुलता है—

तुम्हारी पी मुख-वास-तरग, आज बोरे बौरे सहकार।
चुनाती लवग लता निज अग, तन्वी तुमसी बनने सुकुमार।

कवि धर्मवीर भारती ने कवि-रूढि को नया रोमानी-रूप प्रदान कर दिया है। कल्पना को बौद्धिक स्पर्श देते हुए परपरागत मिथक की नयी व्याख्या प्रस्तुत की गई है युवती सुन्दरी के चरण-स्पर्श से ही अशोक वृक्ष नही खिलता, अपितु उसके अग-अग से, उसके अपूर्व सौन्दर्य के कण-कण से उसके सभी अग—पत्ते, कोपले, कलियाँ लाली—निर्मित होते है। राधा का सौदर्य ही अशोक के अग-प्रत्यग मे कलियो कोपलो के रूप मे प्रकट हुआ है। उसका यौवन ही अशोक के लिए बहार बन गया है। राधा कहती है यह तुम्हारी भूल है जो तुम यह समझते हो कि तुम किसी सुन्दरी के पदाघात से ही खिलते हो। यह कपोल-कल्पना है। वास्तविकता यह है कि मै तुम्हारे अकुरण से लेकर पुष्पित होने तक हर समय तुममे समायी और सोयी रहती हूँ। मेरा सौदर्य और यौवन ही तुम्हारे अग-प्रत्यग मे फूट निकलता है। इस परपरागत रूढि को आधुनिक अर्थ प्रदान करने से यह दर्शनिक अर्थ-ध्वनि भी निकलती है कि जीव और जड-प्रकृति मे कोई अन्तर नही। अशोक वृक्ष और राधा दोनो एक ही सौन्दर्य-चेतना से अनुप्राणित और प्रोद्भासित है। दूसरे यह कि राधा विराट-पुरुष की प्रकृति-स्वरूपा भी है, अत वही अशोक वृक्ष मे व्याप्त है।

इसी प्रकार 'आम्रबौर' का प्रतीक नई कल्पना से ओतप्रोत है। कनु वनघासो मे बिछी माँग-सी पगडडी पर आम्रमजरी का बौर चूर-चूर कर बिखेर देता है। यह राधा की उजली-क्वारी पवित्र माँग को नये, ताजे आम्रबौर से भरकर उसे चिर सुहागिन बनाना ही तो था! कनु के लिये राधा का अग-प्रत्यग पगडडी-मात्र है जो उसे राधा तक पहुँचाकर रीत जाता है। राधा की क्वारी उजली माँग भी तो पगडडी ही थी।

इन पौराणिक दर्शनिक-प्रतीको और सदर्भों को कवि ने आधुनिक युग की प्रकृतिवादी नई शैली मे अभिव्यक्त किया है। इस सृष्टि का हेतु है ब्रह्म की इच्छा और उसकी इच्छा का हेतु है राधा (अपनी शक्ति या योगमाया)। इसी दर्शनिक तथ्य को 'सृजन-सगिनी' शीर्षक गद्यगीत मे कैसी आकर्षक काव्यमय सजीव शैली मे

प्रकट किया गया है ! —राधा कहती है "कौन है वह जिसकी खोज मे तुमने काल की अन्नत पगडडी पर सूरज और चाँद को भेज रखा है। कौन है जिसे तुमने झझा के उद्दाम स्वरो मे पुकारा है कौन है जिसके लिए तुमने महासागर की उत्ताल भुजाएँ फैला दी है। कौन है जिसे नदियो जैसे तरल घुमाव दे-देकर तुमने तरग-मालाग्रो की तरह अपने कठ मे, वक्ष पर, कलाईयो मे लपेट लिया है—वह मै हूँ मेरे प्रियतम ! वह मै हूँ, वह मै हूँ !"

'कनुप्रिया' को नवीनता प्रदान करने मे सर्वाधिक योग है 'अतिम इतिहास' और 'समापन' खण्डो का। विषय-वस्तु, भाव-बोध और शैली-शिल्प सभी दृष्टि से यह अतिम-अश कवि की मौलिक-कल्पना से ओतप्रोत है। यद्यपि भारती ने परपरा, इतिहास और सस्कृति के विपरीत यहाँ कृष्ण के चरित्र को कुछ दूषित दिखाया है और कनु के इतिहास-निर्माण-कार्य को केवल जन-सहारक युद्ध-रूप मान लेने की भूल की है, तथापि-इसमे सदेह नही कि परपरा से हटकर भारती ने एक ओर तो यहाँ राधा के चरित्र को ऊँचा उठाया है और उसकी नारी-उपेक्षा का भाव दूर किया है, दूसरे हिंसक युद्ध के प्रति वितृष्णा उत्पन्न कर आधुनिक भाव-बोध जगाया है। राधा केवल परपरागत कृष्ण-विलासिनी या कृष्ण-वियोगिनी ही बनी नही रहती, अपितु वह अब जीवन-पगडडी के कठिनतम मोड पर इसीलिए कनु की प्रतीक्षा मे खडी है कि जब इतिहास-निर्माण से खिन्न और असफल कनु लौटेगा तो वह इस बार इतिहास निर्माण मे भी उसका पूरा साथ देगी, उसे सफल बनायेगी। वह नही चाहती कि लोग उसके बारे मे यह समझते रहे कि राधा केवल कृष्ण-विलासिनी बन कर रह गई ! वह अब कनु के इतिहास मे भी गुथना चाहती है ! उस विश्वासमयी और प्रेमपूर्ण तन्यता तथा लीला-सहचरी शक्ति के बिना भला कनु के इतिहास का कोई अर्थ कैसे निकल सकता था ?

राधा कनु के युद्धायोजन तथा धर्माधर्म के निर्णय पर व्यग्य करती हुई नर-सहारक युद्ध के प्रति घृणा उत्पन्न करती है। राधा के प्रणय की यह अतिम उदात्त परिणति, उसके चरित्र मे यह नया मोड, उपेक्षिता-नारी के गौरव की रक्षा का भाव-युद्ध के प्रति वितृष्णा की भाव-जागृति तथा नई कलात्मक गद्यगीत-शैली आदि बातें 'कनुप्रिया' को आधुनिक कृति बनाती है, इसमे सदेह नही।

अधायुग अधायुग मे भी भारती ने युद्ध की विभीषिका का चित्रण कर उसके प्रति पाठक की वितृष्णा जगाई है। १८ दिन के भीषण युद्ध मे अठारह अक्षौहिणी सेना विनाश को प्राप्त हो गई ! कटे अग, छिन्न बदन और मृतक सैनिको से कुरुक्षेत्र की युद्ध भूमि अच्छादित हो गई। हस्तिनापुर मे प्रहरियो ने देखा कि अचानक आकाश मे अधेरा छा गया है, उन्होने समझा कि आकाश मे बादल छा गए है, पर वास्तव मे वे तो लाखो-करोडो गिद्ध थे जो अपने पख खोले कुरुक्षेत्र की ओर जा रहे थे।

हिंसा सहार, युद्धो का यह पिशाची क्रम मानवता को समूल नष्ट कर रहा है। मानव अपने शास्त्र -बल और सहारक आविष्कारो से मानवता के विनाश पर तुला हुआ है। प्राचीन ब्रह्मास्त्र आज के अणुबम की ओर सकेत करता है। व्यास के शब्दो मे आधुनिक युग के आणविक शस्त्रो की समस्या का युग-बोध कराया गया है

ज्ञात क्या तुम्हें है परिणाम इस ब्रह्मास्त्र का।
यदि यह लक्ष्य सिद्ध हुआ ओ नरपशु!
तो आगे आने वाली सदियो तक
पृथ्वी पर रसमय वनस्पति नही होगी
शिशु होगे पैदा विकलाग और कुष्ठग्रस्त
सारी मनुष्य जाती बौनी हो जायगी
जो कुछ भी ज्ञान सचित किया है मनुष्य ने
सतयुग मे, त्रेता मे, द्वापर मे
सदा सदा के लिए होगा विलीन वह
गेहूँ की बालो मे सर्प फुफकारेंगे
नदियों मे बहकर आएगी पिघली आग। —अधायुग, पृ० ९२-९३

निश्चय ही ये पक्तियाँ द्वितीय विश्वयुद्ध मे हीरोशिमा और नागासाकी (जापान) के एटमिक बमवर्षा से हुए विनाश की प्रतिक्रिया-सूचक है। अश्वत्थामा को फटकारता हुआ कवि व्यास के शब्दो मे कहता है "नराधम! ये दोनो ब्रह्मास्त्र अभी नभ मे टकरायेगे। सूरज बुझ जाएगा, धरा बजर हो जाएगी अश्वत्थामा! अपनी कायरता से तू मत ध्वस्त कर मनुजता को।"

अठारह दिन पूर्व जो सेना सज-धज कर युद्ध भूमि मे गई थी, वह अब छिन्न-भिन्न, विकलाँग भग्न-हृदय, कराहती-बिलखती, टूटे रथो और वाहनो पर अत्यल्प होकर, घटकर लौटती है। विधावाओ, अनाथो, पुत्रशोकाकुल माताओ की कातर पुकार ही युद्ध का कुपरिणाम निकलता है

खण्डित रथ टूटे छकडो पर लद कर
थे लौट रहे ब्राह्मण, स्त्रिया, चिकित्सक
विधवाएँ, बौने, बूढे, घायल, जर्जर
जो सेना रग-बिरगी ध्वजा उडाते
रौंदते हुए धरती को गगन कपाते
थी गई युद्ध को अठारह दिन पहले
उसका यह रूप हो आते-आते। —अधायुग, पृ० ४७-४८

इस प्रकार के भीषण युद्धो और नरसहार का कारण भारती ने मनुष्य का मर्यादा से गिर जाना ही बताया है। धृतराष्ट्र जब पराजय के भय और आशका से

ग्रस्त हो जाते हैं तो विदुर उनको बताता है कि इस भीषण कुपरिणाम की आशका तो भीष्म, द्रोण, कृष्ण आदि ने पहले ही व्यक्त कर दी थी । कृष्ण ने तो साफ चेतावनी दे दी थी कि "मर्यादा मत तोडो, तोडी हुई मर्यादा कुचले हुए अजगर-सी गुँजलिका मे कौरव-वश को लपेट कर सूखी लकडी-सा तोड डालेगी ।"

परपरा और मर्यादा मे ही मानव-मूल्यो का नवोत्थान होता है। इस तथ्य को प्रकट करते हुए प्रभु (कृष्ण) से कहलाया गया है

मेरा दायित्व वह स्थित रहेगा
हर मानव मन के उस वृत्त मे
जिसके सहारे वह
सभी परिस्थितियो का अतिक्रमण करते हुए
नूतन निर्माण करेगा पिछले ध्वसो पर
मर्यादा-युक्त आचरण मे
नित्य नूतन सृजन मे
निर्भयता के
साहस के
ममता के
रस के
क्षण में
जीवित और सक्रिय हो उठूँगा मै बार-बार । (वही पृ० १२७-२८)

अधे धृतराष्ट्र का अध-स्वार्थ ही, जो इतना आत्मकेन्द्रित हो गया था कि मर्यादा के कूल-किनारो का अतिक्रमण कर गया था, इस समूचे विनाश का कारण बना । आज के युग मे भी स्वार्थों का केन्द्रीकरण और उनकी परस्पर टकराहट ही विश्वयुद्धो को जन्म देती है । धृतराष्ट्र स्वीकार करते है कि मैंने अपने अंधेपन मे केवल अपने कुटुम्ब का ही स्वार्थ-साधन चाहा

पर वह संसार
स्वत मेरे अधेपन से उपजा था
मैंने अपने वैयक्तिक समवेदन से जो जाना था
केवल उतना ही था मेरे लिए वस्तु-जगत
मेरा स्नेह, मेरी घृणा, मेरी नीति, मेरा धर्म
बिल्कुल मेरा ही वैयक्तिक था
उसमे नैतिकता का कोई बाह्य माप-दण्ड था ही नहीं
कौरव जो मेरी मासलता से उपजे थे
वे ही थे अन्तिम सत्य

मेरी ममता की वही नीति थी
मर्यादा थी —अधायुग, पृ० १८

निरस्त्रीकरण आज के युग की विकट समस्या है। अणुबमो और हाइड्रोजन बमो के ज्वालामुखी पर टिका यह ससार किसी समय भी विनाश की अग्नि मे धू धू कर जल सकता है। शस्त्रास्त्रो की होड-सी लगी हुई है। भला मानवता अपने को कब तक बचाती रहेगी! ये शस्त्रास्त्र तो उनके लिए भस्मासुर ही प्रमाणित होगे। भारती ने प्रहरियो के कथन द्वारा शस्त्रास्त्रो के इस विघातक रूप की ओर सकेत किया है

अस्त्र रहेगे तो
उपयोग मे आएँगे ही
अब तक वे अस्त्र
दूसरो के लिए उठते थे
अब वे अपने ही काम आएँगे।

इस प्रकार 'अधायुग' मे हिंसा, रक्तपात, युद्ध, स्वार्थ, मर्यादाहीनता आदि दुर्वृत्तियो के प्रति पाठक की उदात्त-घृणा जगाकर भारती ने आधुनिक भाव-बोध का अच्छा परिचय दिया है। परपरागत महाभारत-कथा के सदर्भ से कवि ने आधुनिक युग की समस्याओ का पूरा सकेत दिया है।

सियाराम शरण गुप्त-रचित 'उन्मुक्त'· इस सदर्भ मे मेरा ध्यान श्री सियाराम शरण गुप्त की रचना 'उन्मुक्त' पर जाता है। नयी कविता के हिमायतियो मे से किसी ने भी सियाराम शरण गुप्त के उन्मुक्त' काव्य को 'नयी कविता' के अन्तर्गत सम्मिलित नही किया, यद्यपि 'उन्मुक्त' मे युद्ध की विभीषिका और हिंसा का अधिक मार्मिक चित्रण हुआ है। मैं समझता हूँ कि द्वितीय महायुद्ध की प्रतिक्रिया मे रची गई सियाराम शरण गुप्त की यह रचना सर्वथा आधुनिक है और नयी कविता के अतर्गत सम्मिलित किये जाने का उतना ही प्रबल अधिकार और दावा रखती है जितना श्री धर्मवीर भारती की 'कनुप्रिया' या 'अधायुग', अथवा कुँवरनारायण का 'आत्मजयी' हम जानते है कि 'नयी कविता-वादी' छाप वाले कवि और उनके सजातीय आलोचक या समर्थक मेरे इस कथन पर चौकेंगे और नाक-भौं चढायेंगे। पर चाहे उन्हे शोक का कितना ही झटका क्यो न लगे, इस कटु सत्य को उन्हे निगलना ही होगा। सियाराम शरण की यह कृति आधुनिक भाव-बोध की उतनी ही पूर्ण परिचायक है जितना 'नयी कविता' के अन्तर्गत गिनाई गई श्रेष्ठ रचनाएँ।

द्वितीय विश्व-युद्ध ने ससार-भर को आन्दोलित कर दिया था। भीषण जन सहार तथा विध्वस से मानवता कराह उठी थी। युद्ध की लपटे यद्यपि प्रत्यक्ष-रूप से भारत मे विनाश-लीला नही कर रही थी, तथापि विदेशी सरकार की दमन-नीति

था विश्व-युद्ध के लिए भारतीय सैनिको तथा धन-सामग्री आदि का निर्ममता-पूर्वक पयोग भारतीयो के लिए एक भयकर सकट की स्थिति थी। नाज़ियो और फासिस्टो विश्व-व्यापी आतक और महायुद्ध की परिस्थितियो की पृष्ठ भूमि मे ही 'उन्मुक्त' ाव्य की रचना हुई थी। श्री मैथिलीशरण गुप्त ने 'उन्मुक्त' की आरभिक 'स्थापना' ा कहा है, "ससार मे इस समय जो घोर हिसाकाण्ड हो रहा है, जिस प्रकार निरीह ागरिको की हत्या की जा रही है और विज्ञान का दुरुपयोग करके जैसा पैशाचिक लय मचाया जा रहा है, उसे देखकर जिसने अपने मारक रोग (श्वाश रोग) की पेक्षा करके विरुद्ध अपने पाठको की सहानुभूति प्रबुद्ध करने का प्रयत्न किया है, मेरे नकट स्वय सफलता से उसके उद्योग का मूल्य अधिक है।" ('उन्मुक्त' स्थापना, [० ४)। जरा कल्पना कीजिए युद्ध की आमानुषिक घटनाएँ, भीषण नर-सहार, वध्वस और विनाश, वैज्ञानिक आविष्कारो और शक्ति का दुरुपयोग और ये सब टनाएँ-सूचनाएँ टकराती है श्वास रोग से पीडित कवि-मानस से। उस कवि-मानस से ो गाँधीवादी सत्य और अहिसा की शाँत लहरियो मे सोता था। सहज, शाँत विक्षोभ ौर आन्दोलन स्वाभाविक था। कल्पना दौडी और 'उन्मुक्त'! बस 'उन्मुक्त' रचा ाया!!

'उन्मुक्त' मे कवि सियाराम शरण ने हिंसा का खण्डन करने, अत्याचारी ाक्रमणकारी की स्थान-स्थान पर भर्त्सना करने मे अपूर्व सफलता प्राप्त की है। ौह द्वीप द्वारा स्वर्णद्वीप का विध्वस और लौह-द्वीप के सैनिको-द्वारा हेमा पर किए ए अत्याचारो की कवि ने खूब निंदा की है—

कुछ ही क्षण उपरात एक अर्द्धांश नगर का
ध्वस्त दिखाई दिया चिकित्सालय, विद्यालय,
पूजालय, गृह भवन, कुटीरो के चय के चय
गिरकर अपनी ध्वस चिताओ मे थे जलते,
कही उजलते, कही सुलगते, धुआ उगलते।
हेमा का अपराध अरे कैसा—तब भी वह
जीवित थी दब नहीं गई

× × ×

बोला मै—धिक्-धिक्
कुत्सित घृण्य जघन्य अरे ओ उच्च सास्कृतिक,
तुम ऐसे हो!" —उन्मुक्त, पृ० ४८-४९

मरणासन्न शत्रु-सैनिक को अपनी मानवता का अमृत-रस पिलाकर जिस प्रकार ुणधर वैर भाव से ऊपर उठकर, उसे बचाना चाहता है, वह मनुष्यता का उच्चतम ोपान है। पर हिंसावादी शत्रु-सैनिक किस प्रकार प्रति हिंसा और द्वेष की अग्नि से

ग्रस्त है और कैसे वह जीवनदान कराने वाले गुणधर पर भी घातक आक्रमण करत है, इस हिंसक मनोवृत्ति का कवि ने इन पक्तियो मे मार्मिक चित्रण किया है—

मै विस्मित रह गया देख उस मुख की भगी,
जो पीडा, जो कष्ट हुए थे उसके अगी,
सकल तिरोहित हुए आतकित रोषोदय मे ।
जैसे कही सुनील विकम्पित सलिलाशय मे
सहसा लोडन हुआ किसी क्रोधान्ध मकर का,
उठ आया सब पक कही के नीचे स्तर का ।
सभल न पाया, हुआ मुझे इतना ही भासित,
उसने ऊँचा किया एक कर अपना कम्पित
और एक विस्फोट सुनाई दिया, उसी क्षण
मै पृथिवी पर पतित हुआ होकर हतचेतन । —वही, पृ० ७

कवि ने लौह-द्वीप-द्वारा मानवता के विनाश की होली का बडा ही कारुणि चित्र कई स्थानो पर प्रस्तुत किया है, जिससे हिसा, क्रूरता, पशुता, युद्ध, अत्याचा और दानवता के प्रति पाठक की घृणा जगाई है। पुष्पदत कहता है कि युद्ध मे हमार हार का कारण यही रहा कि "हममे कपट, असत्य, पाशविक-हिसा का बल वैर जितना न था ।"

सियाराम शरण गुप्त ने 'उन्मुक्त' मे यह प्रश्न उठाया है कि एक नृशस हिसा वादी, शक्तिशाली आक्रमणकारी से प्रतिकार का क्या उपाय है? लौहद्वीप मानव राक्षस बन गया है। अपनी दानवी प्यास बुझाने के लिए उसने विश्व भर मे आग्ने अस्त्रशस्त्रो से अनेक देशो पर आक्रमण कर दिया है। ताम्र द्वीप, रौप्यद्वीप, स्वर्ण द्वी आदि का विध्वस करता हुआ वह अपनी शक्ति के नशे मे चूर कुसुमद्वीप पर भी अ चढा है। पुष्पदत आदि राष्ट्रवीरो के सम्मुख प्रश्न था कि वे लौहद्वीप के सम्मुख कायरता-पूर्वक आत्मसमर्पण कर दे अथवा युद्धभूमि मे अपनी जान की बाजी लगाक शत्रु का सामना करे; परतत्र हो जाये या देश की स्वतन्त्रता-रक्षा के लिए सर्वस्व न्यौछावर कर दे? कायरता पूर्वक आत्मसमर्पण करना वे नही चाहते। किन्तु आधु निकतम सहारक अस्त्र-शस्त्रो से युक्त लौह द्वीप से वे पार नही पा सकते थे, अत पराजित होते है। पुष्पदत इन हिसा-कारक अस्त्रो के प्रयोग को अनुचित बताता हुआ कहता है :

"वैसे मारकास्त्रो का प्रयोग रण-स्थल मे
वीरोचित कार्य नही; यह है अधम की
हिंसा नीति, शूरता जो, दीखती उसमे
यह छलना है, भीरुता है छद्मरुपिणी ।" —पृ० १३१

अत मे कवि इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि हिंसानल से हिंसानल शाँत नही होता। आधुनिक वैज्ञानिक सहारकस्त्र भस्मासुर की भाति निर्माता के लिए आत्म-विनाश के ही द्योतक सिद्ध होते है। जलन्त-द्वारा निर्मित भस्मक यत्र शत्रु की बजाय कुसुमद्वीप का ही नाश कर डालता है। पुष्पदत अपनी हार से शिक्षा प्राप्त करता हुआ हिंसा और प्रतिहिंसा का विरोध करता है

इस अविजय मे बात आज यह हमने जानी—
प्रतिहिंसा मे छिपा हुआ निज का अभिमानी
कोई हिंसक क्रूर स्वय हममे बैठा था,
जो बैरी मे, वही हमारे मे पैठा था।
हार हमारी हुई, हेतु इस का है केवल—
हमने कपट, असत्य, पाशविक हिंसा का बल
वैरी जितना न था
× × ×
हिंसानल से शात नहीं होता हिंसानल,
जो सबका है, वही हमारा भी है मगल।
मिला हमे चिरसत्य आज यह नूतन होकर—
हिंसा का है एक अहिंसा ही प्रत्युत्तर।" (पृ० १६१-१६३)

इस प्रकार 'उन्मुक्त' मे वर्तमान काल की युद्ध, हिंसा, आणविक शस्त्रास्त्रो समस्या का सुन्दर प्रतिपादन हुआ है, जो निश्चय ही 'उन्मुक्त' को 'नयी कविता' की परिधि मे सम्मिलित करता है। 'उन्मुक्त' मे आधुनिक भाव-बोध की ही प्रबलता है।

यह निर्विवाद सत्य है कि नयी कविता का मूल्य-मापन आधुनिक जीवन-बोध पर ही निर्भर है। आधुनिक जीवन अत्यन्त जटिल हो गया है। मानव आज पुराने परिवेश मे नही जी रहा उसके सदर्भ बदल गए है। यत्र-युग ने उसे आत्म केन्द्रित कर दिया है। आज का मानव अपने मे इतना केन्द्रित हो गया है कि उसकी आत्मा मे आलस्य और कुठा जड हो गई है। बहुत बार यह मानव अपने मे ही खोया रहता है। चाहकर भी दूसरो की भलाई नही कर पाता, चाहते हुए भी किसी अन्य की सहायता नही कर पाता। अपने अदेशो मे जकडा वह अपना द्वार किसी अपरिचित को आश्रय देने के लिए नही खोल पाता। आधुनिक मानव की इस मजबूरी का आत्मग्लानि या आत्म-विवशता के रूप मे मार्मिक चित्रण निम्न कविता मे किया गया है—

पूर्व से हवा का एक तेज झोका
सहमा हुआ आसपास चौंका

हवा घर से होकर कुछ इसी तरह निकली
गोया कि पूरे मकान ने एक गहरी सास ली ।
× × ×
बेतहाशा चारो ओर
पानी गिरने का शोर ।
एकाएक मुझे कुछ ऐसा अहसास हुआ
जैसे किसी ने आहिस्ता से साकल को छुआ ।
× × ×
एक अज्ञात भय कहता रहा कि दरवाजा न खोलू
इसी मे खैरियत है कि चुप पडा रहूँ—न बोलू ।
× × +
मै दम साधे खडा रहा
आगतुक पानी मे खडा रहा ।
सारी परिस्थिति की एक और भी सूरत थी—
शायद उस आदमी को मदद की जरूरत थी । —परिवेश हम-तुम

आधुनिक भाव-बोध का यह एक मार्मिक चित्र है । आधुनिक युग की सशय-शीलता, आलस्य-जडता, मनुष्य की आत्मव्यस्तता और स्वार्थपरता के साथ-साथ उसकी बौद्धिक सजगता का कवि ने एक सुन्दर भाव-चित्र इस कविता मे प्रस्तुत किया है । पूछा जा सकता है कि इस अनुभूति का उदात्त रस-सिद्धान्त से क्या सम्बन्ध है ? या उदात्त रस-सिद्धांत की दृष्टि से इस कवि अनुभूति की व्याख्या कैसे की जा सकती है ?

इसमे सदेह नही कि परिनिष्ठित रस की दृष्टि से तो हमे इसकी व्याख्या करने मे विफलता ही प्राप्त होगी, पर उदात्त रस-सिद्धान्त का जो क्षेत्र विस्तार हम पीछे कर आए है, उसकी दृष्टि से इस अनुभूति की सुन्दर व्याख्या सभव है । निश्चय ही कवि यहाँ वर्तमान जीवन की विडम्बना का बोध कराना चाहता है जिसमे हम चाहते हुए भी किसी जरूरत-मद की सहायता नही कर पाते और आत्मकेन्द्रित हुए अपने ही आलस्य और बोझो मे दबे अकेले पडे रहते है । निश्चय ही इस अनुभूति को जगाने का उद्देश्य युग की ऐसी परिस्थिति और उसमे ग्रस्त मानव के प्रति अरुचि और भर्त्सना जगाना ही है । अत इस अनुभूति के उदात्त रूप मे किसी को सदेह नही हो सकता कवि ने हमारी अरुचि जगाकर ऐसी अवस्था से विद्रोह करने की ही प्रेरणा दी है । कवि ने हमारे ठीक घाव पर उँगली रख दी है और आधुनिक जीवन की इस विडम्बना के प्रति भर्त्सना जगाई है ।

'मुक्तिबोध', अज्ञेय, अजितकुमार, कैलाश वाजपेयी, भवानी प्रसाद मिश्र आदि नये कवियो की ऐसी ही आधुनिक भाव-बोध से परिपूर्ण रचनाएँ 'नयी कविता' का शृगार है । उदात्त रस-सिद्धान्त से आधुनिक भाव-बोध का कोई विरोध नही । वस्तुत ऐसी कोई सच्ची अनुभूति हो ही नही सकती जो किसी उदात्त भाव को न जगाए । कुछ लोग कहने लगे है कि नयी कविता मे साधारणीकरण का विचार नही किया जा सकता । मैं समझता हूँ कि ऐसा सोचना भी भ्राति ही है । साधारणीकरण की दिशाएँ और रूप भी युगानुभूतियो के अनुसार बदलते रहते हे । आज के काव्य मे साधारणीकरण का भी रूप बदला हुआ हो सकता है, पर साधारणीकरण का अभाव मानना भ्राँति ही हे । आज के युग की विचित्रताओ के कारण हम उन विचित्रताओ से ही साधारणीकरण करते ह । बिना कवि अनुभूतियो से तादात्म्य हुए किसी किसी कविता की सार्थकता कैसे मानी जा सकती है ?

मुक्तिबोध का यथार्थ वस्तुत आधुनिक युग का साधारणीकरण यथार्थ की धरातल पर ही सभव है । मुक्तिबोध न इस युग-यथार्थ को ही अपनी कविता का आधार बनाया है । जीवन के वर्तमान अभाव दैत्य-अपमान, मृत्यु सब उन्हे एक पागल यथार्थ का पहाड प्रतीत हुए है—

> **आज के अभाव के, प कल के उपवास के**
> **व परसो की मृत्यु के**
> **दैन्यके, महा अपमान के, व क्षोभपूर्ण**
> **भयंकर चिता के उस पागल यथार्थ का**
> **दीखता पहाड—**
> **स्याह ।**

'मृत्यु और कवि' कविता मे मुक्ति-बोध ने जीवन की विपमता, क्षणभगुरता के प्रति करुणा जगाकर भी कवि-मानस की आशामयी उदात्त भाव-वृत्तियो को जगाया है । कवि अपने जीवन की यथाथता से क्षुब्ध हो कुछ निराशावादी-सा होने लगना है तो मुक्तिबोध उसे केवल मृत्यु का गीत गाने की बजाय "सृजनशील जीवन के स्वर मे सुन्दर मरणगीत गाने को कहते हे ।" उनका कवि से अनुरोध है कि वह "जीवन के इस वीभत्स प्रसग मे भी अत्यन्त स्वतन्त्र और निराकुल रहे और अपनी अनास्था-भावना से युग-युग की जीवन-साधना को भ्रष्ट न होने दे

> **घनी रात, बादल रिमझिम है, दिशामूक, निस्तब्ध वनान्तर**
> **व्यापक अधकार मे सिकुडी सोयी नर की बस्ती, भयकर**
> **है निस्तब्ध गगन रोती-सी सरिता-धार चली गहराती,**
> **जीवन-लीला को समाप्त कर मरण-सेज पर है कोई नर ।**

बहुत सकुचित छोटा घर है, दीपालोकित फिर भी धुंधला,
वधू मूर्छिता, पिता अर्द्धमृत, दुखिता माता स्पन्दनहीना।
घनी रात बादल रिमझिम है, दिशा मूक, कवि का मन गीला।
"यह सब क्षणिक, क्षणिक जीवन है, मानव जीवन क्षणभगुर,"
ऐसा मत कह मेरे कवि, इस क्षण सवेदन से हो आतुर
जीवन-चिंतन मे निर्णय पर अकस्मात् मत आ, ओ निर्मल।
इस बीभत्स प्रसग मे रहो तुम अत्यन्त स्वतन्त्र निराकुल,
भ्रष्ट न होने दो युग-युग की सतत साधना महाराधना
इस क्षण-भर के दुख-भार से, रहो अविचलित, रहो अचचल।

× × ×

दो सौ वर्ष आयु यदि होती तो क्या अधिक सुखी होता नर ?
इसी अमर धारा के आगे बहने के हित यह सब नश्वर,
सृजनशील के स्वर मे गाओ मरण-गीत तुम सुन्दर।

—तार सप्तक पृ० २०

'मुक्तिबोध' आदि इन श्रेष्ठ नये कवियो की ऐसी प्रेरणापूर्ण आस्थापूर्ण रचनाए ही 'नयी कविता' के आधुनिक भाव-बोध को उदात्त बनाती है। जीवन की अजस्र-अखण्डित धारा मे कवि का अटूट विश्वास है। यथार्थ की विभीषिका से भी शक्ति सचित करना इसे ही कहते है।

गजानन मुक्तिबोध ने अपनी कई कविताओ मे आत्मसवेदन को सामाजिक परिवेश मे व्यक्त किया है। इस सामाजिक परिवेश के कारण उनकी कई कविताएँ लम्बी हो गई है। उन्होने स्वय स्वीकारा है "जीवन और परिवेश की विषमता की यह स्थिति आभ्यतर लोक मे भी दु स्थिति उत्पन्न करती है, यह एक दारुण सत्य है। मै कहूँ कि यह मेरा अपना भी सत्य है। परिणामत स्वाधीनता के इस युग मे मेरी कविता सघन बिम्ब-मालिकाओ मे अधिकाधिक प्रकट होने लगी। अचानक अन्तर्मुख दशाएँ और भी दीर्घ और गहन होती गई। किन्तु यह भी एक सत्य है कि इस आत्मग्रस्तता के बावजूद और शायद उसको साथ लिये-लिये मेरा आत्म-सवेदन समाज के व्यापकतर छोर छूने लगा। कविता का कलेवर भी दीर्घतर होता गया। परिणामत मेरी कविताएँ कदाचित् मासिक पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशन के योग्य भी नही रह गई है।" (तार-सप्तक, द्वितीय सस्करण, पृ० ३७-३८)

'चाद का मुंह टेढा है' सग्रह की 'अधेरे मे' शीर्षक कविता लगभग ५० पृष्ठो की मुक्तिबोध की सबसे लम्बी कविता है। इसमे सामाजिक यथार्थ के कुछ अच्छे चित्र हैं जो उदात्त भावानुभूति जगाते है।

'नयी कविता' का रोमानी भाव-बोध छायावादी रोमानियत से कुछ अधिक भिन्न नही है। केवल उसमे कुछ यथार्थ का अंश अपेक्षाकृत अधिक सम्मिलित हो

गया है। कु वर नारायण की 'जाडो की एक दोपहर' कविता की निम्न पक्तिया देखिए—

दूर का अविरोध फैला क्षेत्र, बेतरतीब
वृक्षो की क्षितिज की मेड पर कुछ भीड।
चुहलते पक्षियो की तोतली कविता
पवन की लोरियो मे ऊँघती सरिता।
बरसती दृष्टि के उस छोर तक अविराम
जाडो की उजागर गुनगुनी सी घाम··· ···
रुको प्रिय ''
विश्राति की इस अरौंदी छाया तले
भूल जायें कुछ क्षणो को हम हृदय के भार,
सभ्यता की परिष्कृति से दूर
आओ, हम बनें इस शाति के दो नये साझीदार।

—'नयी कविता,' अक १

इस कविता की रोमानी प्रवृत्ति पत जी की "रहने दो गृह काज, आज, प्रिय रहने दो गृह काज" (गु जन) कविता से मिलती-जुलती है। अ तर केवल यह है कि यहाँ प्रकृति का पत-जैसा मादक चित्रण नही बन पडा है, पर यथार्थ की अभिव्यक्ति 'हृदय के भार' और 'सभ्यता की परिष्कृति से दूर'-जैसे कथनो मे अधिक भावपूर्ण और मार्मिक हो गई है।

'नयी कविता' की रोमानियत नये बिम्बो और प्रतीको के सहारे एक मार्मिक भाव-चित्र ग्रहण करती है। कु वर नारायण की ही निम्न कवितामे अतृप्त प्यार की खण्डित आत्मा के दर्द का यह भाव-चित्र देखिए, कितना भव्य है!—

चाँदनी सित-रात चितकबरी,
डसे भूखंड की गजी सतह पर
खोह-से खण्डहर
कपालो मे धंसा ज्यो रेंगता मनहूस अधियारा।
अचानक चौंक कर बुत-छांव में
दो पंख फडके,
ज्यों किसी स्मृति ने कंगूरों पर खड़े हो
दूर की महराब मे घुसती हुई
प्रेतात्माओ को पुकारा :
"प्यार की अतृप्त, खंडित आत्मा,
आश्वस्त हों ········ · ·
वह दर्द जीवित है तुम्हारा।"

इस कविता मे पहले एक पक्ति मे चितकबरी नागिन-सी सितरात का बिम्ब प्रस्तुत किया गया है। फिर इस नागिन से डसी हुई मूर्छित (रात्रि के सन्नाटे) धरती की गजी सतह (अर्थात् सपाट मैदान) पर खोह-से खण्डहरो की खोपडियो मे व्याप्त मनहूस अधेरे का बिम्ब प्रकट किया गया है। खण्डहर के भयावह वातावरण की सजीव सृष्टि हुई है। अचानक एकाकी पक्षी का चौंक कर पख फडकाना एक प्रतीक है—बिछुडे हुए भयभीत व्यथित प्रेमी का। भटकी हुई प्रेतात्मा प्रिय की है। स्मृति का मानवीकरण करते हुए कवि ने प्यार की अतृप्त और खण्डित आत्मा (प्रिय की प्रेतात्मा) को आश्वसित कराया है कि वह चाहे नि शेष हो गई पर उसका दर्द जीवित है।

आधुनिक जीवन के तनाव, अकेलेपन, कुठा, घुटन, विवशता, कृत्रिमता, स्वार्थपरता आदि का मुक्तिबोध ने सर्वाधिक यथार्थ चित्रण किया है। इस चित्रण की बडी विशेषता यह है कि कवि स्वय अपने को भी नही बख्शता, अपनी दुर्बलता पर भी करारी चोट करता है। उनका 'सिरफिरा पागल' गाता है—

ओ मेरे अदर्शवादी मन,
ओ मेरे सिद्धातवादी मन,
अब तक क्या किया ?
जीवन क्या जिया !
उदरम्भरि बन अनात्म बन गए,
भूतो की शादी मे कनात-से तन गए,
किसी व्यभिचारी के बन गए बिस्तर,
दुखो के दागो को तमगो-सा पहना,
अपने ही ख्यालों मे दिनरात रहना,
अब तक क्या किया, जीवन क्या जिया ?
ज्यादा लिया और दिया बहुत-बहुत कम
मर गया देश, अरे, जीवित रह गए तुम······

ब्रह्मवादियो ने जिसे परमात्मा माना है, उस आज की आत्मा का यह व्यग्य-चित्र कितना मार्मिक है!—

पर तुम भी खूब हो,
देखो तो—
प्रतिपल तुम्हारा ही नाम जपती हुई
लार टपकाती हुई आत्मा की कुतिया······
राह का हर कोई कुत्ता जिसे छेड़ता है, छोंकता

—एक अरूप शून्य के प्रति

'नयी कविता' मे वस्तुत सामाजिक और वैयक्तिक जीवन की विद्रूपता और विषमता को इन तीन भाव-सवेदनाओ के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। एक

तो बुराइयो-त्रुटियो के प्रति व्यग्यपूर्ण अरुचि और घृणा-भाव जगाने के रूप मे, दूसरे हल्के हास्य-व्यग्य रूप मे, और तीसरे, यथार्थ और विषमता का कारुणिक चित्र उपस्थित करके। जीवन की आधुनिक विषमता, तनाव, घुटन आदि की कोई ऐसी ईमानदारी से पूर्ण अभिव्यक्ति नही हो सकती जो इन भाव-सवेदनाओ से असम्पृक्त हो। अत आधुनिक भाव-बोध का कोई ऐसा रूप सच्ची अनुभूति का द्योतक नही हो सकता जो उदात्त भावनाओ से दूर हो।

आधुनिक भाव-बोध के इस प्रयोग मे नये-पुराने के झगडे पर भी दृष्टिपात करना आवश्यक है। नये-पुराने के झगडे का मूल कारण यह है कि नवतावादी और पुरातनपथी दोनो अपने-अपने पृथक्-पृथक् ध्रुवो पर खडे है। कुछ कट्टर नवलेखनवादी अपने नवलेखन की ही डोडी पीटते नही थकते और जो पुराना है, उस सबको नकारते है . पुराने के पीछे लाठी लेकर पडे हुए है। पुराना साहित्य, पुराने साहित्य-मूल्य उन्हे सब बेकार लगते है। रस के नाम से उन्हे विच्छी काटती है, साधारणीकरण थोथा राग लगता है, छन्द-बध से मितली आती है! यह तो ठीक है कि जीवन के अनेक सदर्भ, अनेक जीवनादर्श और मूल्य आज बदल गए है, उनका स्थान नया जीवन और नये जीवन-मूल्य लेंगे ही, पर इस विकास और परिवर्तन-प्रक्रिया मे उस पुराने का भी महत्त्व है। उसी की नीव पर तो नव-निर्माण होता है। इसके अतिरिक्त बहुत-सी पुरानी धारणाएँ आज भी उतनी ही मूल्यवान् है जितनी पूर्व युग मे थी। उनके महत्त्व को अस्वीकार करना आत्मवचना ही है। हर युग मे भाव-सवेदनाओ के आलबन, सन्दर्भ और विषय-रूप बदलते है, पर घृणा, प्रेम, करुणा, उत्साह, साहस, विस्मय, गर्व, लज्जा, आसक्ति, विरक्ति, क्रोध, भय, हास्य-व्यग्य आदि विविध उदात्त भाव-वृत्तिया और सवेदनाएँ तो सबदिन रहेंगी और रहती है। साहित्य नया हो या पुराना—इन उदात्त भाव-सवेदनाओ का आदर करना बहुत जरूरी है।

श्रीकात वर्मा ने अपने 'नयेपन' के दुराग्रह मे ही फतवा दे डाला कि समूचा छायावादी काव्य अयथार्थ और 'सवेगहीन' है! वह काव्य नही, काव्य की भूमिका है!! यह कितनी थोथी बात है! असलियत यह है कि अधिकाश 'नयी कविता' न केवल छायावाद की ऋणी है, अपितु छायावाद का ही नया विकास है। बहुत-सी छायावादी सवेदनाओ को नये कवियो ने ज्यो-का-त्यो अपनाया है। स्वच्छन्द छन्द शैली, सूक्ष्म भावाभिव्यजना, नये उपमान-प्रतीक, नई गीतिशैली आदि कितने ही कला-साधनो की दृष्टि से छायावाद ही नये कवियों का मुख्य प्रेरणा-स्रोत प्रतीत होता है। फिर न जाने क्यो 'नये' के आग्रह की नोंक-झोक मे छायावाद को अस्वीकारा जा रहा है!

इसी प्रकार ऐसे पुरातनपथी भी हैं जो नये साहित्य को पढ़ना तक गवारा नही करते। ऐसे लोगो ने बस एक ही धारणा अपने मन मे जड़बद्ध कर ली है, और

वह यह है कि 'नयी कविता' बकवास है, नवलेखन पाखड है। ऐसे लोगो से काव्य की नव प्रगति समझने की क्या आशा की जा सकती है ? 'नयी कविता' के नये जीवन-सदर्भो, नई यथार्थ दृष्टि, तथा नये काव्य-प्रयोगो को देखने-समझने मे वे सर्वथा असमर्थ होते है। वे पुराने का ही राग अलापते रहते है। छायावादी काव्य के समर्थको को छायावाद ही चरम उपलब्धि प्रतीत होता है।

नवलेखनवादियो मे कुछ ऐसे भी है जो 'प्रतिष्ठा के भूखे' हैं। ऐसे लोग अपने को उछालने की पूरी कोशिश करते है। वे उखाड-पछाड का रास्ता अपना कर अपना 'इमेज' बनाना चाहते है। वे'आधुनिक' या समसामयिकता के नये-नये आन्दोलन चलाने का प्रयत्न करते रहते है अपने नये-नये गुट बनाते और जोड-तोड करते रहते है। कोई 'विजप' का जप रचाता है तो कोई 'नकेन' का नारा बुलन्द करता है। कभी अकविता की आवाज उठाई जाती है, तो कभी 'सचेतन' आन्दोलन चलाने का प्रयास किया जाता है। कैरियरबाजी का रोग महामारी की तरह फैल रहा है। 'नयी कविता' या नव लेखन को पुराने कवियो या पुराने समीक्षको से इतना खतरा नही है, जितना उन्हे अपने ही हमदम इन कैरियरबाज नवलेखको से है।

नयी कविता पर अतिशय बौद्धिकता, विदेशी अन्धानुकरण, परम्पराहीनता, दुरूहता, निरुद्देश्यता तथा नीरसता आदि के जो आरोप और आक्षेप लगाये गए है, उन मे भी सत्यता है, पर समस्त नयी कविता या नवलेखन को इन्ही आरोपो से जकडकर हेय मान लेना सर्वथा अन्याय है। गत २५ वर्षों से इन समस्त आक्षेपो-आरोपो के बावजूद भी यदि नयी कविता पूरे दमखम से जीवित ही नही, अपना सिर ऊपर उठाये हुए है और पुराने-नये सभी आलोचको और साहित्यकारो की विचारोत्तेजना का विषय बनी हुई है तो यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि उसमे ऐसा कुछ अवश्य है जो कालजयी है, जो मूल्यवान् है। अवश्य ही उसमे काफी-कुछ उपेक्षणीय या मूल्यहीन भी है। पर जो मूल्यवान है उसकी रक्षा और सवर्धन का दायित्व हमे अवश्य निभाना चाहिये, अन्यथा हम अपने युग के आत्महता कहे जायेंगे।

निष्कर्ष यह है कि नये-पुराने का झगडा व्यर्थ है। परम्परा से विच्छिन्न होकर कोई नया नही पनप सकता। साथ ही रूढिबद्ध परपरा ठहरा हुआ सडाधयुक्त पानी ही बनती है। आधुनिक भाव-बोध से तात्पर्य है वर्तमान जीवन की समस्याओ, स्वातन्त्र्योत्तर भारत की आकाक्षाओ, भारतीय जीवन के तनाव और सघर्ष तथा नई सवेदनाओ की अभिव्यक्ति। जो कवि अपनी रचना मे आधुनिक जीवन के नये मूल्यो, नई भाव-सवेदनाओ, वर्तमान जटिल परिस्थितियो, तनाव और सघर्ष, मानवीय पीडा और विकलता का संवेदनापूर्ण चित्रण करता है और अपने इस चित्रण के अनुरूप शैली-शिल्पगत नये प्रयोग करता तथा भाषा-शैली का नवसस्कार करता है वही 'नया कवि' कहलाने का अधिकारी है।

। ११ ।

अकविता-एक फैशन

जैसाकि कहा जा चुका है, नयी कविता का जादू कुछ ऐसा सिर चढ कर बोला है कि सब को 'नया कवि' कहलाने और हडबडी पैदा करने की चसक-सी लग गई। छटे-छमाहे 'नयी कविता' के नाम पर एक-न-एक आदोलन छेड दिया जाता है। इस प्रवृत्ति के मूल मे कैरीयरबाजी ही मुख्यत काम कर रही है। नये-नये कवि प्रतिष्ठा की भूख के मारे जोड-तोड भिडाने और उखाड-पछाड मे प्रवृत्त हो जाते है। 'अकेला चना भाड नही फोड सकता' की कहावत को मानते हुए ये तीन-तीन, चार-चार का गुट बनाकर नया आन्दोलन छेडने की फिराक मे रहते है। हिन्दी मे ऐसा ही एक शोशा छेडा अकवितावादियो ने। पश्चिम के ऐंटी-पोइट्री (Anti-Poetry) आदोलन से प्रेरणा और दिशा पाकर कुछ युवा कवियो ने हिन्दी मे भी 'अकविता' का राग बजाना आरम्भ किया। इन्होने सभवत समझा होगा कि 'नयी कविता' घूरे के ढेर पर टिकी है कि जहाँ चढकर बाँग देने से हर मुर्ग सिद्ध हो जायगा।

अकवितावादी कवियो की यह हडकम्पी कि हम नये मुहावरे ला रहे है, ऐंटी-रोमाटिक प्रवृत्ति रखते है, तनाव और जटिलताओ के सरलीकरण के पक्षपाती है, शायद चल जाती जैसे अज्ञेय के 'सप्तक' चल निकले थे, पर इस बार इसका सामना 'पुराने खेवे' के आलोचको और कवियो से नही था, अपितु अपने ही प्रतिद्वन्द्वियो—नयी कवितावादियो—से था। 'नयी कविता' के विचारको और सरक्षको की गुटबदी को सभवत इस नये गुट से खतरा प्रतीत हो गया। फलतः 'अकविता' आदोलन को पहला कशाघात 'नयी कविता' के हिमायतियो से ही मिला। अज्ञेय, मुक्तिबोध, शमशेर आदि के समर्थक और सहधर्मी श्री अशोक वाजपेयी का कथन देखिए

"तथाकथित 'अकविता' सप्रदाय के कवियो पर विचार करते समय इन बातों को याद रखना जरूरी है (कि "सुविधाजनक उठाईगीर सभ्यता के रहते सच्ची कविता सभी मानवीय सरलीकरणो के विरुद्ध खड़ी हो कर ही अपनी नियति चरितार्थ कर सकती है।") सिर्फ इसलिए ही नही कि ज्यादातर अकवि महानगरो मे रहते हैं और वहाँ जाने के पहले अक्सर छोटे शहरो मे थे। बल्कि इसलिए भी कि, बावजूद अपने ऐंटी-रोमेटिक होने की घोषणाओ के जो उनमे से कुछ पिछले दिनों अपने वक्तव्यो मे करते रहे हैं और उनकी मूल कस्बाई भावुकता उनके तथाकथित महानगर-बोध के सामने सयमित या तनावपूर्ण न होकर दरअसल और अधिक सतही और लिजलिजी हो गयी है। भयावह प्रतीको और थोडा-बहुत चौंकाने वाली बिम्बमाला का सहारा

लेकर तेजतर्रार कविताएँ लिखने की कोशिश इस सचाई को दबा नही पाती कि उन का भाव-बोध अतिरजना और भाव-स्फीति पर आधारित है।"

अपने इस कथन को पुष्ट करने के लिए श्री अशोक वाजपेयी ने गगाप्रसाद विमल, जगदीश चतुर्वेदी, श्याम परमार की कविताओ के कुछ अश उद्धृत किये हैं। जगदीश चतुर्वेदी की महानगर-बोध से सम्बधित कविता की ये पक्तिया उद्धृत की गई हैं।

रोती है विधवाएँ
चीखते है नाजायज बच्चे
और धूमकेतु-सा बढ रहा हूँ मै
लीलने नगर का सुख
औरतो का कौमार्य
और पलने मे सोए बच्चो की माताओ का सतीत्व।

अकविता और उसके हामी कवियो की कटु आलोचना करते हुये नयी कविता वादी श्री अशोक वाजपेयी आगे लिखते है "अकविता के कवियो का मुहावरा उग्र है पर उसमे नाटकीयता नही है—याने वह नाटकीयता जो भाषा और अनुभव दोनो ही स्तरो पर जटिल ब्योरो से कविदृष्टि से जूझने के बाद उत्पन्न तनावो से आती है। यह देखकर थोडा अचरज हो सकता है कि जगदीश चतुर्वेदी और गगा प्रसाद विमल जैसे अकवियो की बड बोली आक्रामक कविताएँ दरअसल तनावहीन रचनाएँ है। इस तनावहीनता का कारण यह है कि इन कवियो का ससार, आधुनिक और शहरी दीखने के बावजूद, छोटा, सकरा, सपाट और सरलीकृत है। नई कविता मे मानव-सम्बन्धो की विविध जटिलता को पहचान कर उनके ठोस अन्वेषण की एक मूल्यवान परपरा शुरु हुई थी। उदाहरण के लिए 'विजप' के कवियो और कैलाश वाजपेयी के काव्य-ससार मे एक तो मानव-सम्बन्धो की विविध तसवीरें नही हैं, और दूसरे जो थोडे-बहुत सम्बध झलकते भी है वे सामान्यीकृत और निर्विशिष्ट है। हमारा ससार तेजी से अमानवीय बनता जाता ससार है, खासकर महानगरो वाला। लेकिन इस लिये उसे सम्बंधहीन या उनकी सभावनाओ से शून्य ससार मान लेना एक बेहद आसान भोलापन है: वह ससार के अमानवीयकरण के विरुद्ध मानवीय को प्रतिष्ठित करने का जोखम लेना नही, बल्कि उसका शिकार हो जाना है। यह सोच कर दहशत ही होती है कि ये कविताएँ अमानवीयकरण के विरुद्ध चीख नही, उसका उत्सव मनाती किशोर उत्साह की गीतकल्पी रचनाएँ है।......अकवियो की ज्यादातर कविताओ को किसी ठोस, मानवीय स्थिति से जोडना मुश्किल है, क्योकि प्राय वे उद्धरण-योग्य चौंकाने वाले वक्तव्य देने के लिये उतावले हैं और उनकी कवि-दृष्टि सामान्यीकरणो में उलझकर आत्मतृप्त हो जाती है।" (फिलहाल, पृ० ६४-६५)

यहा श्री अशोक वाजपेयी के कथन को कुछ विस्तारपूर्वक इसीलिए उद्धृत किया गया है कि वस्तुत जिस दुर्बलता को उन्होने अकविता मे अनुभव किया है, वह कमोबेश प्राय समस्त नई कविता की दुर्बलता है। जिस सामान्यीकरण को उन्होने अकविता का दोष माना है, वह कही-कही गुण भी बन गई है। श्री जगदीश चतुर्वेदी की निम्न पक्तिया आधुनिक सास्कृतिक पतन पर सुन्दर व्यग्य की द्योतक है—भले ही उनमे जीवन के सरलीकरण की प्रवृत्ति हो—

उगल रही है सस्कृति ढेर सारे पिस्सू और गुबरीले और ऊदबिलाव
नगे ओठो पर कोढ के घाव लिए मानवता चीख रही है लगातार
नीली बडी देह और सूजे हुए वक्ष लिए स्त्रियाँ गर्भाधान से डरती है

अकविता मे अनुभूति की जिस कमी का अनुभव किया गयाहै, वह बहुत-सी नयी कविता मे भी पाई जाती है। अकविता के सम्बध मे प्रकट किये गए ये विचार अज्ञेय, मुक्तिबोध, गिरजाकुमार माथुर, शमशेर आदि कई नये कवियो की बहुत-सी 'नयी कविता' के बारे मे भी उतने ही सत्य है "नामो, बिम्बो का घटाटोप इन कविताओ मे भले हो, ठोस, सगत, अनिवार्य ब्यौरो का अभाव है। जहा किसी तरह के निजीपन का आभास है वहा भी आत्म-प्रदर्शन ने उसकी गरमाई नष्ट कर दी है और कविता मे शक्तिहीन सपाटपन आ गया है। कविता अनुभव की रचना नही, सूचना रह जाती है। कविताएँ ससार की हिंसा को नही, कवि की शक्तिहीनता को एक्सपोज करती है। ज्यादातर अकवि दूसरो को चौकाने का जतन तो करते है, अपनी शगफ्त के घेरे नही तोड पाते। असख्य भाववाचक सज्ञाओ का बार-बार असहाय अवलम्बन कविताओ मे ठोसपन की कमी ही नही, अनुभूति की अनुपस्थिति भी उजागर करता है।"

इसी प्रकार अकविता के सम्बध मे दिये गए निम्न वक्तव्य अधिकाश नयी कविता पर भी लागू होते हैं।

१ अकवियो की सवेदना हिन्दी की इस जातीय अतर्निहित प्रतीक-परपरा का कोई इस्तेमाल नही करती, बल्कि उनका बडबोलापन कुछ स्वाभाविक और समृद्धिकर अनुगूँजो को दबा देता है।

२. ढेरो पक्तिया ऐसी हैं जिनकी कोई सगति समझ मे नही आती, भले ही कवि के मन मे उनकी कोई प्रासगिकता स्पष्ट रही हो।

३ कविता भाषा और बुनियादी तौर पर 'लिरिकल' कल्पनाशीलता की अगर कमलेश के एक शब्द का प्रयोग करें, फिजूलखर्ची बनकर रह जाती है।

वस्तुत अकविता का नारा आत्मविज्ञापन का एक ढग था—एक नया फैशन था, जिसका उद्देश्य 'हिन्दी वालो' का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करना था, चौकाना था, फिर चाहे कोई एक बार निगाह डालकर दृष्टि फेर ले। इन कवियो के लम्बे-लम्बे दावे, अपनी विशिष्टता जताने के थोथे प्रयास निरर्थक ही कहे जा सकते हैं।

न तो इनमे परस्पर कोई विषयगत या शैलीगत स्पष्ट समानता ही लक्षित होती है जिस से अकविता की कोई सामान्य प्रवृत्तियाँ मानी जा सके, न 'नयी कविता' से इनमे कोई विलक्षणता ही प्रतीत होती है कि जिसके आधार पर इनका 'नयी कविता' से विशेष प्रवृत्ति-भेद माना जाय। अत अकविता के अन्तर्गत गिनाये जाने वाले जगदीश चतुर्वेदी, सौमित्र मोहन, गगाप्रसाद विमल, श्याम परमार, कैलाश वाजपेयी आदि कवि या अकवि वस्तुत नये कवि ही है और उनकी रचनाएँ 'नयी कविता' की ही दुर्बलता और सबलता की द्योतक होने के कारण 'नयी कविता' मे ही गिनी जानी चाहिये। 'अकविता' नाम भी बडा अस्वाभाविक एव भ्रातिपूर्ण है। इसे चालू रखने की भी कोई तुक नही।

१२

मुक्त छन्द-शैली और नयी कविता

नयी कविता छन्द-बध की कविता नही रही है। मनमाने ढग पर पक्तिया घसीट दी जाती है। उसका रूप-स्वरूप अतिशय गद्यवत् हो गया है। वर्तमान युग गद्य का युग है, सदेह नही और इस दृष्टि से नयी कविता का गद्यवत् हो जाना बहुत अस्वाभाविक भी नही है, पर कविता को सर्वथा छन्दहीन बना डालना समझ-दारी की बात नही है।

छद-बध के प्रति विद्रोह का स्वर सर्वप्रथम निराला ने बुलद किया था, पर निराला का उद्देश्य भी कविता को सर्वथा छन्दहीन बना देना नही था। उनका मुक्त छन्द भी एक छन्द था—भले ही वह परपरागत शास्त्रोक्त छन्द न हो। 'नयी कविता' ने मुक्त छन्द-शैली निराला से ही हासिल की है। इस सदर्भ मे निराला के मुक्त छन्द और कविता मे छन्द की आवश्यकता पर विचार करना आव-श्यक है।

कविता और छन्द का सम्बन्ध अटूट है। प्राचीन काल से आधुनिक युग मे २०वी शती के प्रथम दशक तक कवितामे छन्दो की अनिवार्यता का सिद्धात मान्य रहा है। वैदिक साहित्य मे जो शास्त्रमुक्त छन्दो का भी कही-कही प्रयोग होता था, वह भी होते छन्द ही थे, जिनमे स्वर-लय का एक व्यवस्थित क्रम सगीतात्मकता उत्पन्न करता था। आधुनिक युग मे निराला ने सर्वप्रथम स्वछन्द छन्द की बात सभवत अग्रेजी या बगला के प्रभाव से हिन्दी मे चलाई। यद्यपि श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी हिन्दी मे छन्द-प्रयोग की नवीनता पर बल दिया था—उन्होने परंपरागत मात्रिक छन्दो के साथ-साथ सस्कृत के वर्ण-वृत्तो को अपनाने की ही सलाह नही दी, अपितु अतुकान्त, पक्ति-प्रवाह (Run-on-line) आदि नवीन प्रयोगो पर भी बल दिया, पर आचार्य द्विवेदी का दृष्टिकोण भी परपरा पर ही आधृत था।

निराला ने सर्वप्रथम कविता की मुक्ति की आवाज बुलंद की। उन्होंने कविता मे शास्त्र-बद्ध छन्द का महत्त्व गौण माना और शास्त्रबद्ध छन्दो के बधन को कविता के स्वतत्र निर्माण मे बाधक बताया। निराला ने वैदिक सस्कृत, अंग्रेजी और बगला मे प्रयुक्त मुक्त छन्द के प्रयोग पर बल दिया। वस्तुत निराला ने कविता में छन्द का सर्वथा निषेध नही किया था, केवल शास्त्रबद्ध छन्दो की अनिवा-र्यता का विरोध किया था। निराला ने बधन को अस्वीकारा था, छन्द या मुक्त छन्द अर्थात् स्वत निर्मित छन्द स्व-छन्द (स्वच्छन्द) छन्द को नही। निराला का तात्पर्य यही था कि कवि की अनुभूति स्वत: जिस प्रवाहात्मक स्वत व्यवस्थित रूप मे प्रकट हो जाती है, वह मुक्त छन्द बन जाता है। निराला का कथन है .

"मनुष्यो की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है। मनुष्यो की मुक्ति कर्मों के बधन से छुटकारा पाना है, और कविता की मुक्ति छन्दो के शासन से अलग हो जाना।......मुक्त काव्य (मुक्त छन्द-काव्य) कभी साहित्य के लिए अनर्थकारी नही होता, किन्तु उससे साहित्य मे एक प्रकार की स्वाधीन चेतना फैलती है, जो साहित्य के कल्याण की ही मूल होती है।

"स्वच्छन्द छन्द मे 'तार' और 'गार' के अनुप्रासो की कृत्रिमता नही रहती— वहा कृत्रिम तो कुछ है ही नही। यदि कारीगरी की गई, मात्राएँ गिनी गई, लडियो के बराबर रखने पर ध्यान रखा गया तो इतनी बाह्य विभूतियो के गर्व मे स्वच्छन्दता का सरल सौन्दर्य, सहज प्रकाशन, निश्चय है कि नष्ट हो जाता है। पत जी ने जो लिखा है कि स्वच्छन्द छन्द ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक सगीत पर चल सकता है, वह एक बहुत बडा भ्रम है। स्वच्छन्द छन्द मे आर्ट आफ म्यूजिक(Art of music)नही मिल सकता, वहाँ है आर्ट आफ रीडिंग (Art of reading), वह स्वर-प्रधान नही, व्यजन-प्रधान है। मुक्त काव्य मे बाह्य समता दृष्टिगोचर नही हो सकती, बाहर केवल पाठ से उसके प्रवाह मे जो सुख मिलता है, उच्चारण से मुक्ति की जो अबाध धारा प्राणो को सुख-प्रवाह-सिक्त निर्मल किया करती है, वही उसका प्रमाण है।" (पत और पल्लव)।

निराला ने मुक्तछन्द की उपयोगिता नाट्य रचनाओ मे मानी थी, कविता मे इतनी नही। उन्होने कहा है, "मुक्त छन्द तो वह है, जो छन्द की भूमि मे रहकर भी मुक्त है।...उसमे कोई नियम नही। केवल प्रवाह कवित्त छन्द का-सा जान पडता है।...मुक्त छन्द का समर्थक उसका प्रवाह ही है। वही उसे छन्द सिद्ध करता है और उसका नियम-राहित्य उसकी मुक्ति।...

"हिन्दी मे मुक्त काव्य कवित्त छन्द की बुनियाद पर सफल हो सकता है।..... इस अपने छन्द को मै अनेक साहित्यिक गोष्ठियो मे पढ चुका हू,.. इस छन्द मे Art of reading का आनन्द मिलता है और इसीलिए इसकी उपयोगिता रगमच पर सिद्ध होती है। कही-कही मिल्टन ने और शेक्सपियर ने सर्वत्र अपने अतुकात काव्य का उपयोग नाटको मे ही किया है। बगला मे माइकेल मधुसूदन द्वारा अतुकात कविता की सृष्टि हो जाने पर नाट्याचार्य गिरीशचन्द ने अपने स्वच्छन्द छन्द का नाटको मे ही प्रयोग किया है। स्वच्छन्द छन्द नाटक-पात्रो की भाषा के लिए ही है, यो उसमे चाहे जो कुछ लिखा जाय।"

निराला के इन विचारों से जो तथ्य प्रकट हुए हैं, वे ये है.

(१) निराला ने मुक्त छन्द को कविता की (या कवि की) मुक्ति बताया जो किसी हद तक सत्य है।

(२) निराला के अनुसार उनका मुक्त छन्द बधन-मुक्त होता हुआ भी छन्द ही है। उसका प्रवाह ही छन्द है।

(३) इस छन्द का सौन्दर्य संगीत मे नही, पढने मे है।

(४) निराला ने छन्द के सगीतात्मक सौन्दर्य और आनन्द जैसी ही आनन्द-प्राप्ति मुक्त छन्द के पढने मे मानी है। यद्यपि निराला का ऐसा कथन उनका कुछ अतिवाद है, फिर भी इससे यह तो स्पष्ट है कि निराला को शास्त्रबद्ध छन्द के संगीत-सौन्दर्य का महत्त्व स्वीकार्य था।

(५) उपर्युक्त उद्धरण की अतिम पक्तियो मे निराला के मुह से अनायास ही एक ऐसे सत्य का उद्‌घाटन हो गया है, जो मुक्त छन्द का असली महत्त्व और स्थान स्पष्ट बता देता है। निराला ने मुक्त छन्द को पाठ्य माना और इसकी उपयोगिता मच पर ही स्वीकार की है। उनके अनुसार वह "नाटक-पात्रो की भाषा के लिए है, यो उसमे चाहे जो कुछ (कविता भी) लिखा जाय।" स्पष्ट है कि निराला इस गद्यवत् स्वच्छन्द छन्द को कविता की अपेक्षा नाटक के वार्तालाप की वस्तु मानते थे। इसी दृष्टि से उन्होने कहा कि "सौन्दर्य गायन मे नही, वार्तालाप मे है।"

अत प्रमाणित हुआ कि (१) छन्द कविता का अनिवार्य तत्त्व है जिसके बिना उसका पूर्ण सौन्दर्य सिद्ध नही होता। वह बधन अवश्य है, पर ऐसा श्रमसाध्य बाध है जो शक्ति उपजाता है।

(२) छन्दरहित पाठ्य कविता कविता नही गद्यकाव्य ही हो सकती है, वह भी यदि उसमे भाव-प्रवणता हो।

(३) मुक्त या स्वच्छन्द छन्द भी एक तरह का अव्यवस्थित अनिश्चित छन्द हो सकता है, यदि उसमे प्रवाहात्मकता के कारण पाठ्य सौन्दर्य हो। वह सगीतात्मक नही। उसकी उपयोगिता कविता की अपेक्षा नाटको मे पात्रो के वार्तालाप-रूप मे प्रयुक्त करने मे अधिक है।

(४) छन्दो से कविता मे जो सगीतात्मक प्रभावशक्ति आ जाती है, वह अत्यन्त मनोहारी है और अलौकिक आनन्द प्रदान करती है। सगीत अपने मे एक महत्त्वपूर्ण कला है। कविता को उसकी इस सहयोगिनी कला से वचित करना कविता का अहित करना ही है। हम रोज ही कवि-सम्मेलनो मे देखते है कि जो कवि अपनी रचना गाकर सुनाता है, उसका प्रभाव अधिक पडता है। इसके विपरीत, छन्द और गेयता-रहित कविता को पढकर सुनाने वाला कवि मच पर कम जम पाता है।

हिन्दी मे निराला के मुक्त छन्द की देखा-देखी मुक्त, केंचुआ, रबड, कगारू, स्वच्छन्द पक्तियो की कविताएँ रचने का ही फैशन चल पडा। पर गिरिजाकुमार माथुर, धर्मवीर भारती, अज्ञेय आदि दो-चार नये कवि ही निराला के बाद मुक्त छन्द-शैली को साध पाये हैं। अधिकतर नये कवियो ने तो सब नियम-बध ताक पर रख दिये है। आजकल के घर-घर विद्यमान कवि तो मनमाना पक्तिप्रयोग कर रहे हैं। न उन्हे सगीत से कुछ मतलब है, न लय-ताल-गति से। कविता करना कितना

आसान हो गया है। मनमाने ढग से पक्तियो को छोटा-बडा रख दिया जाता है। लय की घोर उपेक्षा भला कविता को कब तक जीवित रखेगी। आज की नि छन्द, नीरस गद्यवत् कविता को देखकर बडा दु ख होता है।

निराला ने मुक्त छन्द की उपयोगिता का जो जयघोष नाटक की सवाद-शैली के रूप मे किया था, उसकी सत्यता का एक बडा प्रमाण यह है कि मुक्त छन्द का जितना सफल प्रयोग धर्मवीर भारती के 'अ धायुग' और 'कनुप्रिया' मे हुआ है, उतना सफल प्रयोग मुक्तक नयी कविता मे नही हो पाया। स्वय 'धर्मवीर भारती की इतर कविताओ मे मुक्त छन्द-शैली का वह वैभव नही है जो 'कनुप्रिया' मे दिखाई देता है। इसका बडा कारण यही है कि इन रचनाओ की सम्बोध या वार्तालाप-शैली मे स्वच्छन्द छन्द-शैली अच्छी फबती है।

'कनुप्रिया' की मुक्त छन्द शैली गद्यवत् ही है। गद्य-गीति या गद्यकाव्य-रूप 'कनुप्रिया' सगीतात्मक रचना तो नही कही जा सकती, पर उसका अकु चित प्रवाह उसे स्वर-लय-गति प्रदान किये हुए है। 'कनुप्रिया' की स्वच्छन्द छन्द शैली का पाठ्य या नाटकीय महत्त्व निर्विवाद है। वस्तुत. इसमे भारती ने सम्बोध शैली अर्थात् एकपात्र (राधा) द्वारा अपने प्रिय कनु को सम्बोधन करने की नाटकीय वार्तालाप शैली ही अपनायी है। इस नाटकीय वार्तालाप-रूप मुक्त छन्द शैली की उपयोगिता असदिग्ध है।

मुक्त छन्द शैली के प्रयोग मे भारती ने अद्‌भुत कुशलता का परिचय दिया है। बहुत ही कम आधुनिक रचनाओ मे ऐसी सशक्त कलात्मक मुक्त छन्द शैली दिखाई देती है। निराला की 'जुही की कली'-जैसी मुक्त छन्द-रचनाओ से कम प्रवाहात्मकता और कलात्मकता 'कनुप्रिया' की गद्यगीतियो मे नही है। भारती ने अपनी मुक्त छन्द शैली मे अकु ठित प्रवाह उत्पन्न करने के लिए सानुप्रासिकता, सयोजक 'और' आदि की आवृत्ति, कोमल मधुर पदावली का प्रयोग किया है। वीप्सा, अनुप्रास आदि के पक्ति-पक्तिगत प्रयोग से समस्त पदावली कोमलकात हो गई है और भाषा मे अविरल प्रवाह आ गया है। वर्णो, शब्दो और वाक्यो की आवृत्ति से भारती ने भाषा-शैली मे एक मोहकता और भावानुरूप कलात्मक प्रवाह उत्पन्न कर दिया है। मुक्त छन्द शैली मे प्राय: तुकातता के स्थान पर मध्यतुक या अन्त: तक की प्रवृत्ति प्रवाह तथा स्वर-लय-गति उत्पन्न करने मे सहायक सिद्ध होती है। एक उदाहरण देखिए—

यह जो अकस्मात्
आज मेरे जिस्म के सितार के
एक-एक तार में तुम झकार उठे हो— —कनुप्रिया

इन पक्तियो मे शब्द और वर्ण-मैत्री और आवृत्ति स्वत: ही प्रवाह और माधुर्य रस उत्पन्न कर रही है। 'तार' की मध्य तुक 'झंकार' की अंत तुक से

मिलकर एक मधुर झकार प्रकट कर रही है। कही-कही अनायास ही अन्त्यानुप्रास या तुकान्तता भी आ जाती है, पर नये कवि की मुक्त छन्द शैली मे यह तुकातता परपरागत बध-रूप मे नही, स्वच्छन्द रूप मे ही प्रकट होती है

जो जडो मे रस बनकर खिचता है
कोपलो मे फूटता है,
पत्तो मे हरियाता है
फूलो मे गदरा आता है—

नयी कविता की मुक्त छन्द शैली मे कोष्ठको, विभिन्न विराम-चिह्नो, छोटी-बडी पक्तियो, शब्दहीन बिन्दु-पक्तियो आदि का बेमतलब प्रयोग भी हुआ है, होता है, पर कुशल कवियो ने ऐसे प्रयोगो की सार्थकता भी प्रमाणित की है। अज्ञेय, धर्मवीर भारती आदि मे ऐसे सब प्रयोग प्रवाह के आधार पर किये गए प्रतीत होते है जो अत्यन्त सार्थक एव कलात्मक है। एक उदाहरण देखिए—

नया है
केवल मेरा
सूनी माग आना
सूनी मांग, शिथिल चरण, असमर्पिता
ज्यो-का-त्यो लौट आना —**कनुप्रिया**

इस उद्धरण मे प्रत्येक पक्ति असमान है, पर यो ही बेहिसाब-बेमतलब नही रखी गई है, भाषा के प्रवाह और भावार्थ की दृष्टि से ही उनकी नियोजना हुई है। अत मे शब्दरहित बिदुओ से स्पष्ट सकेत मिलता है कि अभी कहने को यहा बहुत-कुछ और है। जैसा कि कहा जा चुका है 'नयी कविता' की मुक्त छन्द शैली के सफल प्रयोक्ता के रूप मे श्री धर्मवीर भारती का महत्त्व सर्वोपरि है। भारती की मुक्तछन्द शैली की सफलता का बडा रहस्य 'कनुप्रिया' की सम्बोधात्मक तथा 'अ धायुग' की वार्तालाप-रूप नाटकीयता है। सम्बोधनो की उपयुक्तता के साथ भारती ने सम्बोधन और वार्तालाप के अनुसार शैली मे भावानुरूपता और उतार-चढाव का सर्वत्र ध्यान रखा है। यही कारण है कि उनकी इन रचनाओ विशेषत 'कनुप्रिया' मे भाषा का गद्यवत् रूप भी कविता-का-सा आनन्द प्रदान करता है। धर्मवीर भारती, अज्ञेय आदि नये कवियो ने नये शब्द-वाक्य-विधान तथा नई अनूठी कल्पनाओ और कलात्मक अभिव्यक्ति द्वारा मुक्त छन्द शैली को उत्कर्ष पर पहुचाया है, इसमे जरा भी सदेह नहीं।

ऐतिहासिक खोजपूर्ण पुस्तकें

आगरे का लालकिला हिन्दू भवन है	हसराज भाटिया	८ ५०
फ़तेहपुर सीकरी एक हिन्दू नगर	,, ,,	६ ००
ताजमहल हिन्दू राजभवन है	पुरुषोत्तम नागेश ओक	६ ००
भारत मे मुस्लिम सुलतान भाग १	,, ,,	१० ००
भारत मे मुस्लिम सुलतान भाग २	,, ,,	७ ५०
भारतीय इतिहास की भयकर भूलें	,, ,,	१०.००
कौन कहता है अकबर महान् था	,, ,,	१० ००
साम्प्रदायिकता	विराज	३ ००

आलोचना

बृहत् साहित्यिक निबन्ध	डा० यश गुलाटी	३० ००
हिन्दी के श्रेष्ठ काव्यो का मूल्यांकन	,, ,,	४० ००
रसाभास	डा० प्रशातकुमार	३५ ००
रसराज शृगार	डा० रामलाल वर्मा	३० ००
हिन्दी काव्य-शास्त्र मे शृगार रस विवेचन	डा० रामलाल वर्मा	२०.००
वीभत्स रस और हिन्दी-साहित्य	डा० कृष्णदेव झारी	२५ ००
रस सिद्धात तथा घृणा भाव का मनोवैज्ञानिक विवेचन	,, ,,	३० ००
न निबन्ध तेरह विमर्श	,, ,,	६ ५०
हिन्दी भाषा विज्ञान	डा० मनमोहन गौतम	१५ ००
निबन्ध-सुषमा	,, ,,	४ ००
हिन्दी का सस्मरण-साहित्य	राजरानी शर्मा	१२ ५०
महादेवी का सस्मरणात्मक गद्य	चरणसुखि शर्मा	१० ००
हिन्दी के प्रतिनिधि आलोचको की गद्य शैलियाँ	कमलेश्वर भट्ट	१० ००
कला की कसौटी पर	,, ,,	१०.००
भूषण का वीर काव्य	हरीश दीक्षित	१०.००
भारतीय भाषाओ की समान लिपि—अरा	ओमप्रकाश भाटिया	१०.००
सत कवि दादू और उनका पथ	डा० वासुदेव शर्मा	३०.००
हिन्दी-साहित्य का विकास	,, ,,	१० ००
नन्ददास जीवन और काव्य	डा० सावित्री अवस्थी	२५.००
सत पलटूदास और पलटूपथ	डा० राधाकृष्णसिंह	१५ ००
निबन्ध-प्रभाकर	डा० भोलानाथ तिवारी	१० ००
काव्य शास्त्र की रूप-रेखा	डा० रामदत्त भारद्वाज	१२.५०

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र	डा० रामरजपाल द्विवेदी	४.००
पाच आधुनिक काव्य	डा० रवेलचन्द आनन्द	१५ ००
हिन्दी के प्रतिनिधि कवि	गणेश शर्मा शास्त्री	४ ००
महादेवी व्यक्तित्व और कृतित्व	गोपीनाथ 'व्यथित'	२ ५०
साहित्य-समालोचन	सत्यप्रकाश मिलिन्द	२ ५०
आधुनिक काव्य और विश्लेषण	जनक आनन्द	७ ००
हिन्दी-साहित्य का सरल सरल इतिहास	तनसुखराम गुप्त	२ २५
प्रबन्ध-पराग	तनसुखराम गुप्त	२ ००
गद्याजलि	सतीश अग्रवाल	४ ००
हिन्दी-साहित्य की रूप-रेखा	डा० रामचन्द्र वर्मा	३ ००
छन्दोऽलकार-प्रदीप	डा० ससार वर्मा	६ ००

हिन्दू

हिन्दुत्व का अनुशीलन	तनसुखराम गुप्त	४ ००
हिन्दु धर्म का क खंग	,, ,,	४ ००

उपन्यास

माई एहडा पूत जण	सत्य शकुन	४ ००
क्राति की ज्योति	,, ,,	४ ००
शहीद	मामचन्द सैनी	५ ००
जल मे मीन प्यासी	विजयकुमार गुप्त	४.५०
उद्धार करेगे मातृ भू का	मदनमोहन शर्मा	५.००
यात्रिक	श्याम विमल	४.००
अस्वीकृति	,,	१२.५०
रहस्यमयी	श्रीराम शर्मा राम	५ ००
देव और दावन	,, ,,	३.५०

